आचार्य वट्टकेर प्रणीत

श्रमण आवश्यक निर्युक्ति

[मूलाचार का सप्तम षडावश्यकाधिकार]

(विस्तृत विवेचना, प्रस्तावना, आचार्य वसुनन्दिकृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक
प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

सह-सम्पादक
डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य वट्टकेर प्रणीत

श्रमण

आवश्यक–निर्युक्ति

[मूलाचार का सप्तम षडावश्यकाधिकार]

(विस्तृत विवेचना, प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद एवं आचार्य वसुनन्दिकृत संस्कृत टीका सहित)

सम्पादक

प्रो0 फूलचन्द्र जैन प्रेमी

आचार्य, जैनदर्शन विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सह-सम्पादक

डॉ0 अनेकान्त कुमार जैन

स0 आचार्य, जैनदर्शन विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली

प्रकाशक

जिन फाउण्डेशन

नई दिल्ली –74

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक
जिन फाउण्डेशन
ए 93/7ए, जैन मंदिर परिसर
नन्दा हास्पिटल के पीछे
छत्तरपुर एक्सेटेन्शन, नई दिल्ली– 110074

पुण्यार्जक –
श्री गिरिराज, सुनील कुमार, पद्मकुमार, सुनील कुमार जैन अग्रवाल
फर्म – जानकी वल्लभ अग्रवाल इण्डस्ट्रीज, जयपुर (राज0)

© सम्पादक

प्रथम संस्करण – 2009
ISBN : 978-81909686-8-7

मूल्य रू0 150 मात्र (आगामी प्रकाशन हेतु)

'Sramana Avasyaka Niryukti- by-Achary Vattakera
With Achary Vasunandi's Sanskrit Commentary

Editor - Prof. Phool Chand Jain Premi
Co-Editor - DR. Anekant Kumar Jain
Published by - Jina Foundation, New Delhi- 110074

मुद्रक– महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी–10

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

मंगलकलश

- परमपूज्य आचार्यश्री वर्धमानसागरजी महाराज

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में प्रतिपादित और गौतम गणधर द्वारा ग्रथित आचारांगादि रूप द्वादशांगवाणी के प्रथम अंग आचारांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'मूलाचार' ग्रन्थ है । इस शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वट्टकेर स्वामी हैं । इस ग्रन्थ में 'षडावश्यक अधिकार' नामक प्रकरण है, जिसमें मुनिजनों के छह आवश्यकों का 189 गाथाओं में प्रतिपादन किया है ।

आवश्यक निर्युक्ति द्वादशांग में वर्णित है, अतः मूलाचार ग्रन्थ का यह षडावश्यक अधिकार भी आवश्यक निर्युक्ति ही है । इसका कारण यह है कि मंगलाचरणरूप गाथा में पंचपरमेष्ठी की समूह वन्दना करने के पश्चात् ग्रन्थकार प्रस्तुत निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए निम्न गाथा सूत्र में लिखते हैं -

'आवासयणिज्जुत्ती' वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरिय परंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥2॥

इसकी संस्कृत टीका में सिद्धान्तचक्रवर्ती वसुनन्दी आचार्य ने भी 'आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये' कहकर मूलगाथा का ही समर्थन किया है ।

इसके अनन्तर पंचपरमेष्ठी नमस्कार निर्युक्ति के साथ अरहंतादि को नमस्कार करने के बाद लोक प्रसिद्ध गाथा जो कि मूलाचार ग्रन्थ षडावश्यकाधिकार की वट्टकेर स्वामि विरचित गाथा में पंचपरमेष्ठी नमस्कार को प्रथम मंगल बताकर सर्व पापनाशक कहा है । वह मंगल गाथा इस प्रकार है -

एसो पंच णमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥

पंचनमस्कार (पंचपरमेष्ठी) की निरुक्तिपूर्ण व्याख्या करके आवश्यक निर्युक्ति की निरुक्ति का कथन निम्न गाथा द्वारा स्वयं ग्रन्थकार आचार्य ने किया है । यथा -

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा ।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो वश में नहीं है वह अवश कहलाता है और अवश के कर्म को आवश्यक कहते हैं । युक्ति और उपाय एकार्थक हैं । अतः सम्पूर्ण उपाय निर्युक्ति कहलाता है- इस प्रकार यहाँ अर्थ जानना चाहिए ।

आवश्यक के छह भेदों का वर्णन इस अधिकार में आचार्यवट्टकेर ने किया है । विशेषता यह है कि छहों आवश्यकों के साथ निर्युक्ति शब्द जुड़ा हुआ है । जैसे सामायिक निर्युक्ति, चतुर्विंशति निर्युक्ति, वन्दना निर्युक्ति, प्रतिक्रमण निर्युक्ति, प्रत्याख्यान निर्युक्ति और कायोत्सर्ग निर्युक्ति । ग्रन्थकार आचार्य श्री वट्टकेरस्वामि ने उक्त आवश्यक निर्युक्तियों के विस्तृत विवेचन में नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप निक्षेप विधि का प्रयोग किया है । वे कहते हैं कि निक्षेप विधि से रहित व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनों को उत्पथ में ले जाता है। अतः यहाँ निक्षेपपूर्वक आवश्यकों का वर्णन किया है।

यहाँ शुभाशुभ नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र और काल में राग-द्वेषादि भावों के अभाव और समता भाव के सद्भाव को सामायिक कहा है । अशुभ परिणामों के त्याग एवं सर्व जीवों पर मैत्री भाव को भाव सामायिक जानना । इस प्रकार आचार्यदेव ने सामायिक निर्युक्ति का विस्तृत विवेचन किया है । आगे वे कहते हैं -

शुभाशुभ आकृतियों, मूर्तियों में, मनोल्हादकारी तदाकार व अतदाकार स्थापना में रागद्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है । शुभाशुभ द्रव्य, क्षेत्र, और काल में भी आर्त-रौद्रध्यान रूप राग-द्वेष नहीं करना - क्रमशः द्रव्य-क्षेत्र-काल सामायिक है ।

कषाय जय, इन्द्रियजय अर्थात् मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में रागद्वेष का अभाव, आर्त-रौद्र ध्यानरूप परिणामों का न होना- जिनशासन में भावसामायिक कही गई है । समताभाव ही यथार्थ सामायिक है । इसी प्रकार स्तव-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति का विवेचन भी नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप अनियोगद्वारों से किया गया है ।

इसी अधिकार के अन्तर्गत साधुओं के अवश्य करने योग्य 28 कृतिकर्म का वर्णन भी इस प्रकार है - तीनों समय सम्बन्धी सामायिक के चैत्य-पंचगुरुभक्ति दो-दो (6), दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण के 4-4 (8), चारों (पूर्वाण्ह-अपराण्ह-पूर्वरात्रिक-अपररात्रिक) स्वाध्यायों में 3-3 (4×3 = 12), रात्रियोग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिष्ठान एवं निष्ठापन के 1-1 (2) । इस प्रकार प्रसंगोपात्त विनय आदि का भी विवेचन पाया जाता है ।

आवश्यक चूलिका के रूप में षडावश्यकों का फल बतलाते हुए कहा है कि जो मुनि आवश्यकों से परिपूर्ण होते हैं, वे नियम से सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु (पूर्ण सावधानी के बाद भी) कुछ कमी रह जाती है वे नियम से स्वर्गादि में निवास करते हैं, उन्हें उसी भव से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है । आचार्यदेव ने अन्त में आवश्यक परिपालन की विधि का कथन किया है । वे कहते हैं कि "मन-वचन-काय रूप त्रिकरण से विशुद्ध हो, द्रव्य-क्षेत्र और आगम कथित काल में निराकुल चित्त होकर मौनपूर्वक नित्य ही इन आवश्यकों का पालन करना चाहिए"। पुनश्च आवश्यकों के पालन का फल बताते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि "मैंने संक्षेप में विधिवत् आवश्यक निर्युक्ति कही, जो नित्य ही इनका आचरण करता है, वह सर्वकर्म रहित विशुद्धात्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में प्रोफेसर एवं जैनदर्शन विभागाध्यक्ष डॉ0 फूल चन्द जैन प्रेमी ने **'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन'** विषय पर श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध शोध-प्रबन्ध लिखा है । इसके अतिरिक्त **मूलाचार भाषा वचनिका** नामक एक और महत्वपूर्ण बृहद् ग्रन्थ का सम्पादन कार्य किया, तभी से उनकी भावना "द्वादशांग जिनवाणी के प्रथम आचारांग के प्रतिनिधिरूप ग्रन्थ **मूलाचार** में प्रतिपादित षडावश्यक अधिकार में निरूपित षडावश्यकों के निर्युक्ति सहित प्रतिपादन को 'आवश्यक निर्युक्ति' रूप में पृथक् से आगम ग्रन्थ प्रकाशित कर दिया जाय" यही विचार या भावना इसके प्रकाशन का आधार बना । इसकी विस्तृत प्रस्तावना भी स्वयं उन्होंने लिखी ही है।

सुधी विद्वान् डॉ0 फूलचन्दजी प्रेमी जिनागम-जिनवाणी के प्रति समर्पित भाव से इसी प्रकार कार्य करते रहें । प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन सौजन्य-पुण्यार्जक परिवार एवं सम्पादक डॉ0 प्रेमी जी, इनके सुपुत्र युवा विद्वान् डॉ0 अनेकान्त कुमार जैन को हमारे मंगल आशीर्वाद ।

●●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

प्रस्तुत "श्रमण आवश्यक–निर्युक्ति" को जिन फाउण्डेशन ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। यह एक महत्वपूर्ण जैन आगम शास्त्र है, जो शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध है। यह आचार्य वट्टकेर प्रणीत दिगम्बर जैन मुनियों के आचार–विचार विषयक एक अति प्रसिद्ध, प्रामाणिक और प्राचीन आगम शास्त्र "मूलाचार" का ही "षडावश्यक" नामक सप्तम अधिकार (अध्याय) है, जिसे स्वतंत्र आगम शास्त्र के रूप में सोद्देश्य प्रकाशित किया जा रहा है। मूलाचार का रचनाकाल दूसरी शती के आसपास का है। इतना प्राचीन होने पर भी तीर्थंकर महावीर की परम्परा के श्रमणों और उनके संघों के आचार का जीवन्त स्वरूप आज भी इसी मूलाचार के आधार पर आधृत होने से यह आगम शास्त्र आज भी जीवन्त है। वस्तुतः यह शास्त्र इस परम्परा के जैन मुनियों का "संविधान" है।

प्राचीन जैन मूल–आगम–साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि विविध रूपों में व्याख्या साहित्य लिखा गया। "निर्युक्ति" भी इन्हीं व्याख्याओं की एक बड़ी ही लोकप्रिय विधा है। श्वेताम्बर परम्परा के अर्धमागधी प्राकृत आगम साहित्य में "निर्युक्ति" साहित्य आज भी समृद्ध रूप में विद्यमान है, किन्तु दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी प्राकृत साहित्य में अन्य आगमों और उनके व्याख्या साहित्य की तरह; व्याख्याओं की यह निर्युक्ति विधा भी दुर्लभप्रायः है, मात्र कुछ बड़े शौरसेनी आगमशास्त्रों के अन्तर्गत ही निर्युक्ति, चूर्णि आदि व्याख्याओं के किंचित् रूप ही उपलब्ध होते हैं। अतः मूलाचार में समाहित इस आवश्यक निर्युक्ति को शौरसेनी के स्वतंत्र निर्युक्ति साहित्य को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से इसे इस रूप में प्रकट किया गया है। यद्यपि इस सबका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पादकीय भूमिका में किया गया है, अतः इस विषय में अधिक जानकारी हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पादकीय भूमिका पढ़ना आवश्यक है।

इसके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में यह आवश्यक निर्युक्ति भी विशाल स्वतंत्र आगम शास्त्र के रूप में विद्यमान रही है, जिसका संक्षेप करके आचार्य वट्टकेर ने उसे अपने मूलाचार में सम्मिलित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किया। संक्षिप्त होते हुए भी सभी आवश्यकों का सम्पूर्ण विवेचन बड़ी खूबी के साथ इसमें "गागर में सागर" की तरह किया गया है। ये छह आवश्यक मुनियों के अट्ठाईस मूलगणों में ही सम्मिलित हैं। आचार्य वट्टकेर ने इसकी दूसरी गाथा में कहा भी है कि "मैं पूर्व आचार्य-परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप में यथाक्रम से आवश्यक निर्युक्ति कहता हूँ।" अतः शौरसेनी प्राकृत साहित्य में निर्युक्ति विधा की कमी की पूर्ति के उद्देश्य से इस ग्रन्थ का स्वतंत्र रूप में प्रकाशन आवश्यक कार्य समझकर किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम श्रमण आवश्यक-निर्युक्ति इसलिए रखा गया है, क्योंकि श्रावकों के भी अलग से छह आवश्यक मान्य हैं।

यद्यपि यह सभी जानते हैं कि प्राचीनकाल में सभी आगम शास्त्र विद्यमान रहे हैं, किन्तु दिगम्बर जैन मान्यतानुसार स्मृति-क्षीणता, कालदोष आदि कारणों से जब वे क्रमशः लुप्त होने लगे तो चिन्ता होना स्वाभाविक था। अतः तत्कालीन समर्थ आचार्यों ने अवशिष्ट ज्ञाननिधि के आधार पर कसायपाहुड (आ0 गुणधर प्रणीत), षट्खण्डागम, (आ0 पुष्पदन्त–भूतबलि प्रणीत), भगवती आराधना (आ0 शिवार्य प्रणीत), मूलाचार (आ0 वट्टकेर प्रणीत) तथा आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी प्रणीत विशाल पाहुड साहित्य के साथ ही अनेक महान् आचार्यों द्वारा प्रणीत जो विशाल आगम साहित्य प्रस्तुत किया वह विद्यमान है। इस विशाल साहित्य पर भी इनके परवर्ती आचार्यों ने प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं में विशाल व्याख्या साहित्य आदि की सर्जना करके उस अक्षय सम्यग्ज्ञान निधि को सुरक्षित रखने में महनीय योगदान किया है। अतः प्रस्तुत निर्युक्ति के प्रकाशन से शौरसेनी प्राकृत आगम साहित्य के इतिहास की अभिवृद्धि में अब इस निर्युक्ति के स्वतंत्र योगदान का मूल्यांकन भी होने लगेगा। यह प्रसन्नता की बात यह है कि इस ग्रन्थ की महत्ता समझते हुए सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रकाशन संस्थान के यशस्वी निदेशक डॉ0 हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी जी ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ को अपने यहाँ से प्रकाशित करने में अपनी गहरी रूचि व्यक्त की है।

प्रस्तुत निर्युक्ति के सन्दर्भ में एक स्पष्टीकरण अति आवश्यक है, ताकि कोई भ्रम न रहे। वह यह कि यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर जैन परम्परा में अर्धमागधी प्राकृत के प्रमुख आगमों पर आ0 भद्रबाहु द्वारा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिखित अनेक निर्युक्तियों में "आवश्यक निर्युक्ति" भी बृहदाकार रूप में प्रकाशित है। साथ ही मूलाचार के अन्तर्गत प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति से उसकी अनेक गाथायें समान और कुछ कम–वेशी रूप में समान मिलती–जुलती हैं। इस अद्‌भुत समानता के आधार पर उस परम्परा के कुछ सम्मानित विद्वान् इसे अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति से संगृहीत कह देते हैं। तथ्य यह है कि तीर्थंकर महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, तब परम्परा-भेद के पूर्व का समागत श्रुतागम दोनों परम्पराओं के आचार्यों को कंठस्थ था। इसलिए उन्होंने सर्वमान्य प्रचलित गाथाओं आदि का अपने–अपने अभीष्ट विषय–विवेचन के प्रसंग में उनका यथास्थान उपयोग किया। अतः इस सन्दर्भ में आदान–प्रदान या संग्रह की बात करना आग्रह मात्र ही कहा जायेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सिद्धि हेतु हमें वर्तमान के अनेक पूज्यनीय आचार्यों, साधुओं और विद्वानों का मंगल–आशीष और प्रोत्साहन मिला है, और इन्हीं सबके आशीष की फलश्रुति प्रस्तुत ग्रन्थ है। इसके प्रकाशन में हमें परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परा के वर्तमान पट्टधर आचार्यरत्न पूज्यश्री 108 वर्धमानसागर जी महाराज (ससंघ) का इस ग्रंथ के विषय में आरम्भ में मंगल–कलश शीर्षक से विद्वत्तापूर्ण चिन्तन के साथ ही सभी तरह का जो सहज सम्बल और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, उन कृतज्ञ भावों को कितने ही श्रेष्ठ शब्दों में व्यक्त करें, कम ही रहेगा। हम इस हेतु उन्हें ससंघ सविनय नमोस्तु निवेदित करते हैं। इस ग्रन्थ के अच्छे से अच्छा सम्पादन, अनुवाद, प्रस्तावना एवं परिशिष्ट में छह आवश्यकों का तुलनात्मक विवेचन मेरे पूज्य पिताश्री प्रो0 फूलचन्द्र जैन प्रेमी ने जो श्रम किया है वह मूल्यांकन हेतु आप सभी के समक्ष है। मुझे भी इन सब कार्यों में सहयोग करके जिनवाणी की सेवा का जो सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपने जीवन के इन क्षणों को धन्य मानता हूँ। इसमें किसी भी विज्ञ पाठक को कोई कमी या त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो कृपया सूचित करेंगे, ताकि आगे उसका परिमार्जन किया जा सके। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में निमित्त बने पुण्यार्जक परिवार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है।

श्रुतपंचमी–2009

डॉ0 अनेकान्त कुमार जैन
मानद सचिव,
जिन फाउन्डेशन, नई दिल्ली–74

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रस्तावना की विषयसूची

विषय सूची	पृष्ठ
१. प्रस्तुत आवश्यकनिर्युक्ति क्यों ?	१
१. णमोकार महामंत्र के माहात्म्य का उल्लेख	२
२. आवश्यक और निर्युक्ति का निरुक्त	२
३. आवश्यक के छह भेद और उनकी कथन आदि की पद्धति	२
४. प्रकाशन की मनोभावना	४
२. जैन आगम और उनकी परम्परा	७
१. वेदों की तरह आगमों का संरक्षण आवश्यक	८
२. आगमों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण आवश्यक	९
३. आगमों का व्याख्या साहित्य	१०
१. निर्युक्ति और इसका प्रयोजन	११-१२
२. निर्युक्ति की निक्षेप-कथन शैली	१३
३. भाष्य	१५
४. चूर्णि और चूर्णिसाहित्य का तुलनात्मक विवेचन	१६
५. संस्कृत टीका साहित्य	१८
६. लोकभाषाओं का व्याख्या साहित्य	१९
४. व्याख्या साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निर्युक्तिकार आ० भद्रबाहु	२०
१. आ० भद्रबाहु प्रणीत आवश्यक निर्युक्ति	२१
५. मूलाचार, इसकी आवश्यकनिर्युक्ति और कर्ता आ० वट्टकेर	२२
१. मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्दकृत नहीं	२४
२. संग्रहग्रन्थ भी नहीं है मूलाचार	२४
३. मूलाचार : मूलसंघ का एक प्रतिनिधि आगम-शास्त्र	२५
४. आचार्य वट्टकेर का समय और उनका सारसमय ग्रन्थ	२६
५. आचार्य वट्टकेर का व्यक्तित्व	२७
६. मूलाचार के बारह अधिकार	२८
७. मूलाचार पर उपलब्ध-अनुपलब्ध व्याख्या साहित्य	२९
१. आचार्य वसुनन्दि एवं उनकी आचारवृत्ति	२९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. भट्टारक सकलकीर्ति कृत मूलाचारप्रदीप ३१
३. आचार्य मेघचन्द्रकृत मूलाचार-सद्वृत्ति ३१
४. मुनिजन चिन्तामणि ३२
५. मेधावी कवि कृत मूलाचार टीका ३२
६. मूलाचार-भाषावचनिका (पं. नन्दलाल जी कवि कृत) ३२
७. मूलाचार भाषा-वचनिका का वैशिष्ट्य ३३
८. मूलाचार हिन्दी टीका ३५
९. अन्यान्य व्याख्या ग्रन्थ ३६

८. मूलाचारगत आ० नि० और भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति की तुलना ३६

१. मूलाचार और दशवैकालिक की गाथाओं की तुलना ३९
२. मूलाचार की अन्यत्र समागत समान गाथाओं की परस्पर तुलना ४०
३. तुलनात्मक अध्ययन का सार ४१
४. निष्कर्ष ४२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. आवश्यक निर्युक्तिः विषयसूची

	विषय	गाथा संख्या	पृष्ठ संख्या
१.	मंगलाचरण : पंच-परमेष्ठी	१	१
२.	आवश्यक निर्युक्ति-कथन की प्रतिज्ञा	२	२
३.	अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप एवं उन्हें नमन	३	२
४.	अरहंत शब्द की निरुक्ति	४	३
५.	अरहंत परमेष्ठी के नमन का प्रयोजन एवं फल	५	३
६.	सिद्ध-परमेष्ठी का स्वरूप एवं निरुक्ति	६	४
७.	सिद्ध-परमेष्ठी बनने का उपाय	७	४
८.	आचार्य परमेष्ठी की निरुक्ति	८	५
९.	आचार्य का स्वरूप	९	६
१०.	उपाध्याय परमेष्ठी की निरुक्ति	१०	७
११.	साधु परमेष्ठी की निर्युक्ति	११	८
१२.	पंचपरमेष्ठी नमस्कार के कथन का उपसंहार	१२	८-९
१३.	पंचनमस्कार-मंत्र की महिमा एवं फल	१३	९
१४.	पंचनमस्कार-मंत्र सर्वमंगलों में प्रथम मंगल है	१३	९
१५.	आवश्यक निर्युक्ति की निरुक्ति	१४	१०
१६.	आवश्यक के सामायिक आदि छह भेद	१५	११
१७.	**१—सामायिक आवश्यक निर्युक्ति का कथन**	१६	१२
१८.	निक्षेप की दृष्टि से सामायिक के छह भेद	१७	१३-१५
१९.	भाव-सामायिक की निरुक्ति एवं स्वरूप	१८-२०	१५-१७
२०.	उत्तम सामायिक की सिद्धि	२१	१७-१९
२१.	सम्यक्त्व-चारित्र पूर्वक सामायिक का कथन	२२	१९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२२.	तप-पूर्वक उत्तम सामायिक का कथन	२३	२०
२३.	सामायिक का पात्र	२४	२०
२४.	समत्वभाव ही सामायिक है	२५	२१
२५.	विकारों का अभाव एवं कषाय-विजयपूर्वक सामायिक का कथन	२६	२१
२६.	कामेन्द्रिय-विषय एवं दुर्ध्यान-वर्जन-पूर्वक सामायिक का कथन	२७	२२-२३
२७.	शुभध्यान द्वारा सामायिक-स्थान का कथन	२८	२४
२८.	सावद्ययोग का त्याग ही सामायिक	२९	२४
२९.	सामायिक करते समय श्रावक भी श्रमण के समान है	३०	२५
३०.	सामायिक के माहात्म्य हेतु दृष्टान्त	३१	२६
३१.	तीर्थंकरों के काल में सामायिक उपदेश की भिन्नता	३२	२६
३२.	प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर द्वारा छेदोपस्थापन-सामायिक के उप-देश का कारण	३३-३४	२७
३३.	सामायिक करने की विधि एवं क्रम	३५	२८
३४.	**सामायिक निर्युक्ति का उपसंहार एवं २—चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक निर्युक्ति-कथन की प्रतिज्ञा**	३६	२९
३५.	निक्षेप-विधि से चतुर्विंशतिस्तव के छह भेद	३७	२९-३१
३६.	लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे....इस गाथा द्वारा नामस्तव से प्रयोजन है या भाव-स्तव अथवा सभी स्तवों से ? इसका उत्तर	३८	३१
३७.	लोक शब्द की निरुक्ति	३९	३२
३८.	नौ निक्षेप द्वारा लोक का स्वरूप	४०	३३
३९.	नाम-निक्षेप द्वारा लोक का स्वरूप	४१	३४
४०.	स्थापना-निक्षेप द्वारा लोक का स्वरूप	४२	३४
४१.	द्रव्य-निक्षेप द्वारा लोक का स्वरूप	४३-४४	३५-३८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४२.	क्षेत्रलोक का स्वरूप	४५	३८
४३.	चिह्न-लोक का स्वरूप	४६	३८
४४.	कषाय-लोक का स्वरूप	४७	४०
४५.	भव-लोक का स्वरूप	४८	४०
४६.	भाव-लोक का स्वरूप	४९	४१
४७.	पर्याय-लोक का स्वरूप	५०	४१
४८.	द्रव्य-उद्योत का स्वरूप	५१	४२
४९.	भाव-उद्योत का स्वरूप	५२-५३	४३
५०.	द्रव्य-भाव उद्योत का स्वरूप	५४	४४
५१.	चौबीस तीर्थंकर द्रव्य-उद्योत नहीं, भाव-उद्योत के कर्ता हैं	५५	४५
५२.	धर्म-तीर्थ के तीन भेद	५६	४५
५३.	द्रव्य और भाव-भेद से तीर्थ का स्वरूप	५७	४६
५४.	द्रव्यतीर्थ का स्वरूप	५८	४६
५५.	भावतीर्थ का स्वरूप	५९	४७
५६.	जिन और अर्हन्त का स्वरूप	६०	४७
५७.	अरहंत शब्द की निरुक्ति	६१	४८
५८.	अरहंत कीर्तन के योग्य है	६२	४८
५९.	केवली का स्वरूप	६३	४९
६०.	तीर्थंकर उत्तम क्यों हैं ?	६४	५०
६१.	जिनेन्द्रदेव से आरोग्य, बोधि और समाधि की याचना निदान नहीं है—	६५	५०
६२.	ऐसी याचना केवल भक्ति-भाव युक्त है	६६	५१
६३.	जिनवरों द्वारा प्रदत्त रत्नत्रय का उपदेश	६७	५१
६४.	जिनवरों की भक्ति का माहात्म्य	६८	५२
६५.	अरहंत, धर्म, श्रुत और आचार्य आदि में राग भक्ति है, निदान नहीं	६९-७१	५२-५३
६६.	चतुर्विंशतिस्तव का विधान	७२	५४
६७.	**चतुर्विंशतिस्तव निर्युक्ति का उपसंहार और ३—वंदना निर्युक्ति कथन की प्रतिज्ञा**	७३	५४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६८.	निक्षेप-भेद से वंदना आवश्यक के छह भेद	७४	५५
६९.	नाम-वंदना का स्वरूप एवं वंदना के पर्यायवाची नाम	७५	५६
७०.	वंदना की विधि	७६	५७
७१.	विनयकर्म का प्रयोजन और निरुक्ति	७७-७८	५८
७२.	विनय के पाँच भेद	७९	५९
७३.	लोकानुवृत्ति एवं अर्थविनय का स्वरूप	८०-८१	६०
७४.	कामतंत्र एवं भयविनय	८२	६१
७५.	मोक्षविनय के पाँच भेद	८३	६१
७६.	दर्शनविनय का स्वरूप	८४	६२
७७.	ज्ञानविनय का स्वरूप	८५	६२
७८.	चारित्रविनय का स्वरूप	८६	६३
७९.	तपविनय का स्वरूप एवं प्रयोजन	८७	६४
८०.	विनय शासन का मूल एवं शिक्षा का फल है	८८	६४
८१.	कृतिकर्म की योग्यता	८९	६५
८२.	कृतिकर्म किसका और क्यों ?	९०	६५-६६
८३.	अयोग्य की वन्दना करने का मुनि को निषेध	९१	६६
८४.	पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनियों का स्वरूप	९२	६७
८५.	पार्श्वस्थादि की वन्दना के निषेध का कारण	९३	६९
८६.	वन्दना के योग्य मुनि का स्वरूप	९४-९५	७०
८७.	वन्दनीय मुनि की भी कब वन्दना न करें ? कब करें ?	९६-९८	७१-७२
८८.	कृतिकर्म कितनी बार करें ?	९९	७३
८९.	कितनी अवनति सहित कृतिकर्म करने की विधि-विधान और क्रम	१००-१०१	७५-७८
९०.	बत्तीस दोष रहित कृतिकर्म का विधान	१०२-१०७	७९-८५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९१.	वन्दना की विधि	१०८	८६
९२.	वन्दनीय द्वारा वन्दना स्वीकार की विधि	१०९	८७
९३.	**वन्दना निर्युक्ति का उपसंहार और ४–प्रतिक्रमण आवश्यक निर्युक्ति कथन की प्रतिज्ञा**	११०	८८
९४.	निक्षेप विधि से प्रतिक्रमण के छह भेद	१११	८८
९५.	दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के सात भेद	११२	८९-९१
९६.	प्रतिक्रमण के अन्य प्रकार से भेद	११३	९१
९७.	प्रतिक्रामक और प्रतिक्रमण का स्वरूप	११४	९२
९८.	प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप	११५	९३-९४
९९.	*भाव-प्रतिक्रमण का स्वरूप*	११६	९५
१००.	*आलोचना का स्वरूप*	११७	९५
१०१.	आलोचना के दैवसिक आदि सात भेद	११८	९६
१०२.	आलोचना करने योग्य क्या है ?	११९	९७
१०३.	आलोचना के पर्यायवाची नाम	१२०	९८
१०४.	आलोचना में काल-क्षेप का निषेध	१२१	९८
१०५.	भावप्रतिक्रमण का स्वरूप	१२२	९९
१०६.	द्रव्य-प्रतिक्रमण में दोष	१२३	१००
१०७.	भावप्रतिक्रमण का माहात्म्य	१२४	१०१
१०८.	विभिन्न तीर्थंकरों के काल में प्रतिक्रमण का विधान	१२५-१२८	१०१-१०३
१०९.	सर्वप्रतिक्रमण में अंधलक-घोटक का दृष्टान्त	१२९	१०४
११०.	**प्रतिक्रमण निर्युक्ति का उपसंहार एवं ५–प्रत्याख्यान निर्युक्ति कथन की प्रतिज्ञा**	१३०	१०५
१११.	निक्षेप विधि से प्रत्याख्यान के छह भेद	१३१	१०५-१०७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११२.	प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर		१०७
११३.	प्रत्याख्यायक का स्वरूप	१३२	१०७-१०९
११४.	प्रत्याख्यान का स्वरूप और उसके दस भेदों का स्वरूप	१३५-१३७	११०-११३
११५.	प्रत्याख्यान की विधि और इसके चार भेद	१३८	११३
११६.	विनय प्रत्याख्यान का स्वरूप	१३९	११३-११४
११७.	अनुभाषणा-शुद्ध प्रत्याख्यान	१४०	११४
११८.	अनुपालन-शुद्ध प्रत्याख्यान	१४१	११५
११९.	परिणाम विशुद्ध प्रत्याख्यान	१४२	११६
१२०.	अशन, पान आदि चार प्रकार के आहार का स्वरूप	१४३	११७
१२१.	चार प्रकार के आहारों में अभेद एवं भेद	१४४-१४५	११७-११८
१२२.	**प्रत्याख्यान निर्युक्ति का उपसंहार एवं ६—कायोत्सर्ग निर्युक्ति के कथन की प्रतिज्ञा**	१४६	११८
१२३.	निक्षेप विधि से कायोत्सर्ग के छह भेद	१४७	११९
१२४.	कायोत्सर्ग का स्वरूप	१४८-१४८	१२०-१२१
१२५.	कायोत्सर्गी के लक्षण	१५०	१२१
१२६.	धारण योग्य कायोत्सर्ग की विशेषताएँ	१५१	१२२
१२७.	कायोत्सर्ग के कारण	१५२-१५४	१२३-१२४
१२८.	कायोत्सर्ग का कालप्रमाण	१५५	१२४
१२९.	दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास प्रमाण	१५६	१२५
१३०.	णमोकार महामंत्र के अनुसार कायोत्सर्ग की विधि		१२६
१३१.	चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक कायोत्सर्ग में उच्छ्वास प्रमाण	१५७	१२६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१३२.	शेष स्थानों में कायोत्सर्ग का उच्छ्वास प्रमाण	१५८-१६०	१२७-१२८
१३३.	कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन	१६१-१६२	१२९-१३०
१३४.	कायोत्सर्ग में चिन्तन के विषय	१६३-१६४	१३०-१३१
१३५.	कायोत्सर्ग के प्रत्यक्ष फल	१६५	१३२
१३६.	द्रव्य आदि चतुष्टय से कायोत्सर्ग करने का विधान	१६६	१३२
१३७.	कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष	१६७-१६९	१३३-१३६
१३८.	दुःखों के क्षय हेतु कायोत्सर्ग का विधान	१७०	१३६
१३९.	कायोत्सर्ग में मायाचार का निषेध	१७१	१३७
१४०.	कायोत्सर्ग के उत्थितोत्थित आदि चार भेद एवं इनका स्वरूप	१७२-१७६	१३८-१४०
१४१.	कायोत्सर्ग में शुभ-मनःसंकल्प का विधान	१७७-१७९	१४०-१४२
१४२.	कायोत्सर्ग में अप्रशस्त-मनःपरिणाम	१८०-१८१	१४२-१४४
१४३.	**कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार**	**१८२**	**१४४**
१४४.	षडावश्यक चूलिका के पालन के फल का कथन	१८३	१४५
१४५.	आवासकों का स्वरूप	१८४	१४६
१४६.	**आवश्यक करने की विधि**	**१८५**	**१४७**
१४७.	आसिका और निषिद्यका के लक्षण	१८६	१४७
१४८.	आसिका का स्वरूप	१८७	१४८
१४९.	चूलिका का उपसंहार	१८८	१४९
१५०.	**निर्युक्तिकार द्वारा चूलिका सहित आवश्यक निर्युक्ति का उपसंहार**	**१८९**	**१४९**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. परिशिष्ट की विषय-सूची

जैन श्रमण के षड्-आवश्यक : एक तुलनात्मक अध्ययन

विषय	पृष्ठ
१. आवश्यक का स्वरूप	१५१-१५८
२. आवश्यक के छह भेद	
३. **प्रथम-सामायिक आवश्यक**	
१. सामायिक का स्वरूप	
२. उद्देश्य	
३. भेद	
४. द्रव्य सामायिक के दो भेद	
१. आगम द्रव्य-सामायिक	
२. नोआगम द्रव्य सामायिक	
५. सामायिक करने की विधि और समय	
६. सामायिक करते समय श्रावक और श्रमण समान हैं	
७. कथानक	
८. विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामायिक	
४. **द्वितीय-चतुर्विंशति-स्तव-आवश्यक**	१५९-१६०
१. स्वरूप एवं भेद	
२. स्तव की विधि	
५. **तृतीय-वंदना-आवश्यक**	१६०-१७६
१. स्वरूप	
२. उद्देश्य	
३. वंदनीय कौन ?	
४. वंदना की विधि	
५. अवन्दनीय की वन्दना का निषेध	
६. वंदना के भेद	
७. वंदना का समय और अवसर	
८. कृतिकर्म आदि वंदना के पर्यायवाची नाम	
९. कृतिकर्म का स्वरूप	
१०. कृतिकर्म की प्रयोग विधि के नौ अधिकार	

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११. कृतिकर्म (वन्दना) के बत्तीस दोष
१२. विनयकर्म–स्वरूप एवं उद्देश्य
१३. विनयकर्म के भेद
१४. कायिक, वाचिक, मानसिक और औपचारिक विनय
१५. विनयकर्म की विशेषतायें
१६. विनयकर्म के भेद-प्रभेदों का चार्ट

४. चतुर्थ-प्रतिक्रमण आवश्यक १७६-१८३

१. स्वरूप
२. प्रतिक्रमण के पर्यायवाची नाम
३. प्रतिक्रमण के अंग
४. प्रतिक्रमण के भेद
५. निक्षेप दृष्टि से छह भेद
६. कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के सात भेद
७. जिज्ञासा का समाधान
८. प्रतिक्रमण का उद्देश्य
९. प्रतिक्रमण की विधि
१०. विभिन्न तीर्थंकरों में प्रतिक्रमण की परम्परा
११. दस प्रकार के मुण्ड

५. पंचम-प्रत्याख्यान आवश्यक १८३-१८९

१. स्वरूप
२. उद्देश्य
३. प्रत्याख्यान के तीन अंग
४. प्रत्याख्यान के भेद
५. निक्षेप दृष्टि से भेद
६. मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान
७. सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान के दस भेद
८. अर्धमागधी-आवश्यक नियुक्ति में वर्णित प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद (चार्ट सहित)
९. प्रत्याख्यान की विधि

६. षष्ठ-कायोत्सर्ग आवश्यक १८९-२०१

१. स्वरूप
२. उद्देश्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. कायोत्सर्ग के भेद
४. निक्षेप दृष्टि से कायोत्सर्ग के छह भेद
५. द्रव्य और भाव दृष्टि से कायोत्सर्ग के चार भेद
६. कायोत्सर्ग के तीन अंग
७. कायोत्सर्ग की विधि
८. कायोत्सर्ग साधना के तीन तत्त्व
९. कायोत्सर्ग में चिन्तनीय शुभ-मन:संकल्प
१०. कायोत्सर्ग में त्याज्य अशुभ-मन:संकल्प
११. कायोत्सर्ग का कालमान
१२. विभिन्न अवसरों के कायोत्सर्ग का कालप्रमाण
१३. कायोत्सर्ग के लाभ
१४. चेष्टा एवं अभिभव कायोत्सर्ग के लाभ
१५. कायोत्सर्ग में निषिद्ध बत्तीस दोष
१६. निष्कर्ष

७. षड्-आवश्यकों की प्रायोगिक-विधि २०१-२०७

१. अहोरात्रिक क्रियायें
२. नैमित्तिक क्रियायें
३. वर्षायोग (चातुर्मास) के ग्रहण और निष्ठापन सम्बन्धी क्रियायें
४. पंचकल्याणक सम्बन्धी भक्तियाँ
५. समाधिमरण सम्बन्धी भक्तियाँ

८. कृतिकर्म सम्बन्धी विशेष विधि

१. कृतिकर्म विधि
२. कृतिकर्म में मुद्रायें
३. कृतिकर्म की प्रयोग-विधि

९. सामायिक दण्डक-स्तव

१०. थोस्सामि-स्तव

११. सामायिक-स्तव

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति क्यों ?

आचार्य वट्टकेर प्रणीत शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध प्रस्तुत मूलाचार-गत "आवश्यक निर्युक्ति" मूल-आगम परम्परा के रूप में बहुत प्राचीन (लगभग पहली-दूसरी शती के आसपास की) रचना होते हुए भी स्वतन्त्र नाम और स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन की दृष्टि से नवीन है । अभी तक यह आचार्य वट्टकेर प्रणीत मूलाचार नामक श्रमणाचार विषयक प्राचीन आगम ग्रन्थ का सप्तम "षडावश्यकाधिकार" मात्र था । वहाँ तो यह अभी भी इसी नाम और क्रम में विद्यमान है और रहेगा भी, किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन का अपना अलग ही महत्त्व और ऐतिहासिक कदम है । इसके प्रकाशन से अनेक सम्भावनाओं का जन्म होगा ।

यह कार्य इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर महावीर की वाणी (दिव्यध्वनि) से जुड़ा है । आचार्य वट्टकेर को यह आगम एवं आचार्य परम्परा से प्राप्त हुई, जिसे उन्होंने अति संक्षेप करके मात्र एक सौ नवासी (१८९) गाथाओं में सभी छह आवश्यकों का सारगर्भित स्वरूप विवेचन बहुत कुशलता और सफलता के साथ प्रस्तुत कर दिया है । वे मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी को नमन करने के बाद प्रस्तुत आवश्यक-निर्युक्ति कहने की प्रतिज्ञा और उद्देश्य कथन करते हुए कहते भी हैं—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ।।२।।

अर्थात् मैं पूर्व-आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप रूप में यथाक्रम से आवश्यक निर्युक्ति कहता हूँ ।

सामायिक आदि षड्-आवश्यकों को सारगर्भित रूप में आगम और आचार्य परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करना—यह वट्टकेर जैसे समर्थ आचार्य के ही सामर्थ्य की बात है । क्योंकि आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) प्रणीत मान्य अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति में बहुत विस्तार से विवेचन होने से वह कई गुणी विशाल और बृहदाकार है ।

आचार्य वट्टकेर ने मंगलाचरण के बाद आरम्भिक मात्र ग्यारह गाथाओं में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु—इन पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त स्वरूप निरुक्ति पूर्वक प्रस्तुत किया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णमोकार महामंत्र के माहात्म्य का उल्लेख—इस निर्युक्ति में यह एक विशेषता स्पष्ट हुई कि णमोकार महामन्त्र की महत्ता प्रकट करने वाली जो बहु प्रचलित गाथा आनुषांगिक रूप में जन-जन में प्रसिद्ध है, वह अनुष्टुप छन्द वाली गाथा यहाँ विद्यमान है । वह इस प्रकार है—

एसो पंच णमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ।।१३।।

अर्थात् यह णमोकार महामन्त्र सभी पापों का नाश करने वाला होने से सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।

प्रस्तुत मूल-गाथा का आचार्य वट्टकेर की इस आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख होने का इसलिए भी महत्त्व है । क्योंकि णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयारीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं—इस पवित्र णमोकार महामन्त्र के बाद आनुषांगिक रूप में बोली जाने वाली पूर्वोक्त गाथा है । अतः जैसे आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागम में साहित्यिक लिखित प्रमाण के रूप में सम्पूर्ण णमोकार महामन्त्र का प्रथम उल्लेख पाया जाता है, उसी प्रकार इस महामन्त्र की महत्ता प्रकट करने वाली पूर्वोक्त गाथा भी आचार्य वट्टकेर की इस आवश्यक निर्युक्ति में साहित्यिक लिखित प्रमाण के रूप में विद्यमान है । इससे भी प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति की महत्ता और प्राचीनता सिद्ध होती है । यद्यपि भद्रबाहु (द्वितीय) प्रणीत आवश्यक निर्युक्ति की कुछ प्रतियों में भी (सं० ६३८/१) यह गाथा विद्यमान है, पर कुछ में नहीं मिलती ।

आवश्यक और निर्युक्ति का निरुक्त—इस णमोकार महामन्त्र के माहात्म्य के बाद मात्र एक ही गाथा में आवश्यक निर्युक्ति के निरुक्त का कथन आचार्य वट्टकेर ने इस प्रकार किया है—

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा ।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ।।१४।।

अर्थात् जो वश में नहीं है, वह अवश है । उस अवश (मुनि) की क्रिया को आवश्यक जानना चाहिए । युक्ति और उपाय एक हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय को निर्युक्ति कहते हैं ।

आवश्यक के छह भेद और उनकी कथन पद्धति—आवश्यक और निर्युक्ति—इन दोनों शब्दों का निरुक्त करने के बाद आचार्यवर्य वट्टकेर ने सीधे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन छह आवश्यकों के भेदों का कथन पन्द्रहवीं गाथा के माध्यम से प्रारम्भ किया है । इसके बाद इन्हीं छह आवश्यकों में प्रत्येक आवश्यक का विवेचन करने के पूर्व वे प्रत्येक आवश्यक निर्युक्ति के कथन की प्रतिज्ञा करते हैं ।

प्रथम सामायिक आवश्यक निर्युक्ति के कथन की प्रतिज्ञा इस प्रकार की है—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदं आणुपुव्वीए ।।१६।।

सामायिक की तरह आचार्य वट्टकेर ने प्रत्येक आवश्यक के विवेचन के पूर्व उसके कथन की प्रतिज्ञा की है । प्रत्येक आवश्यक के नाम के साथ वे निर्युक्ति शब्द भी जोड़ते हैं । यथा पूर्वोक्त गाथा में "सामायिक निर्युक्ति" कहा है । इसी तरह वे प्रत्येक आवश्यक कथन करने के बाद उसके संक्षेप कथन की समाप्ति की सूचना और आगे कहे जाने वाले आवश्यक की सूचना, एक ही साथ करते हैं । यथा—

सार्माइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
चउवीसयणिज्जुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ।।३६।।
चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ।।७३।।

इस प्रकार प्रत्येक आवश्यक कथन के साथ ही सीधे निक्षेप पद्धति से प्रत्येक आवश्यक की व्याख्या अर्थात् विवेचन प्रारम्भ करते हैं । यथा—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
सामाइयह्मि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ।।१७।।

अन्तिम षष्ठ कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति के विवेचन के बाद इसका उपसंहार इस प्रकार किया है—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाणं महरिसीणं ।।१८२।।

अर्थात् संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने (आ० वट्टकेर ने) संक्षेप में यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ।

सभी आवश्यकों के कथन के बाद इनका पालन करने वाले **पात्र** की अपेक्षा से इनके **पालन का फल** भी दो प्रकार से करते हुए षडावश्यक चूलिका कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो ।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ।।१८३।।

अर्थात् सभी षड्-आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं । किन्तु जो इनका परिपूर्ण रूप से पालन नहीं करते (पूर्ण सावधानी के बाद भी कुछ कमी रह जाती है) वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं, जिन्हें उसी भव से मोक्ष नहीं हो पाता ।

इसलिए अन्त में आचार्य वट्टकेर **आवश्यक करने की विधि** बतलाते हैं—

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते यथुत्तकालम्हि ।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ।।१८५।।

अर्थात् मन-वचन-काय रूप त्रिकरण से सर्व विशुद्ध हो, द्रव्य, क्षेत्र और आगम कथित काल में निराकुलचित्त होकर मौन पूर्वक नित्य ही इन आवश्यकों का पालन करना चाहिए ।

आवश्यक चूलिका का उपसंहार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ।।१८८।।

अर्थात् मैंने यहाँ संक्षेप में इस निर्युक्ति की निर्युक्ति कथन किया है । यदि इसका विस्तार कथन जानना चाहते हैं तो अन्य अनियोग (अनुयोग) (वृत्तिकार ने अनियोग का अर्थ "**आचारांग**" किया है) ग्रन्थों से जानना चाहिए ।

आचार्य वट्टकेर चूलिका सहित प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए अन्तिम गाथा में कहते हैं—

आवासयणिज्जुत्ती एवं कथिदा समासओ विहिणा ।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ।।१८९।।

अर्थात् इस तरह मैंने विधिवत् संक्षेप में आवश्यक निर्युक्ति कही है, जो नित्य ही इनका आचरण (प्रयोग पूर्वक पालन) करता है, वह सर्वकर्म रहित विशुद्धात्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

प्रकाशन की मनोभावना—इस प्रकार मूलाचार गत प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति के महत्त्व को देखते हुए इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करने की मेरी मंगल भावना लगभग पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से रही है । क्योंकि सन् १९७२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम. ए. संस्कृत—(जैन एवं बौद्धविद्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्ग सहित) करने के बाद जब यहाँ से शोध हेतु सम्बद्ध पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी से पी-एच.डी. के लिए "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर शोधकार्य हेतु मेरा पंजीयन हुआ तब शोधकार्य आगे बढ़ाने के लिए मूलाचार का अध्ययन और इसका हार्द समझने के लिए मुझे सुप्रसिद्ध विद्वान् सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द जी शास्त्री, आ० गुरुवर्य पं. कैलाशचन्द जी सिद्धान्ताचार्य, श्रद्धेय पं. जगमोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री एवं मेरे शोध निदेशक आ० डॉ. मोहनलाल जी मेहता का लम्बे समय तक सानिध्य प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ इसी समय मूलाचार के इस षडावश्यकाधिकार पर विशेष ध्यान गया कि यह तो मूल रूप में आवश्यक निर्युक्ति है ।

मूलाचार पर दो-तीन वर्ष में शोधकार्य पूरा करने के साथ ही मुझे लाडनूं (राजस्थान) में आचार्यश्री तुलसीजी महाराज की प्रेरणा से उस समय कुछ ही वर्ष पूर्व स्थापित और संचालित **जैन विश्व भारती** में प्राकृत एवं जैनविद्या के प्राध्यापक पद पर मेरी नियुक्ति सन् १९७६ के मध्य हो गयी । यहाँ लगभग चार वर्षों में (सन् १९७९ तक) कड़े श्रमपूर्वक बहुत कुछ पढ़ने-पढ़ाने, लिखने एवं अपने ज्ञानवर्द्धन के अपूर्व लाभ प्राप्त हुए । एक विशेष उपलब्धि यह हुई कि यहाँ मुझे एक तरफ अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक आगम ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन के दुर्लभ अवसर प्राप्त हुए, वहीं दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी आगम ग्रन्थों के अध्यापन-अध्ययन का भी प्रभूत लाभ प्राप्त हुआ ।

यहाँ मैंने यह भी सीखा और अनुभव किया कि भले ही हमारी परम्परा विशेष के प्रति गहरी आस्था हो, किन्तु जैन विद्या के व्यापक अध्ययन और ज्ञान के लिए बिना किसी आग्रह-दुराग्रह के, दोनों परम्पराओं के आगम एवं आगमेतर शास्त्रों का गहन अध्ययन अति आवश्यक है, अन्यथा हम बहुत बड़े लाभ से वंचित हो जाते हैं ।

जैन विश्व भारती लाडनूं (राज०) में अध्यापन काल में मैंने जो अर्द्धमागधी आगमों का अध्ययन किया, उसका भरपूर उपयोग मैंने अपने प्रकाशित शोध-प्रबन्ध "मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन" (प्रका०—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, सन् १९८७) में किया है । इस पर सन् १९७६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. उपाधि प्राप्ति के बाद, इसके प्रकाशन के पूर्व लगभग आठ-दस वर्षों तक के समय का मैंने अहर्निश लगातार पूरे मनोयोग से मात्र इसी शोध-प्रबन्ध को अधिकाधिक परिपूर्ण करने एवं संजोने में सदुपयोग किया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुझे अपने सम्पूर्ण श्रम की सार्थकता का अनुभव तब और अधिक हुआ, जब देश के अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन नामक मेरे शोध-प्रबन्ध की सराहना की और दिगम्बर (महावीर पुरस्कार एवं शास्त्री पुरस्कार) तथा श्वेताम्बर (साधुमार्गी संघ बीकानेर (राज०) द्वारा चम्पालाल साहित्य पुरस्कार)—इस तरह तीन पुरस्कारों से एक साथ यह शोध-प्रबन्ध पुरस्कृत हुआ ।

मुझे यह भी देख-सुनकर प्रसन्नता होती है कि जहाँ यह परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी जैसे अनेक उत्कृष्ट आचार्यों एवं सन्तों, विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुआ वहीं यह शोध-प्रबन्ध ऐसा आधारभूत ग्रन्थ बन गया है कि इसके आधार पर इस विषयक अनेक शोध-प्रबन्ध तैयार हो चुके और हो रहे हैं । साथ ही सभी सुधी स्वाध्यायी पाठकों की दृष्टि में यह अपने विषय का एक परिपूर्ण शोध एवं सन्दर्भ ग्रन्थ की विशेषताओं से युक्त है, जिसमें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा के श्रमणाचार-परक आगम ग्रन्थों का तुलनात्मक विषय-विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इसीलिए यह अनेक विश्वविद्यालयों के सम्बद्ध विषय के पाठ्यक्रमों में सहायक पाठ्यग्रन्थ के रूप में सम्मिलित है ।

इस तरह मुझे पूर्वोक्त शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के समय भी इसके षड्-आवश्यक अधिकार को स्वतन्त्र आवश्यक निर्युक्ति के रूप में प्रकाशित करने की भावना और दृढ़ बनी रही । इसके बाद मूलाचार पर ही एक बार पुनः कई वर्षों तक कार्य करने का सौभाग्य हमें तब मिला, जब हमें पं. नन्दलाल जी छावड़ा (पं. जयचन्द जी छावड़ा के ज्येष्ठ सुपुत्र) द्वारा लिखित **''मूलाचार भाषा-वचनिका''** की हस्तलिखित दुर्लभ पाण्डुलिपि की उपलब्धि देहरा-तिजारा (राजस्थान) अतिशय क्षेत्र के पुराने बड़े जैन मन्दिर से हुई ।

मूलाचार-भाषावचनिका नामक इस बृहद् ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य मैंने अपनी सहधार्मिणी श्रीमती डॉ. मुन्नी पुष्पा जैन के सहयोग से लगभग चार वर्षों में पूरा किया । आचार्यश्री विमलसागर जी एवं उपाध्यायश्री भरतसागर जी के शुभाशीष से इसके प्रकाशन में भी दो वर्ष का समय लगा । बड़े आकार में लगभग १००० पृष्ठों में यह बृहद्ग्रन्थ सन् १९९६ में अनेकान्त विद्वत्परिषद् से प्रकाशित हुआ और यह ग्रन्थ उ०प्र० संस्कृत संस्थान, लखनऊ से विशिष्ट पुरस्कार से पुरस्कृत भी हुआ है । उ०प्र० के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम सूरजभान जी ने लखनऊ स्थित उनके राजभवन में आयोजित एक विशेष समारोह में हम दोनों को यह पुरस्कार और ग्यारह हजार रूपये की धनराशि से सम्मानित किया था ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार लम्बे समय तक मूलाचार पर कार्य करने के बाद मैंने इस आवश्यक निर्युक्ति का सम्पादन तथा अनुवाद पूर्वोक्त भाषा-वचनिका और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा मूलाचार के अनुवाद के साभार सहयोग से भी पूरा किया। आ० वसुनन्दि की संस्कृत आचार-वृत्ति सहित मूलाचार की हस्तलिखित पाण्डुलिपि की फोटो कापी भी मेरे पास होने से आचारवृत्ति और मूलाचार के मिलान, पाठभेद और हिन्दी अनुवाद पर विचार आदि में बहुत सहयोग प्राप्त हुआ। माणिकचंद ग्रन्थमाला, मुम्बई से प्रकाशित मूलाचार (दो भागों में) से भी बहुत सहयोग मिला।

जब मैंने प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति के प्रकाशन से पूर्व की सभी तैयारी कर ली, तब यह कार्य मैंने अपने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन संस्थान के यशस्वी निदेशक प्रो. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी को दिखलाई, तब ऐसी साहित्य सपर्या को सदा प्रोत्साहित करने वाले प्रो. मणिजी ने इसकी सहर्ष स्वीकृति के साथ ही इसे विजय प्रेस में देकर इसके प्रकाशन का कार्य तुरन्त शुभारम्भ कराके मेरी दीर्घकालीन मंगलभावना को साकार रूप प्रदान किया है।

जैन आगम और उसकी परम्परा

जैन श्रमण परम्परा मुख्यरूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दो परम्पराओं में विद्यमान है। दोनों ही परम्पराओं का प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। विशेषकर प्राकृत आगम साहित्य का भारत के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के विकास में महनीय योगदान है। दोनों ही परम्परायें यह मानती हैं कि तीर्थंकर महावीर के बाद द्वादशाङ्ग रूप आगम ज्ञान दीर्घकाल तक गुरु-शिष्य परम्परा या श्रुति परम्परा द्वारा मौखिक रूप से चलता रहा। इसीलिए आगम को 'श्रुत' भी कहते हैं। किन्तु कालक्रम से स्मृति-क्षीणता एवं क्षयोपशम की हीनता के कारण वह आगमज्ञान की अक्षयराशि दीर्घकाल तक पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं रह सकी।

श्वेताम्बर जैन परम्परा की मान्यतानुसार विभिन्न कालखण्डों में आगम-परम्परा को यथासम्भव सुरक्षित रखने के उद्देश्य से पाटलीपुत्र, मथुरा और बलभी—इन नगरों में श्रमणसंघों के सम्मेलनों के माध्यम से वाचनायें आयोजित हुईं। इनके अनेक उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध है। उड़ीसा के उदयगिरि-खण्डगिरि की हाथीगुम्फा में ईसापूर्व दूसरी शती के महाराजा कलिंग नरेश खारवेल द्वारा ब्राह्मी लिपि और प्राकृत भाषा में लिखाये बृहद् शिखालेख से भी ज्ञात होता है कि महाराजा खारवेल ने भी आगमों को पुस्तकारूढ करने हेतु वाचनार्थ एक मुनियों का बृहद् सम्मेलन आयोजित किया था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त वाचनाओं के बाद वीर निर्वाण सं० ९८० (ई. सन् ४५३) में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण जैसे समर्थ आचार्य के नेतृत्त्व में बलभी में उपस्थित श्रमणसंघ ने अपनी-अपनी स्मृति के आधार पर आगमज्ञान को पुरस्कारूढ़ किया। वर्तमान में अर्धमागधी प्राकृत भाषा में उपलब्ध विशाल आगम साहित्य गुजरात के बलभी नगर में आयोजित इसी अन्तिम वाचना की देन है।

श्वेताम्बर जैन परम्परा में सामान्यत: पैंतालीस संख्या में अर्धमागधी आगम उपलब्ध माने गये हैं। इनमें १२ अंग, १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, दस प्रकीर्णक आदि प्रमुख आगम उपलब्ध हैं। इनमें आचारांग, सूत्र-कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशाध्ययन, अन्त:कृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत—ये ग्यारह अंग आगम उपलब्ध हैं। इस परम्परा में बारहवाँ "दृष्टिवाद" अंग आगम लुप्त माना गया है।

जबकि दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार श्रुतपरम्परा के रूप में उपलब्ध मूल-आगमज्ञान का क्रमश: उच्छेद होता गया, उसमें मात्र आंशिक आगमज्ञान (बारहवाँ अन्तिम अंग आगम दृष्टिवाद का कुछ अंश) ही आचार्य परम्परा से सुरक्षित रहा, जिसे आचार्य गुणधर ने **'कसाय-पाहुडसुत्त'** नामक ग्रन्थ में पुस्तकारूढ किया तथा आचार्य धरसेन ने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि जैसे समर्थ शिष्यों को ईसा की प्रथम शती के आसपास वाचना देकर **'छक्खण्डागम'** (षट्खण्डागम) ग्रन्थ तथा इनकी क्रमश: जयधवला और धवला जैसी विशाल टीकाओं के माध्यम से आंशिक आगमज्ञान को सुरक्षित रखने के प्रयत्न किये।

इनके साथ ही आचार्य कुन्द-कुन्द, शिवार्य, वट्टकेर, यतिवृषभ, नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती जैसे एक से बढ़कर एक समर्थ आचार्यों की लम्बी परम्परा है, जिन्होंने तीर्थंकर महावीर की वाणी को प्रभावक रूप में अपने-अपने आगम शास्त्रों के माध्यम से सुरक्षित रखकर महनीय योगदान किया। इस तरह दिगम्बर परम्परा मूल अंगादि आगमों को लुप्त मानती अवश्य है, किन्तु तीर्थंकर महावीर के उत्तरवर्ती समर्थ आचार्यों द्वारा प्रणीत शास्त्रों को आगम के रूप में महत्त्व एवं सम्मान प्रदान करती है।

वेदों की तरह आगमों का संरक्षण आवश्यक—वैदिक परम्परा में वेदों को मूलरूप में सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में ब्राह्मण-विद्वानों के आदर्श की प्रशंसा के रूप में सन्दर्भित करना भी आवश्यक है। वैदिक विद्वानों ने वेदों के मूलस्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए वेदों की ऋचाओं और मन्त्रों के उच्चारण में स्वरों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरोह-अवरोह आदि का विशेष सजगता के साथ ध्यान ही नहीं रखा, अपितु विपन्न रहकर भी अपनी सन्तति एवं शिष्य परम्परा को वेद की विभिन्न शाखाओं को बचपन से ही कण्ठस्थ कराके श्रुति मौखिक-परम्परा से उन्हें स्मरण शक्ति द्वारा सुरक्षित रखा । यही कारण है कि वेदों की विभिन्न शाखाओं के शताधिक वेदपाठी हजारों वर्षों से चली आ रही परम्परा को आज भी मूलरूप में सुरक्षित रखे हुए हैं । इसके लिए केन्द्र और राज्य सरकारें भी विविध प्रकार से भरपूर आर्थिक सहयोग प्रदान करती हैं । आज भी वेदों का अध्ययन कराने वाले शताधिक गुरुकुल देश के विभिन्न क्षेत्रों में इसी उद्देश्य से चलाये जा रहे हैं, जहाँ अल्पवय से ही बच्चों को इस परम्परा में दीक्षित कर वेदों का ज्ञान कराया जा रहा है ।

यद्यपि जैन परम्परा ने वेदों की अपौरुषेयता का भले ही खण्डन किया हो, किन्तु अपौरुषेयता की अवधारणा ने भी वेदों के मूलस्वरूप को सुरक्षित रखने में अहं भूमिका का निर्वाह किया । क्योंकि अपौरुषेयता की मान्यता के कारण कोई पुरुष उसमें एक मात्रा तक का परिवर्तन करने का अधिकारी नहीं रह जाता, अत: वेद और वेदों की प्राय: सभी शाखायें मूलरूप में आज भी यथावत् सुरक्षित है । किन्तु जैन परम्परा का स्वरूप ही इससे अलग रहा । अत: मूल आगमों की विपुल ज्ञाननिधि को हम पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं रख सके । इसीलिए जैन आगमों का बहुत बड़ा भाग कालक्रम से विस्मृत और लुप्त होता चला गया । क्योंकि उपलब्ध प्राचीन साहित्य में आचारांग आदि मूल अंग आगमों के बृहद् परिमाण के जो उल्लेख मिलते हैं, उतने और वैसे वर्तमान में उपलब्ध नहीं मिलते ।

प्राकृत भाषा के वर्तमान में उपलब्ध विशाल आगमज्ञान की पूर्वोक्त दोनों परम्पराओं की अलग-अलग पहचान अब भाषाओं के माध्यम से भी होने लगी है । अत: जब हम व्यवहार में **अर्धमागधी आगम परम्परा** कहते हैं, तब इसका सीधा उद्देश श्वेताम्बर जैन परम्परा के उपलब्ध आगमों को सन्दर्भित करने का होता है । इसी प्रकार जब हम व्यवहार में **शौरसेनी प्राकृत आगम परम्परा** कहते हैं, तब इसका सीधा उद्देश दिगम्बर जैन परम्परा के आगम ग्रन्थों को सन्दर्भित करना होता है ।

आगमों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण आवश्यक—यहाँ यह भी विशेष ध्यातव्य है और पहले ही कहा गया है कि श्वेताम्बर जैन परम्परा में जहाँ बारह अंग आगमों में मात्र अन्तिम अंग दृष्टिवाद का लोप माना जाता है, वहीं दिगम्बर परम्परा इसी दृष्टिवाद अंग को षट्खण्डागम और कसायपाहुड आदि आंशिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप में उपलब्ध तथा आरम्भिक ग्यारह अंगों सहित सभी मूल अंग आगमों को लुप्त मानती है । इस प्रकार यदि आग्रहमुक्त और उदारवादी दृष्टिकोण से दोनों को जोड़कर देखा जाय तो कमोवेश सम्पूर्ण बारह अंग आगमों की विपुल श्रुत (ज्ञान) सम्पदा का अपूर्व वैभव हमारे पास सुरक्षित है । हमने जो कुछ खोया है उससे अधिक सुरक्षित भी है । इसीलिए इनके अध्ययन-अनुसंधान और संरक्षण के उपायों पर गम्भीर चिन्तन आवश्यक है ।

हमारे महान् पूर्वाचार्यों ने भी हमें जो आगमेतर विशाल श्रुतसम्पदा विरासत में हमें सौपी है, यदि उसे हम सुरक्षित रख सके और उसके दिव्य आलोक से अपने को आलोकित कर सके तो हमारा जीवन सार्थक और सफल हो सकता है । क्योंकि मूल आगम साहित्य के बाद भी हमारे आचार्यों ने इन मूल आगमों के सूत्रों के रहस्योद्घाटन के लिए उन पर निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वार्तिक आदि विविध व्याख्याओं के साथ ही आगमतुल्य सहस्रों ग्रन्थों का विभिन्न प्राचीन भारतीय भाषाओं में सृजनकर जैन साहित्य के साथ ही भारतीय वाङ्मय को समृद्ध करने में महनीय योगदान किया है ।

आगमों का व्याख्या साहित्य

प्राचीन भारतीय आचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने जहाँ अपनी तपःपूत लेखनी से विविध भारतीय विद्याओं के मूलशास्त्रों की रचना कर अपनी अद्भुत प्रतिभा का सदुपयोग किया, वहीं उन्होंने और इनकी परम्परा के परवर्ती आचार्यों ने उन मूलशास्त्रों के अर्थ-गाम्भीर्य और गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन एवं विस्तार हेतु विविध व्याख्यात्मक ग्रन्थ लेखन में अपना गौरव माना । इसी पवित्र और उदार भावना से भारतीय व्याख्या-साहित्य का विपुल भण्डार भरा हुआ है । जैनाचार्यों ने तो आगमों एवं आगमेतर मूलशास्त्रों पर इतना अधिक व्याख्या-साहित्य का निर्माण किया कि यदि उनका आकलन किया जाए तो अनेक खण्डों में ही इस तरह के ग्रन्थों की सूत्रीमात्र का संग्रह सम्भव होगा ।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—इन दोनों ही जैन परम्पराओं में अनेक टीका ग्रन्थ तो इतने लोकप्रिय हुए कि वे टीका के नाम से ही ज्यादा प्रसिद्ध हो गये, मूल ग्रन्थ के नाम की उन्हें जरूरत ही नहीं पड़ी । इनमें कुछ प्रमुख हैं—धवला एवं जयधवला टीका (क्रमशः षड्खण्डागम एवं कसायपाहुड पर आ० वीरसेन स्वामी लिखित टीका), सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर आ० पूज्यपाद द्वारा लिखित टीका), प्रमेयकमल-मार्तण्ड (आ० प्रभाचन्द्र द्वारा आ० अनन्त वीर्य कृत परीक्षामुखसूत्र पर लिखित टीका), न्यायकुमुदचन्द्र (आ०प्रभाचन्द्र द्वारा आ० अकलंकदेव के लघीयस्त्रय नामक ग्रन्थ पर लिखित टीका) स्याद्वाद मञ्जरी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आ० मल्लिषेण द्वारा आ० हेमचन्द्र के अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका स्तवन पर लिखित टीका) आदि ऐसे शताधिक टीका ग्रन्थ हैं, जो मूलग्रन्थ की अपेक्षा टीका के नाम ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं ।

उपलब्ध व्याख्या साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि अर्धमागधी प्राकृत आगम आदि साहित्य पर जैनाचार्यों ने मुख्यत: पाँच प्रकार के व्याख्या साहित्य का निर्माण किया है—१. निज्जुत्ति (निर्युक्ति), २. भास (भाष्य), ३. चुण्णि (चूर्णि), ४. संस्कृत टीकायें तथा ५. लोकभाषाओं में रचित व्याख्यायें । यहाँ इनका क्रमश: परिचय प्रस्तुत है ।

१. निर्युक्ति—आगमों पर प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध यह बहुत प्राचीन व्याख्या पद्धति है । **निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती**[१] अर्थात् जिसके द्वारा सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय होता है, वह निर्युक्ति है । आ० वट्टकेर के अनुसार—**''जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती''** (मूला० ७) अर्थात् युक्ति और उपाय एक हैं, अत: सम्पूर्ण उपाय को निर्युक्ति कहते हैं ।

वस्तुत: निर्युक्तियों में मूलग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न कर विशेष पारिभाषिक शब्दों का ही व्याख्यान किये जाने की पद्धति होती है । इनकी प्रसिद्ध निक्षेप कथन शैली की यह विशेषता होती है कि किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है ।

अर्धमागधी के मुख्यत: निम्नलिखित दस आगमों पर निर्युक्तियों की रचना आ० भद्रबाहु ने की है—आवश्यकसूत्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित । इनके रचयिता प्रथम आ० भद्रबाहु हैं या द्वितीय—यह अभी पूरी तरह निर्णीत नहीं है, किन्तु कुछ विद्वानों द्वारा द्वितीय भद्रबाहु ही निर्युक्तिकार के रूप में मान्य हैं ।

शौरसेनी प्राकृत की दिगम्बर परम्परा में कतिपय कारणों से मूलअंग आदि आगमों को भले ही लुप्त मान लिया गया हो, किन्तु किसी न किसी रूप में काफी कुछ आगमज्ञान आज भी यहाँ सुरक्षित है । षट्खण्डागम, कसायपाहुड, भगवतीआराधना, मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति आदि तथा आ० कुन्दकुन्द का

---

१. आवश्यक निर्युक्ति भाग १, गाथा ८२, संपा० डॉ० समणी कुसुमप्रज्ञा, प्रका०-जैन विश्व-भारती संस्थान लाडनूं (राज०) सन् २००१ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाहुड साहित्य—यह सब परमागम के रूप में प्रतिष्ठित है, क्योंकि ये सब मूल आगम साहित्य के ही अंश या प्रतिनिधि हैं और भी इसी तरह का प्रभूत साहित्य विद्यमान है । आ० वट्टकेर के मूलाचार को तो आचार्यों ने "आचारांग" नाम ही दिया है । मूलाचार की यह भी विशेषता है कि इसका सप्तम षडावश्यकाधिकार तो मूल रूप में संक्षिप्त **आवश्यक-निर्युक्ति** के रूप में ही सुरक्षित है, जिसके विषय में आगे विवेचन द्रष्टव्य है ।

आ० गुणधर प्रणीत कसायपाहुड-सुत्त की जयधवला टीका तथा आ० पुष्पदन्त-भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागम की धवला टीका आदि अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों के विषय का प्रतिपादन निक्षेप पद्धति से ही किया गया है । इन टीकाओं में तो पूर्वोक्त प्राय: सभी व्याख्या पद्धतियों के दर्शन होते हैं ।

निर्युक्ति का प्रयोजन—सूत्र के साथ अर्थ का परस्पर नियोजन अर्थात् सम्बन्ध स्थापित करना निर्युक्ति है—**"सूत्रार्थयो परस्परं निर्योजनं सम्बन्धनं निर्युक्तिः ।"** वस्तुत: एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग के लिए उपयुक्त होता है ? भगवान् महावीर के उपदेश के समय कौन सा अर्थ किस शब्द से सम्बद्ध रहा है ? इत्यादि प्रसंगों को दृष्टि में रखकर प्रसंगानुसार सम्यक् रूप से अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, यही निर्युक्ति का प्रयोजन है ।[१]

मूल आगमों के रहते अलग से निर्युक्ति लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस प्रश्न के उत्तर में निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं—**'तह वि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्तपरिवाडी'** (आव० नि० ८८) सूत्र में अर्थ निर्युक्ति होने पर भी सूत्र पद्धति की विविध प्रकार से व्याख्या करके शिष्यों को समझाने के लिए निर्युक्ति की रचना की जा रही है । इसी गाथा की व्याख्या करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार कहते हैं कि—श्रुतपरिपाटी में ही अर्थ निबद्ध है । अत: अर्थाभिव्यक्ति की इच्छा नहीं रखने वाले निर्युक्तिकर्त्ता आचार्य को श्रोताओं पर अनुग्रह करने के लिए वह श्रुतपरिपाटी ही अर्थ-प्राकट्य की ओर प्रेरित करती है ।

कहा भी है—

तो सुयपरिवाडिच्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि ।
निज्जुत्ते वि तदत्थे वोत्तं तदणुग्गहट्ठाएं ।।

(विशेषावश्यक भाष्य-१०८८)

---

१. निर्युक्ति पंचक (खण्ड ३) सम्पादकीय अंश, प्रका० जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरण द्वारा भाष्यकार कहते हैं कि जैसे मंख-चित्रकार अपने अपने फलक पर चित्रित चित्रकथा को कहता है तथा शलाका अथवा अंगुलिक के साधन से उसकी व्याख्या करता है, उसी प्रकार प्रत्येक अर्थ का सरलता से बोध कराने के लिए सूत्रबद्ध अर्थों को निर्युक्तिकार निर्युक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं ।

निर्युक्ति की निक्षेप-कथन शैली

आचार्य वट्टकेर ने प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक आदि जिन छह आवश्यकों का स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसमें प्रत्येक आवश्यक की विवेचन पद्धति की यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि उनका कथन **"निक्षेप"** शैली में किया है ।

"निक्षेप" जैन पारिभाषिक शब्दों में एक विशिष्ट शब्द है, जो इस स्वरूप में अन्यत्र दुर्लभ है । जैनदर्शन में प्रमाण, नय और निक्षेप—इन तीनों अलग-अलग अर्थ के बोधक होने पर भी तीनों की परस्पर अभिसंधि है । आ० देवसेन ने बृहद् नयचक्र (गाथा १७२) में कहा है—

वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थूएयंसं ।
जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं ।।

अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु **'प्रमाण'** का विषय है और उसी सम्पूर्ण वस्तु का एक अंश **'नय'** का विषय है । इन दोनों से निर्णय किया गया पदार्थ **"निक्षेप"** में विषय होता है । वस्तुतः नय और निक्षेप में विषय-विषयी भाव है । जो नयों के द्वारा पदार्थों का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से एक प्रकार का आरोप किया जाता है, उसे "निक्षेप" कहते हैं । इस तरह निक्षेप उपाय स्वरूप है । अर्थात् नाम, स्थापना आदि के द्वारा वस्तु के भेद करने के उपाय को "निक्षेप" कहते हैं इसीलिए आ० पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (१/५/१९) में कहा है—**"निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यते"** अर्थात् किस शब्द का क्या अर्थ है ? यह निक्षेप विधि के द्वारा विस्तार से बताया जाता है ।

षड्खण्डागम की धवला टीका (१/१,१,१/३०-३१) में आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है कि—**श्रोता तीन प्रकार** के होते हैं—१. अव्युत्पन्न श्रोता, २. सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थ के जानने वाले श्रोता तथा ३. एकदेश विवक्षित पदार्थ को जानने वाले श्रोता । इन तीनों प्रकार के श्रोताओं को ध्यान में रखकर ही पदार्थ का वैसा कथन किया जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैसे यदि पर्यायार्थिक दृष्टि वाला अव्युत्पन्न श्रोता है और वह पर्याय विशेष जानने का इच्छुक है तो उसे प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण करने के लिए निक्षेप का कथन करना चाहिए । यदि द्रव्यार्थिक दृष्टि वाला श्रोता द्रव्य सामान्य को जानने का इच्छुक है तो भी प्रकृत पदार्थ के प्ररूपण के लिए सम्पूर्ण निक्षेप कहने चाहिए ।

दूसरे और तीसरे प्रकार के श्रोताओं को यदि सन्देह हो तो उनके सन्देह को दूर करने के लिए अथवा यदि उन्हें विपर्यय ज्ञान हो तो प्रकृत वस्तु के निर्णय के लिए सम्पूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है ।

इस प्रकार **किसी भी पदार्थ की प्ररूपणा में निक्षेप पद्धति का बहुत महत्त्व है** । इसीलिए धवला टीका में पूर्वोक्त विवेचन के आगे कहा है कि—निक्षेपों के बिना प्ररूपित किया गया सिद्धान्त सम्भव है कि वह वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जावे । इसीलिए निक्षेप का कथन करना चाहिए । क्योंकि विशेष ज्ञान कराने का अभिप्राय होने से नाम, स्थापना आदि निक्षेपों का कथन पुनरुक्त नहीं कहलाता ।

मूलाचारगत आवश्यक निर्युक्ति के टीकाकार आ० वसुनन्दि कहते हैं— **"निक्षेपविरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यात् इति निर्युक्ति निक्षेपो वर्ण्यते"** (गाथा १७ की टीका पृ० १३) अर्थात् निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान यदि किया जाता है तो वह वक्ता और श्रोता दोनों को ही उत्पथ (कुमार्ग) में पतित करा देता है, इसीलिए निर्युक्ति में निक्षेप का वर्णन किया जाना आवश्यक है ।

वस्तुतः निक्षेप कथन शैली अर्थ-निर्धारण की एक विशिष्ट पद्धति है । अतः शब्द में नियत एवं निश्चित अर्थ का न्यास करना "निक्षेप" है । इसीलिए शब्दों का इतिहास जानने के लिए निक्षेप एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है । क्योंकि निक्षेप पूर्वक कथन से हम यह ज्ञान कर सकते हैं कि यह शब्द उस समय किन-किन अर्थों में प्रयुक्त होता था ? इस तरह जहाँ शब्द और उसके अर्थ के मध्य की अनेक विसंगतियों को निक्षेप पद्धति से दूर किया जाता है, वहीं प्रतिपाद्य विषयों के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन भी किया जाता है । इससे उन-उन प्रतिपाद्य विषयों का सांगोपांग और सूक्ष्म विवेचन भी सम्भव हुआ है ।

साथ ही तत्कालीन प्रचलित अनेक शब्द और उनके विविध अर्थों के परिज्ञान के साथ ही तत्कालीन संस्कृति, इतिहास, धर्म-दर्शन, सम्प्रदाय और मत-मतान्तरों का अच्छा स्वरूप प्राप्त होता है । इस दृष्टि से निक्षेप एक विशिष्ट

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं वैज्ञानिक व्याख्या पद्धति है । जैनधर्म के प्राण स्वरूप अनेकान्त सिद्धान्त का तो यह व्यावहारिक प्रयोग है ।

निक्षेप के छह भेद—मूलाचारगत आवश्यक निर्युक्ति में प्रत्येक आवश्यक के स्वरूप विवेचन में निक्षेप-कथन-पद्धति को मुख्य आधार बनाया गया है । यथा—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ।।१७।।

अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप होता है । इनका स्वरूप मूलाचार आ० नि० के तद्-तद् स्थलों से जाना जा सकता है ।

यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इस प्रकार निक्षेप के मुख्यत: चार भेद भी हैं । अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु—इन पाँच परमेष्ठी के स्वरूप-कथन में इन्हीं चार प्रकार के निक्षेप को आधार अपनाया गया है । तत्त्वार्थसूत्र (१/५) में भी "नामस्थापनाद्रव्यभावस्तत्स्तन्यास:" इस सूत्र के माध्यम से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार प्रकार के न्यास (निक्षेप) बतलाये हैं । किन्तु मूलाचारगत आ० नि० में पूर्वोक्त छह प्रकार से निक्षेप का कथन किया गया है । सिद्धान्त ग्रन्थों में भी यही पद्धति अपनायी गयी है ।

२. भाष्य—निर्युक्तियों की तरह भाष्य भी प्राकृत पद्यबद्ध होते हैं । जहाँ निर्युक्तियों का उद्देश्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना है, वहीं इन शब्दों में छिपे अर्थ बाहुल्य को अभिव्यक्त करने का कार्य भाष्यकारों ने किया है । वस्तुत: निर्युक्तियों की गूढ़ता एवं संकोचशीलता के कारण आगमों के अनेक गूढ़ार्थों को आगे की ओर सूक्ष्म व्याख्याओं के बिना समझना सरल नहीं होता । अत: निर्युक्तियों के आधार पर और स्वतन्त्र रूप से भी प्राकृत पद्य में जो व्याख्यायें लिखी गयी हैं वे भाष्य के नाम से उपलब्ध हैं ।

भाषा और शैली की दृष्टि से निर्युक्तियों और भाष्य में इतनी समानता और परस्पर इतना सम्मिश्रण है कि कहीं-कहीं इन दोनों के पृथक्करण में काफी कठिनाई होती है । कहीं-कहीं तो समझना कठिन होता है कि यह निर्युक्ति गाथा है या भाष्य । किन्तु इन भाष्यों के अध्ययन से मूल आगमों के गूढ़ विषय और रहस्य बहुत स्पष्ट हो जाते हैं । प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास, सभ्यता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परम्परायें, धर्म-दर्शन आदि के समग्र अध्ययन के लिए ये भाष्य हमें विपुल नये तथ्यों से युक्त सामग्री प्रदान करते हैं, अत: इनका अनुसंधान आवश्यक है ।

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि. सं. ७वीं शती) ने विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्पभाष्य—ये दो भाष्य तथा आ० संघदासगणि ने बृहत्कल्पलघु-भाष्य और पंचकल्पभाष्य—ये भाष्य लिखें हैं । इनके साथ ही आवश्यक सूत्र (इस पर तीन भाष्य उपलब्ध हैं), दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति—इन आगमों पर भी भाष्य उपलब्ध हैं ।

३. चूर्णि—प्राकृत आगमों की संस्कृत मिश्रित प्राकृत बहुल गद्यबद्ध रूप में रचित व्याख्या को चूर्णि कहा गया है । अभिधान राजेन्द्र कोश (चुण्णपद) में चूर्णिपद का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

अत्थ बहुलं महत्थं हेउ-निवाओवसग्गगम्भीरं ।
बहुपायमवोच्छिन्नं गय णयसुद्धं त चुण्णपयं ।।

अर्थात् अर्थ बहुल, महत् अर्थ का धारक, हेतु-निपात और उपसर्ग युक्त, गम्भीर, अनेक पद समन्वित और अव्यवच्छिन्न चूर्णि पद कहलाते हैं । चूर्णि पद का यह लक्षण अर्धमागधी के आगमों पर लिखित चूर्णियों के साथ ही दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी प्राकृत आगमों पर लिखित चूर्णिसूत्रों पर भी लागू होते हैं ।

चूर्णि साहित्य का तुलनात्मक विवेचन—जैन साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग पृ० १७१) में सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री जी के अनुसार—दिगम्बर परम्परा का "चूर्णिसूत्र साहित्य" श्वेताम्बर-परम्परा के "चूर्णिसाहित्य" से स्थापत्य और वर्ण्य-विषय दोनों ही दृष्टियों से भिन्न है। श्वेताम्बर परम्परा की चूर्णियाँ गद्यात्मक और पद्यात्मक मिश्रित शैली में लिखी गयी हैं । इनकी भाषा भी संस्कृत मिश्रित प्राकृत है तथा कतिपय चूर्णियाँ प्राकृत में भी उपलब्ध हैं । इन चूर्णियों की शैली की एक प्रमुख विशेषता आख्यानात्मक उदाहरणों द्वारा विषय के स्पष्टीकरण की है । चूर्णिकार अपनी ओर से कोई सैद्धान्तिक नये तथ्य अंकित नहीं करता, अपितु निर्युक्तियों और भाष्यों द्वारा विवृत तथ्यों की ही पुष्टि करता है ।

दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध चूर्णि मात्र व्याख्या ही नहीं है, अपितु इन्हें यहाँ "चूर्णिसूत्र" की संज्ञा प्राप्त है । अत: इनमें आगम से सम्बन्धित मौलिक तथ्यों की बहुलता है । बीज-पद रूप गाथा सूत्रों पर ये "चूर्णिसूत्र" वृत्ति का भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्य करते हैं । यही कारण है कि आचार्य गुणधर प्रणीत "कसायपाहुड" आगम के जयधवला नामक टीका के लेखक आ० वीरसेन स्वामी ने इसके चूर्णिसूत्रों के भी व्याख्यान लिखे हैं ।

वस्तुत: कसायपाहुड की गाथाओं का सम्यक् अर्थ अवधारण कर आ० यतिवृषभ ने उन पर वृत्तिसूत्र लिखे गये हैं । ये वृत्तिसूत्र ही "चूर्णिसूत्र" के रूप में प्रसिद्ध हैं । इनके अध्ययन से स्पष्ट है कि ये वृत्तिरूप में सांक्षिप्त सूत्र लिखे जाने पर भी अर्थ बहुल पदों का समावेश किया गया है, जिससे चूर्णि सूत्रों में पर्याप्त प्रमेय का समावेश हुआ है । जयधवला (अ०प० ५२) में वृत्तिसूत्र की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है—**"सुत्तस्सेव विवरणाए संखित्तसद्दरयणाए संगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो"** अर्थात् जिसकी शब्द रचना संक्षिप्त से और जिसमें सूत्रगत विशेष अर्थों का संग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रों के विवरण को वृत्तिसूत्र कहते हैं ।

आचार्य यतिवृषभ ने कसायपाहुड के गाथा सूत्रों पर वृत्यात्मक ऐसे सूत्र लिखे, जो बीजपदों के विश्लेषण के साथ प्रसंगगत नये तथ्यों के भी सूचक हैं । चूर्णिसूत्रकार गाथा सूत्रों के बीजपदों का विश्लेषण कई सूत्रों में भी करते हैं । बीजपदों में अन्तर्निहित अर्थ का विश्लेषण जब तक प्रकट नहीं हो जाता, तब तक वे संक्षिप्त रूप में सूत्रों का प्रणयन करते हैं । चूर्णिसूत्र-साहित्य बीजपदों का व्याख्यात्मक तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे भी अनेक पद प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या या वर्णन जानने के लिए सूचनायें (संकेत) भी जगह-जगह दी हैं । वस्तुत: चूर्णिसूत्रों में प्रस्तुत की गई वृत्तियाँ सूत्रात्मक हैं, भाष्यात्मक नहीं ।

जयधवला की मंगल-गाथाओं में आ० यतिवृषभ को "वित्तिसुत्तकत्ता" अर्थात् वृत्तिसूत्रकर्ता कहा गया है । यथा **"सो वित्ति सुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ।"** (क.पा. भाग १, पृष्ठ २) । जयधवला (भाग १, पृ० ५,१२,२७,८८, ९६) में ही चुण्णिसुत्त करके बहुलता से उनका उल्लेख पाया जाता है । इसी प्रकार आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि द्वारा प्रणीत षट्खण्डागम की धवला टीका (.....तेणवि अणुभागसंकमे सिस्साणुग्गहट्ठम चुण्णिसुत्ते लिहिदो–पुस्तक १२ पृ० २३२) में भी चुण्णिसुत्त नाम से उनका निर्देश पाया जाता है ।

आचार्य इन्द्रनन्दि प्रणीत श्रुतावतार में उल्लेख है कि—आ० यतिवृषभ ने उन गाथाओं पर वृत्तिसूत्र सूत्र से छह हजार प्रमाण चूर्णिसूत्रों की रचना की ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार आ० यतिवृषभ रचित तिलोय-पण्णत्ति में स्वयं ने अपनी इस कृति चूर्णि संज्ञा प्रदान की है ।[१]

इस सबसे स्पष्ट है कि चूर्णि साहित्य की यह विधा वृत्त्यात्मक एक ऐसी मौलिक विधा है, जिसमें बीज पदों की वृत्ति के साथ विषय सम्बन्धी नये तथ्य भी संकेतित हैं । इस तरह यह प्रमोद का प्रसंग है कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर—इन दोनों ही परम्पराओं में चूर्णि की इस अति प्राचीन और अति महत्त्वपूर्ण व्याख्या पद्धति युक्त आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं । आचार्य शिवशर्म (पाँचवीं सदी) कृत कर्म सिद्धान्त विषयक **"शतक चूर्णि"** नामक ग्रन्थ अभी मात्र ५५ गाथा-प्रमाण प्रकाशित हुआ है ।

इनका दूसरा ग्रन्थ कम्मपयडि (कर्म-प्रकृति) भी उपलब्ध है, जिसकी ४१५ गाथाओं में बन्धन, संक्रमण, उदय, उदीरण, उपशमन, सत्ता आदि रूप में कर्मसिद्धान्त का बहुत ही उत्तम रीति से विवेचन किया गया है । शतक चूर्णि ग्रन्थ के सम्पादक दिगम्बर परम्परा के क्षुल्लक क्षीरसागरजी ने शिवशर्म का समय ११वीं सदी के पूर्व का माना है ।

अर्धमागधी चूर्णि साहित्य काफी समृद्ध है । अनेक आगमों पर चूर्णियाँ उपलब्ध हैं । अर्धमागधी प्राकृत आगम पर श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य जिनदासगणि महत्तर चूर्णियों के रचयिता माने जाते हैं । इन्होंने निशीथ विशेष चूर्णि, नन्दी, अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग—इन आगमों पर चूर्णियों की रचना की है । इनके अतिरिक्त कुछ और भी आगमों पर चूर्णियाँ उपलब्ध होती है । इस विशाल चूर्णि साहित्य में भी भारतीय संस्कृति, कला, इतिहास विषयक तत्त्वों की विपुल सामग्री विद्यमान है ।

४. संस्कृत टीका साहित्य—वस्तुतः जैनाचार्यों की यह विशेषता आरम्भ से ही रही है कि वे किसी भाषा-विशेष से बंधे नहीं रहे । जिस समय समाज में जिस भाषा का प्राबल्य रहा, और भाषा साहित्य की जैसी माँग रही तदनुसार उन्होंने उसी भाषा में विपुल साहित्य का सृजन किया, ताकि वह साहित्य समय की कसौटी पर सदा खरा उतरे । अतः पूर्वोक्त निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि-साहित्य के बाद जब संस्कृत भाषा का प्रभाव बढ़ा, तब संस्कृत टीकाओं के विपुल साहित्य का प्रणयन जैनाचार्यों ने किया ।

---

१. जैन साहित्य का इतिहास : भाग १, पृष्ठ १७२ (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन-आगमों तथा आगमेतर शास्त्रों पर इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण संस्कृत व्याख्यायें हैं, कि उनका आकलन भी मुश्किल है किन्तु इनके माध्यम से जहाँ आगमों के रहस्यों का मात्र उद्‌घाटन ही नहीं हुआ अपितु उन-उन सिद्धान्तों, तथ्यों और तत्त्वों का विकास (विस्तार) भी बहुत हुआ। इतना ही नहीं, अपितु इनमें तत्कालीन भारतीय संस्कृति, ऐतिहासिक घटनायें एवं साक्ष्य, विभिन्न-धर्म-दार्शनिक मतों के शास्त्रीय मूल अंश, उनकी समीक्षायें, कथानक आदि विपुल सामग्री से ओतप्रोत है।

इन संस्कृत टीकाओं में पूर्वोक्त प्राचीन निर्युक्तियों, भाष्यों एवं चूर्णियों जैसी व्याख्याओं का तो भरपूर उपयोग हुआ ही, साथ ही नये-नये तथ्यों, हेतुओं एवं तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया गया है। पारिभाषिक एवं लोक प्रचलित शब्दों को भी सुरक्षित रखने में इन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। कुछ टीकायें जैसे कसायपाहुड की जयधवला टीका एवं षट्‌खण्डागम की धवला टीका—ये दो मणिप्रवालन्याय की तरह प्राकृत और संस्कृत—दोनों मिश्रित भाषाओं में लिखी हुई उपलब्ध हैं।

जहाँ अर्धमागधी आगम साहित्य पर आ० जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति के रचयिता), आ० हरिभद्र, शीलांकसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि आदि जैसे शताधिक आचार्यों ने संस्कृत टीकायें लिखीं हैं, वहीं शौरसेनी आगम साहित्य पर आचार्य अपराजित, वीरसेन, जिन-सेन, पूज्यपाद, अकलंक, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्द, जयसेन, वसुनन्दि जैसे एक से बढ़कर एक-ऐसे अनेक आचार्यों ने संस्कृत टीकायें लिखीं हैं। इनमें अनेक स्वोपज्ञ वृत्तियाँ भी उपलब्ध हैं, वहीं मूल संस्कृत शास्त्रों पर भी सहस्त्रों टीकायें उपलब्ध हैं।

५. लोकभाषाओं का व्याख्या साहित्य—जैसा कि पहले ही कहा गया है कि जैनाचार्यों ने मूल आगमों तथा इन जैसे मूलशास्त्रों के हार्द को तत्कालीन समाज तक पहुँचाने हेतु जिस युग में जैसी और जो भाषा अत्यधिक प्रभावपूर्ण रही, उन्होंने उसी भाषा में अपने विचार पहुँचाने के हर सम्भव प्रयास किये। इसीलिए जब सामान्य जनजीवन में संस्कृत भाषा बहुत कठिन तथा प्रचलन एवं समझ से बाहर प्रतीत होने लगी तब जैनाचार्यों ने लोक भाषाओं में मूल आगम ग्रन्थों एवं आगम-सम-शास्त्रों पर टीका ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। अर्धमागधी आगम पर गुजराती, राजस्थानी आदि अनेक लोकभाषाओं में विपुल साहित्य उपलब्ध है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह शौरसेनी आगम साहित्य पर रइधू, पाण्डे राजमल, पं. बनारसीदास, पं. टोडरमल, जयचन्द्र छावड़ा, दीपचंद कासलीवाल, पं. सदामुखदास, पं. दौलतराम कासलीवाल, पं. ऋषभदास निगोत्या, पं. पार्श्वदास निगोत्या, देवीदास जैसे शताधिक समर्थ विद्वानों ने भी लोकभाषाओं, विशेषकर ढूंढारी, बुंदेली,बघेली (जयपुरी)जैसी अनेक लोकभाषाओं में टीकायें लिखकर उन क्लिष्ट एवं गम्भीर ग्रन्थों को जनसाधारण के स्वाध्याय हेतु उपलब्ध कराया ।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर तो लोक भाषाओं में प्रचुर मात्रा में व्याख्या साहित्य उपलब्ध है । विशेषकर प्राचीन गुजराती में तो कुछ आचार्यों ने भी आगमों पर सरल एवं सुबोध शैली में बालावबोध लिखे । इन लेखकों में मुख्यत: विक्रम सं. की १६वीं सदी के पार्श्वचन्द्रगणि और अट्ठारहवीं सदी के लोकागच्छीय मुनि धर्मसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है । मुनिधर्मसिंह ने सत्ताईस आगमों पर बालावबोध लिखे । तेरापंथ धर्मसंघ के श्रीमद्जयाचार्य आदि द्वारा भी अनेक आगमों पर लोकभाषा में व्याख्यायें लिखी गई उपलब्ध है, जिनमें से अनेक प्रकाशित है ।

ये सब व्याख्यायें में आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों एवं तत्कालीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता विषयक विविध सामग्री से ओतप्रोत हैं ।

व्याख्या साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निर्युक्तिकार आ० भद्रबाहु

उपलब्ध अर्धमागधी प्राकृत आगम साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, विवृत्ति, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णी, ब्याख्या, पञ्जिका तथा टिप्पण आदि रूप में विपुल व्याख्या-वाङ्मय का सृजन भी हमारे पूर्वाचार्यों ने किया है ।

उस विशाल व्याख्या साहित्य में से यहाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों जैन परम्पराओं में अद्भुत सामञ्जस्य कराने वाले दो आगम-शास्त्रों **मूलाचार** (षडावश्यकाधिकार) और **आवश्यक निर्युक्ति** के प्रमुख अंशों का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है ।

अर्धमागधी प्राकृत आगम पर उपलब्ध विशाल व्याख्या साहित्य में पद्यबद्ध निर्युक्ति नाम से सबसे प्राचीन व्याख्या शैली है । अत: संक्षिप्त शैली में लिखी गई ये निर्युक्तियाँ—भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से काफी प्राचीन है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य भद्रबाहु द्वितीय एकमात्र प्रमुख निर्युक्तिकार हैं, जिन्होंने आवश्यक-निर्युक्ति गाथा (८८) में 'निर्युक्ति' शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है—**'निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती'** अर्थात् जिसके द्वारा सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय होता है, वह निर्युक्ति है ।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (वि.सं. ५-६ शती) एक बहुत ही समर्थ आचार्य थे । इन्होंने अर्धमागधी के आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित—इन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं । किन्तु इनमें से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित ये दो निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध है । यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपलब्ध ओघनिर्युक्ति आवश्यक निर्युक्ति की, पिंडनिर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति की, पंचकल्पनिर्युक्ति बृहत्कल्पनिर्युक्ति की तथा निशीथनिर्युक्ति आचारांगनिर्युक्ति की पूरक है ।

आ० भद्रबाहु प्रणीत आवश्यक निर्युक्ति

आवश्यक निर्युक्ति आ० भद्रबाहु (द्वितीय) की सर्वप्रथम कृति है । महाराष्ट्री मिश्रित अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध यह निर्युक्ति विषय वैविध्य की दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके आधार पर भी परवर्ती अनेक आचार्यों ने भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, विवरण, दीपिका, प्रभृति अनेक व्याख्यायें लिखकर अपनी लेखनी को सार्थक किया ।

आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक, वंदना, चतुर्विंशति स्तव, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान—इन जैन आचारशास्त्र के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय आवश्यकों का विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन है । इसकी आरम्भिक भूमिका रूप ८८० गाथाओं में मात्र उपोद्घात है, जो इस ग्रन्थ का काफी महत्त्वपूर्ण भाग है । इसमें ज्ञान-पंचक, सामायिक, ऋषभदेव-चरित, महावीर-चरित, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित, निन्हव्वाद आदि का विवेचन किया गया है ।

आचार्य भद्रबाहु ने यह निर्युक्ति अपने गुरु-उपदेश और आचार्य परम्परा से प्राप्त मानते हुए लिखा है—

सामाइयनिज्जुत्तिं वोच्छं उवदेसितं गुरूजणेणं ।
आयरिय परंपरएण आगतं आणुपुव्वीए ।।

(आव.नि. गाथा ८१/२ खण्ड १, पृ. ३३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार के षडावश्यकाधिकार गत आवश्यकनिर्युक्ति और आ० भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति की अनेक गाथायें समान मिलती है । मूलाचारकार आचार्य वट्टकेर ने भी इस अधिकार को आवश्यक निर्युक्ति कहकर इसे भी आचार्य परम्परा और आनुपूर्वी से कथित एवं प्राप्त मानते हुए कहा है—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकयं समासेण ।
आयरिय परंपराए जहा गदा आणुपुव्वीए ।। मूलाचार ७/२

इस दृष्टि से कुछ विद्वानों का यह कथन नितान्त भ्रामक है कि निर्युक्ति साहित्य की विशाल श्रुतराशि केवल श्वेताम्बर परम्परा में ही उपलब्ध है; क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार पर हम अब यह साधिकार सप्रमाण कह सकते हैं कि दिगम्बर परम्परा में भी शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित मूलाचार ग्रन्थ के अन्तर्गत सप्तम षडावश्यक अधिकार के रूप में प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति भी विद्यमान है ।

मूलाचार, इसकी आवश्यकनिर्युक्ति और कर्ता वट्टकेर

श्रमणाचार विषयक शौरसेनी प्राकृत भाषा के एक प्राचीन बहूमूल्य ग्रन्थ 'मूलाचार' और इसके अन्तर्गत आवश्यकनिर्युक्ति के यशस्वीकर्ता आचार्य वट्टकेर का इस क्षेत्र में अनुपम योगदान है । मूलाचार उनकी एक मात्र उपलब्ध कृति है । दिगम्बर जैन परम्परा में आचारांग के रूप में प्रसिद्ध श्रमणाचार विषयक मौलिक, स्वतन्त्र, प्रामाणिक एवं प्राचीन मूलाचार नामक यह ग्रन्थ दूसरी शती के आसपास की रचना है । यद्यपि अन्य कुछ प्रमुख आचार्यों की तरह आ० वट्टकेर के विषय में भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनकी अनमोल इस कृति के अध्ययन से ही आचार्य वट्टकेर का बहुश्रुत सम्पन्न व्यक्तित्व एक उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्यवर्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है ।

दक्षिण भारत में वेट्टकेरी स्थान के निवासी आचार्य वट्टकेर दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ के प्रमुख आचार्य थे । उन्होंने मुनिधर्म की प्रतिष्ठित परम्परा को दीर्घकाल तक यशस्वी और उत्कृष्ट रूप में चलते रहने और दिगम्बर मुनि दीक्षा धारण करने वाले दीक्षार्थियों एवं मुनियों को अपनी आचार पद्धति एवं नियम-उपनियमों की विस्तृत जानकारी प्राप्ति हेतु, ताकि मुनिधर्म ग्रहण का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त हो, इसी मूल उद्देश्य की प्राप्ति हेतु 'मूलाचार' नामक ग्रन्थ की स्वतन्त्र रचना की, जिसमें श्रमण-निर्ग्रन्थों की आचार-संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है ।[१]

---

१. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन : प्रास्ताविक (लेखक–डॉ. फूलचन्द प्रेमी) ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलसंघ के श्रमणों-मुनियों का जिस प्रकार का आचार-विचार व्यवहार और चर्या होना चाहिए, वैसा ही प्रतिपादन मूलाचार में किया गया है । वस्तुत: प्रथम मूल अंग-आगम आचारांग में श्रमणाचार का ही प्रतिपादन तीर्थंकर महावीर के वचनों के माध्यम से किया गया था ।

मूलाचार के व्याख्याकार आचार्य वसुनन्दि ने अपनी आचारवृत्ति के आरम्भिक उपोद्घात में कहा है—....आचाराङ्गमाचार्यपारम्पर्य प्रवर्तमानमल्प-बलमेधायु:शिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकाम: स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्ध-कार्यप्रत्यूहनिराकारणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्य:.....मंगल पूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते.....।

अर्थात् आचार्य परम्परा से चला आ रहा **प्रथम अंग आगम-आचारांग** का अल्पशक्ति, अल्पबुद्धि और अल्पआयु वाले शिष्यों के लिए इस मूलाचार का बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओं के प्रारम्भ किये गये कार्यों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को धारण करते हुए श्री वट्टकेराचार्य मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं ।

इस प्रसंग में डॉ. ज्योति प्रसाद जैन का यह कथन (भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार का प्रधान सम्पादकीय वक्तव्य) सही प्रतीत होता है कि— आचार्य कुन्दकुन्द के ज्येष्ठ लोहाचार्य (ईसा पूर्व १४ वर्ष) श्रुतधराचार्य की परम्परा के अन्तिम आचारांगधारी थे । सम्भव है कि उन्हीं से आचारांग का ज्ञान प्राप्त करके उनके शिष्य वट्टकेर ने मूलसंघ की आम्नाय के मुनियों के हितार्थ बारह अधिकारों में उपसंहार करके मूलाचार का रूप दिया हो ।

इस प्रकार **आचारांग का सार है यह मूलाचार** । इसीलिए आरम्भ से वर्तमान काल तक के दिगम्बर परम्परा में दीक्षित साधुओं के लिए तो यही मूलाचार आचारांग की तरह आदर्श रूप है । क्योंकि दिगम्बर जैन मुनियों के सांगोपांग आचार का प्रतिपादक यही एकमात्र प्रथम प्राचीन और प्रामाणिक आगम-ग्रन्थ है । परवर्ती-प्राय: सभी श्रमणाचार विषयक ग्रन्थों का भी मूलाधार यही ग्रन्थ है । मूलाचार न केवल श्रमणाचार विषयक ग्रन्थ है, अपितु ज्ञान-ध्यान-तप और संयम-साधना में दत्तचित्त रहने वाले मुनियों को करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग विषयक ज्ञान में भी यही मूलाचार पारंगत बना देता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्दकृत नहीं है—

मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द के कुछ ग्रन्थों की गाथायें समान मिलने और मूलाचार के आचार्य वसुनन्दिकृत वृत्ति की कुछ अर्वाचीन पाण्डुलिपियों में आचार्य कुन्दकुन्द कृत होने के आधार पर मूलाचार को भी कुछ विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है, किन्तु इन दोनों में अनेक असमानताओं के कारण ऐसा है नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द वृत्तिकार तथा ऐलाचार्य के रूप में भी प्रसिद्ध है। इन आधारों पर भी वट्टकेर और कुन्दकुन्द को कुछ विद्वानों ने एक ही आचार्य सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु यह भी खींचतान मात्र ही है। अत: मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द कृत मानने का कोई आधार ही नहीं बनता, दोनों में परस्पर भिन्नता भी है। अत: मूलाचार 'वट्टकेर' इस उपनाम (निवास स्थान का सूचक होने) से प्रसिद्ध एक समर्थ जैनाचार्य की स्वतन्त्र एवं मौलिक रचना है। आचार्य कुन्दकुन्द या अन्य किसी आचार्य की यह रचना नहीं है।

संग्रहग्रन्थ भी नहीं है मूलाचार—

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आगम ग्रन्थों की गाथाओं से मूलाचार की कुछ गाथाओं की समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे 'संग्रह-ग्रन्थ' भी सिद्ध करने का प्रयास किया था किन्तु यह तथ्य है कि तीर्थंकर महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, उस समय समागत श्रुत दोनों ही परम्पराओं के आचार्यों को कंठस्थ था। अत: उन दोनों ने समान रूप से उसका उपयोग प्रसंगानुसार अपनी-अपनी रचनाओं में किया, इसीलिए कुछ समानताओं के आधार पर ही किसी मौलिक एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ को 'संग्रह-ग्रन्थ' कह देना उस सम्पूर्ण विरासत के साथ अन्याय ही कहा जायेगा।

कुछ समानताओं वाले अनेक प्राचीन ग्रन्थ तो हमें उस परम्परा के प्राचीनतम उन स्रोतों को खोजने का अवसर प्रदान करते हैं, जो तीर्थंकर महावीर की साधना और उनके श्रमण संघ की आचार संहिता से सीधे जुड़े थे। क्योंकि अर्धमागधी आगमों में श्रमणाचार के जिन नियमों और उपनियमों को निबद्ध किया गया है तथा शौरसेनी प्राकृत भाषा के इस मूलाचार में श्रमण की जो आचार संहिता निबद्ध है, इन दोनों की तात्त्विक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। अहिंसा के जिस मूल धरातल पर श्रमणाचार का महाप्रासाद अर्धमागधी आगम में निर्मित है, उसी अहिंसा के मूल धरातल पर शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध मूलाचार में भी श्रमणाचार का विशाल भवन निर्मित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि से मूलाचार को आचारांग के आधार पर ही निर्मित माना गया है । मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दि और सकलकीर्ति के कथनों से इस बात का समर्थन भी होता है । इसीलिए आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की अपनी धवला टीका में तथा आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में मूलाचार का आचारांग के नाम से उल्लेख करते हुए इन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में मूलाचार की गाथाओं को उद्धृत किया है ।

आचार्य वट्टकेर ने स्वयं इसी आवश्यक निर्युक्ति (षडावश्यकाधिकार) के अन्त में एक गाथा के माध्यम से कहा भी है—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ।।१८८।।

अर्थात् मैंने (आचार्य वट्टकेर ने) यह निर्युक्ति संक्षेप में कही है । इसे अधिक विस्तार से अनियोग—(आचारांग संस्कृत टीकाकार आ० वसुनन्दि के अनुसार) आगम से जानना चाहिए ।

मूलाचार : मूलसंघ का एक प्रतिनिधि आगमशास्त्र—

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रथम मूल-अंग-आगम आचारांग के आधार पर मूलाचार की रचना हुई, इसीलिए इसका नाम भी 'मूलाचार' प्रसिद्ध हुआ और तदनुसार उस श्रमणसंघ के आचार का प्रतिपादक होने से उस संघ का नाम 'मूलसंघ' प्रचलित हुआ जान पड़ता है, जो कि दिगम्बर परम्परा का सर्वाधिक प्राचीन और प्रमुख संघ है, जिसकी परम्परा आज भी यहाँ प्रमुखता से प्रचलित है और प्राय: सभी दिगम्बर जैनसंघ अपने को इसी मूलसंघ की परम्परा का अनुयायी मानते हैं । इसीलिए मूलसंघ का प्रतिनिधि आदर्श ग्रन्थ है यह मूलाचार ।

मूलाचार के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि पाँचवें श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के समय जो दुर्भिक्ष पड़ा, उसके प्रभाव से श्रमणाचार में जो शिथिलता आई थी, उसे देखकर श्रमणों को अपने आचार-विचार एवं व्यवहार आदि की विशुद्धता का समग्र एवं व्यवस्थित रूप में श्रमण-धर्म के सम्पूर्ण आचार-विचार का निरूपण इसमें हमें मिलता है, वैसा अन्य श्रमणाचार-परक प्राचीन ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता ।

इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम मूलाचार पड़ा और तदनुसार तीर्थंकर महावीर का मूल परम्परानुसार-आचार के प्रतिपादक शास्त्र (मूलाचार) के अनुसार ही श्रमणसंघ का प्रवर्तन कराने से उनके संघ का नाम भी "मूलसंघ" प्रचलित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हुआ । क्योंकि शिथिलाचारपरक वृत्ति को रोकने हेतु ग्रन्थकार ने पदे-पदे श्रमण को सावधान किया है तथा वैयावृत्य के प्रसंग में आ० भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त के समय हुए उक्त दुर्भिक्ष का मूलाचार में संकेत भी किया है, जिसमें कहा गया है कि दुर्भिक्षादि से प्रभावित और पीड़ित श्रमणों की वैयावृत्त्य करना चाहिए । आचार्य वट्टकेर ने एकाकी विहार (श्रमण संघ छोड़कर अकेले विचरण करने) का दृढ़ता से निषेध करते हुए कहा है—**''सच्छंदजं परोचि य मा मे सत्तवि एगागी''** (मूलाचार ४/१५०) अर्थात् स्वछन्द प्रवृत्ति करने वाला कोई भी श्रमण मेरा शत्रु भी हो तो वह भी एकाकी विहार न करे ।

आचार्य वट्टकेर का समय और उनका सारसमय ग्रन्थ

इस सब उल्लेख से ऐसा भी ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त दुर्भिक्ष आदि के समय एकाकी विहार की शिथिलाचार-प्रवृत्ति बढ़ रही होगी या आगे बढ़ न जाए, इसीलिए आ० वट्टकेर को एकाकी विहार का इतने कड़े शब्दों में निषेध करना पड़ा । विशेषकर उत्तर भारत में पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम (समय-ईसा पूर्व चतुर्थ सदी का मध्य) के समय दुर्भिक्ष पड़ा । मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने कौटिल्य, आसुरक्ष, महाभारत, रामायण, रक्तपट (बौद्ध), चरक, तापस, परिव्राजक आदि के नामोल्लेख भी किये हैं । इनमें कुछ विद्वानों के अनुसार कौटिल्य का समय ईसा पूर्व तीसरी शती है ।

बौद्धमत के रक्तपट शाखा मात्र की ही सूचना दी है, जबकि बाद में इसकी अनेक शाखा-प्रशाखायें विकसित हुई हैं, अतः लगता है कि आचार्य वट्टकेर के समय तक इनकी अन्य शाखाओं का उदय नहीं हुआ होगा ।

इस सबसे स्पष्ट है कि आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार की रचना भी ईसा की दूसरी सदी के आसपास की होगी । जैन लक्षणावली (भाग २) की ग्रन्थकारानुक्रमणिका में आचार्य वट्टकेर का समय विक्रम की दूसरी सदी माना है । भाषा, विषय प्रतिपादन शैली आदि ग्रन्थ के अन्तःपरीक्षण से भी इनका समय दूसरी सदी के आसपास का ही स्थित होता है । छठीं-सातवीं सदी के आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में तथा आ० वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका में मूलाचार की गाथायें उद्धृत की हैं ।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य वट्टकेर अपने समय के बड़े ही युगप्रवर्तक प्रभावक आचार्य रहे । यद्यपि इस समय उनकी यही 'मूलाचार' एकमात्र कृति उपलब्ध है, किन्तु इस एकमात्र महान् कृति ने ही उन्हें शौरसेनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत साहित्य, मूलसंघ एवं श्रमणाचार के आगम-सम्मत प्ररूपक के रूप में महान् गौरवशाली आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित एवं पूज्य बना दिया है ।

सारसमय ग्रन्थ—मूलाचार के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि आ० वट्टकेर अपनी एक "**सारसमय**" नामक अन्य कृति का भी यहाँ उल्लेख किया है । यथा—

एवं तु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मया किंचि ।
णियमादु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादे ।।

(मूलाचार-१२/१४३)

किन्तु "**सारसमय**" नामक उनकी यह कृति अब तक कहीं या किसी शास्त्र भण्डार में उपलब्ध नहीं हुई और कहीं इसका उल्लेख भी नहीं है । वृत्तिकार ने आ० वसुनन्दि ने सारसमय की पहचान व्याख्याप्रज्ञप्ति से की है । किन्तु जिस विषय को आचार्य वट्टकेर ने अपने सारसमय ग्रन्थ से ज्ञातकर लेने की बात कही है, वैसा कुछ अर्धमागधी व्याख्याप्रज्ञप्ति में नहीं है ।

आ० वट्टकेर का व्यक्तित्व—मूलाचार के गहन अध्ययन से आचार्य वट्टकेर का बहुश्रुत व्यक्तित्व एवं उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है । वे मूलसंघ की परम्पराओं के पोषक उत्कृष्ट चारित्रधारी एक महान् दिगम्बर आचार्य थे, जिन्होंने अपने अपूर्व संयमी और दीर्घ तपस्वी जीवन की सम्पूर्ण अनुभूतियों का यत्र-तत्र सचित्र चित्रण भी किया है । वे दक्षिण भारत (बेट्टकेरी स्थान) के निवासी थे । उनका सम्भवत: मूल-नाम और कुछ रहा होगा, किन्तु इस क्षेत्र में विचरण या जन्म के कारण उनका क्षेत्र विशेष के नाम पर "**वट्टकेर**" नाम ही प्रसिद्ध हो गया और मूलनाम विस्मृत हो गया लगता है ।

वैसे भी दक्षिण भारत में अपनी जन्मभूमि स्थल वाले गाँव आदि विशेष के नाम के साथ अपना नाम लिखने की प्रथा आज भी देखी जा सकती है । जैसे—'सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ।' पूर्व राष्ट्रपति के नाम के साथ "सर्वपल्ली" यह उनके मूल निवास-स्थल ग्राम का नाम है ।

उन्होंने एक निश्चित रूपरेखा के आधार पर मूलाचार की ऐसी रचना की जो आज तक और आगे भी श्रमणों के आचार हेतु दीपस्तम्भ का कार्य करता रहेगा । क्योंकि मूलाचार में श्रमणाचार विषयक एक ऐसा संविधान है, जिसमें सच्चे श्रामण्य की सर्वांगपूर्व रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, जिसके आधार पर सभी श्रमण रत्नत्रय पाकर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार के बारह अधिकार

मूलाचार में—१. मूलगुण, २. बृहत्प्रत्याख्यान संस्तरस्तव, ३. संक्षेप प्रत्याख्यान संस्तरस्तव, ४. समाचार, ५. पंचाचार, ६. पिण्डशुद्धि, ७. षडावश्यक, ८. द्वादशानुप्रेक्षा, ९. अनगार-भावना, १०. समयसार, ११. शील-गुण, १२. पर्याप्ति—ये बारह अधिकार हैं, जिनमें कुल १२५२ गाथायें हैं। कुछ अन्यान्य संस्कारों के आधार पर गाथा संख्या में कुछ अन्तर है।

ये सभी बारह अधिकार परस्पर सम्बद्ध होकर क्रमबद्ध रूप में मुनिधर्म का उत्तरोत्तर विवेचन करते हैं फिर भी इस ग्रन्थ का प्रत्येक अधिकार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी रूप लिये हुए हैं। यदि प्रत्येक अधिकार को अलग-अलग प्रकाशित करके इनका अध्ययन हो तो भी उनमें से प्रत्येक अधिकार में अपने-अपने विषय का सम्पूर्ण ग्रन्थ ही लगता है। इसके सातवें **षडावश्यक अधिकार** का ही उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है।

इसका प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है और अन्त भी उपसंहारात्मक शैली में हुआ है। इसके प्रारम्भ में ही आचार्य ने प्रतिज्ञा की है कि मैं अब **'आवश्यक निर्युक्ति'** का कथन कह रहा हूँ और फिर इस पूरे अधिकार में छह आवश्यकों का क्रमशः भेद-प्रभेद सहित सारभूत अच्छा विवेचन किया गया है। इस प्रकार इसके महत्त्व को देखते हुए इसे **"आवश्यक निर्युक्ति"** इस नाम से ही स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है।

मूलाचार के प्रथम अधिकार में अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। यहाँ कहा गया है कि श्रमणाचार रूप वृक्ष के लिए जो मूल (जड़) के समान हो वे मूलगुण है। ये श्रमणधर्म की आधारशिला है। सम्पूर्ण मुनिधर्म अट्ठाईस मूलगुणों से सिद्ध है। इनमें न्यूनाधिकता रहने पर साधक को श्रमणधर्म से च्युत माना गया है।

मूलाचार का अन्तिम अधिकार है—'पर्याप्ति'। इसमें पर्याप्ति, मार्गणा, जीवसमास, गुणस्थान तथा अधोलोक (नरक) ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) मध्यलोक और इनके निवासी जीवों का विविध रूप से तथा अन्यान्य करणानुयोग विषयक उन जैन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जो आचार्य वट्टकेर को इन विषयों का ज्ञान अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था।

इस तरह आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार के माध्यम से मात्र श्रमण-परम्परा को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीयता को वह आचार संहिता प्रदानकर महनीय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

योगदान किया है, जिसके कारण हमारा यह भारत देश सदा से ही गौरवान्वित रहा है ।

मूलाचार पर उपलब्ध-अनुपलब्ध व्याख्या-साहित्य

शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध मूलाचार श्रमणाचार विषयक एक ऐसा प्राचीन एवं प्रामाणिक श्रेष्ठ मूल ग्रन्थ है, जिससे दिगम्बर परम्परा के तद्विषयक प्राय: सभी परवर्ती ग्रन्थ इससे प्रभावित अथवा इसके आधार पर लिखे गये दृष्टिगोचर होते हैं । मूलाचार पर कुछ व्याख्याग्रन्थ (टीकाएँ) तो लिखी ही गयीं, साथ ही इसको मूल आधार बनाकर जिन ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना हुई, उनमें अनगार-धर्मामृत (पं. आशाधर प्रणीत), आचारसार (आ० वीरनन्दि प्रणीत), चारित्रसार (चामुण्डरायकृत), मूलाचार-प्रदीप (भट्टारक सकलकीर्ति प्रणीत) आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिन पर मूलाचार का पदे-पदे स्पष्ट प्रभाव है ।

यहाँ मूलाचार पर उपलब्ध-अनुपलब्ध टीका (व्याख्या) ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है—

१. आचार्य वसुनन्दि एवं उनकी आचारवृत्ति

आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती की मूलाचार पर 'आचारवृत्ति' नामक सर्वार्थसिद्धि टीका संस्कृत भाषा में लिखी गयी उपलब्ध है । यह एक श्रेष्ठ और प्रामाणिक वृत्ति है । जिसमें प्रत्येक गाथा के गहन विषयों का बहुत ही सरल-सहज ढंग से स्पष्टीकरण किया गया है । वस्तुत: मूलाचार जैसे मूलग्रन्थ के विषयों को हृदयंगम करने वालों में इनका अग्रणी स्थान है । इनकी यह आचारवृत्ति इतनी प्रसिद्ध और सरल है कि सामान्य जन भी इसका सुगमता से अध्ययन कर लेते हैं । गूढ विषय को स्पष्ट करते हुए चलना और अपनी सहज एवं सरल भाषा में ग्रन्थकार के भावों को प्रकट कर देना, यह वसुनन्दि की मुख्य विशेषता है ।

वसुनन्दि श्रावकाचार ग्रन्थ के अन्त में (गाथा सं. ५४०-५४४) दी गयी प्रशस्ति के आधार पर ही आचार्य वसुनन्दि के विषय में मुख्यत: जानकारी मिलती है । आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए हैं । उनके शिष्य नयनन्दि और उनके शिष्य नेमिचन्द्र के प्रसाद से वसुनन्दि ने इस ग्रन्थ की रचना की ।

प्रशस्ति में ग्रन्थ-रचना का समय नहीं दिया । किन्तु वसुनन्दि के दादा गुरु (नयनन्दि) ने वि.सं. ११०० में 'सुदंसण चरिउ' (सुदर्शन चरित्र) नामक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखा । इस आधार पर कुछ विद्वान् आचार्य वसुनन्दि का समय १२वीं शती का पूर्वार्ध अथवा १२वीं शती का अन्तिम भाग मानते हैं । क्योंकि आचार्य अमितगति (११वीं शती) के उपासकाचार से पाँच श्लोक आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचारवृत्ति में उद्धृत किये हैं । किन्तु इनके ग्रन्थों की भाषा, शैली और विषय प्रतिपादन आदि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये इस काल से भी पूर्व के आचार्य थे । इनके समय-निर्धारण की दिशा में अनेक दृष्टिकोणों से शोध की आवश्यकता है ।

आ० वसुनन्दि की रचनायें-इनके द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थों में मूलाचार वृत्ति के साथ ही आप्तमीमांसा-वृत्ति, जिनशतकटीका, प्रतिष्ठासार-संग्रह—ये सभी संस्कृत में एवं उपासका-ध्ययन अपरनाम वसुनन्दि श्रावकाचार जोकि शौरसेनी प्राकृत भाषा में लिखित है । इनके अतिरिक्त तच्चवियारो सारो (तत्त्व-विचार) ग्रन्थ भी इन्हीं की कृति मानी जाती है, जो कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है ।

वैशिष्ट्य—मूलाचार की इनकी आचारवृत्ति के प्रारम्भ में उल्लेख है कि आचारांग की पदसंख्या १८ हजार प्रमाण थी, उसका संक्षेप आचार्य वट्टकेर ने किया और उस पर इन्होंने १२ हजार श्लोकप्रमाण आचारवृत्ति लिखी । आपकी इस संस्कृत आचारवृत्ति के अनुसार मूलाचार में १२५२ गाथायें हैं । इस टीका ने जहाँ मूलाचार के अध्ययन को सरल बनाया है, वहीं श्रमणाचार परक अनेक गूढ़ विषयों, पारिभाषिक शब्दों का प्रामाणिक विधि से स्पष्ट विवेचन किया है । अनेक गाथाओं के मूल प्राकृत शब्दों के आधार पर व्याख्या की । इससे मूल गाथाओं के प्राकृत शब्द सुरक्षित हुए हैं ।

इसकी महत्ता तब और बढ़ जाती है, जब मूल-गाथा और वृत्ति में सुरक्षित उसी गाथा के शब्दों में अन्तर दिखलाई देता है । पारिभाषिक शब्दों का अर्थ इतने अच्छे एवं सटीक रूप में दिया गया है कि यदि इन परिभाषाओं का संग्रह कर लिया जाए तो जैन सिद्धान्तों का एक बृहद्-कोश बन सकता है । इस आचारवृत्ति से जहाँ जैन सिद्धान्तों, संस्कृत व्याकरण आदि के गहन अध्ययन और ज्ञान का पता चलता है, वही इनके अनेक जैन एवं जैनेतर शास्त्रों तथा विधाओं के व्यापक अध्ययन की भी अच्छी जानकारी प्राप्त होती है । इसीलिए स्वाध्याय हेतु इसका लोकप्रिय प्रचलन और प्रसिद्धि में प्रस्तुत वृत्ति अग्रणी है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. भट्टारक सकलकीर्ति कृत मूलाचार प्रदीप

मूलाचार के एक और व्याख्याता भट्टारक आचार्य सकलकीर्ति हैं । इन्होंने इसके आधार पर 'मूलाचार-प्रदीप' नामक संस्कृत भाषा में विस्तृत स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा । इनका समय विक्रम की १५वीं शती माना जाता है । डॉ. विन्टरनिट्ज ने इनका स्वर्गारोहण लगभग १४६४ ई. माना है । ज्ञानार्णव की प्रशस्ति के अनुसार इन्होंने अपनी लीला मात्र से शास्त्र समुद्र को भली प्रकार बढ़ाया । वैसे १९वीं शती के सकलकीर्ति नामक एक दूसरे भट्टारक विद्वान् भी हुए हैं । किन्तु १५वीं शती के उपर्युक्त भट्टारक सकलकीर्ति अद्भुत प्रतिभा के धनी और बहु-शास्त्र वेत्ता थे । ज्ञानार्णव की ही प्रशस्ति के अनुसार आप भट्टारक पद पर आरूढ़ होते ही अपनी तेजस्वी प्रतिभा के सदुपयोग हेतु बड़ी आसानी से जैन साहित्य भण्डार की श्रीवृद्धि में लग गये ।

इनकी लेखनी बहुमुखी रही, अत: इन्होंने प्राय: सभी विषयों पर कई भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना की । संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी जैसी अनेक भाषा-भाषाओं पर इनका समान अधिकार था । गुजरात और बागड़ आदि क्षेत्रों में जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार भी इन्होंने किया ।

भट्टारक सकलकीर्ति ने अपने **मूलाचार प्रदीप** में प्राय: उन सभी विषयों का विस्तृत वर्णन किया है, जिनका प्रतिपादन आचार्य वट्टकेर ने अपने मूलाचार में किया । मूलाचार के आधार पर लिखे जाने पर भी आचार्य सकलकीर्ति का यह मूलाचार-प्रदीप ग्रन्थ ३००० से भी अधिक संस्कृत पद्यों से युक्त स्वतन्त्र कृति जैसा लगता है । इसमें कहा है कि मैं (आचार्य सकलकीर्ति) इष्टदेवों को नमन करके शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर मूलाचार जैसे महान् ग्रन्थों में कहे हुए आचारों में प्रवृत्ति हेतु तथा स्वयं का और मुनियों का हित करने के लिए शुद्धाचार स्वरूप का प्ररूपक मूलाचार प्रदीप नामक महाग्रन्थ की रचना करता हूँ ।

विशेष ज्ञातव्य है कि मूलाचार के पर्याप्ति नामक १२वें अधिकार के करणानुयोग के विषयों का मूलाचार प्रदीप में विवेचन नहीं किया गया ।

३. आचार्य मेघचन्द्रकृत मूलाचार-सद्वृत्ति

मूलाचार के तीसरे व्याख्याकार आचार्य मेघचन्द्र हैं । इन्होंने इस पर कर्नाटक 'मूलाचार सद्वृत्ति' की रचना की । यह दक्षिण भारत के शास्त्र-भण्डारों में उपलब्ध मानी जाती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. मुनिजन चिन्तामणि

चतुर्थ कर्नाटक टीका 'मुनिजन चिन्तामणि' नाम से मिलती है, इसमें मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य की रचना बताया है। यह दक्षिण भारत शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध है।

५. मेधावी कवि कृत मूलाचार टीका

एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल (कलकत्ता) से अपने पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की 'लिस्ट ऑफ जैना एम.एस.एस.' को (ग्रन्थ क्रमांक १५२१) देखने से ज्ञात होता है कि मेधावी कवि द्वारा रचित भी एक अन्य 'मूलाचार टीका' है। वैसे १६वीं शती के मेधावी कवि द्वारा लिखे धर्मसंग्रह-श्रावकाचार प्रसिद्ध ही है। इन्हीं कवि का उक्त टीका ग्रन्थ भी सम्भव है। पर इसके विषय में अन्यत्र कहीं भी अभी तक उल्लेख देखने में नहीं आया।

६. मूलाचार भाषावचनिका

जिस पुरानी हिन्दी (जयपुर की ढूंढारी भाषा) के प्रमुख सहयोग से प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद किया गया है, उस मूलाचार भाषा-वचनिका ग्रन्थ का परिचय भी अत्यावश्यक है। सन् १९९० के पूर्व तक इसके विषय में किसी को जानकारी नहीं थी। यह एक अति महत्त्वपूर्ण बृहद् ग्रन्थ इसलिए भी है क्योंकि इस दुर्लभ हस्तलिखित शास्त्र का पहली बार उद्धार अर्थात् सम्पादन और प्रकाशन का सौभाग्य हम दोनों को ही प्राप्त है। यद्यपि हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर ऐसे ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन बहुत ही श्रमसाध्य कार्य है। किन्तु इन कार्यों में श्रुतसेवा की भावना रहती है, अत: इसका प्रकाशन देखकर अपार आनन्द की अनुभूति हुई।

वस्तुत: अजमेर एवं देहरा तिजारा (अलवर) के जैनशास्त्र भण्डारों से हमें (डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी एवं मेरी सहधर्मिणी श्रीमती डॉ. मुन्नीपुष्पा जैन को) सन् १९९० में यहाँ की यात्रा प्रसंग में इस शास्त्र की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं। हमने यहाँ से इनकी जिराक्स प्रतियाँ लीं और बाद में हमने इसका सम्पादन कार्य लगभग चार-पाँच वर्षों तक निरन्तर काफी परिश्रम से करके बृहद् ग्रन्थ के रूप में आ० वट्टकेर की मूल शौरसेनी प्राकृत गाथाओं के साथ आचार्य वसुनन्दि की संस्कृत आचारवृत्ति एवं भाषावचनिका के साथ सन् १९९६ में प्रकाशित कराया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस वचनिका के लेखक १८-१९वीं शती के जयपुर के विद्वान् पं. जयचन्द जी छावड़ा के ज्येष्ठ विद्वान् सुपुत्र पं. नन्दलाल जी कवि हैं । ये मूलाचार ग्रन्थ के आरम्भ से षष्ठ पिण्डशुद्धि-अधिकार की १५ गाथाओं तक की भाषावचनिका लिख पाये थे कि इनका अचानक निधन हो गया । तब इनके बाद इनकी इस अपूर्ण वचनिका को इन्हीं के मित्र पं. ऋषभदास निगोत्या ने जयपुर में ही कार्तिक शुक्ला सप्तमी दिन शुक्रवार वि.सं. १८८८ को पूरा किया ।

यह भाषा-वचनिका आचार्य वसुनन्दि की संस्कृत आचारवृत्ति के ही आधार पर ही लिखी गयी है, जो पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी के शिष्योत्तम आचार्य भरतसागर जी महाराज की प्रेरणा से भा० अनेकान्त विद्वत् परिषद् की ओर से सन् १९९६ में प्रकाशित है । बड़े आकार में लगभग १००० पृष्ठ का यह बृहद् ग्रन्थ स्वाध्याय हेतु तो बहुत लोकप्रिय हुआ ही साथ ही उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ ने इसके श्रेष्ठ सम्पादन कार्य पर इसके विद्वान् सम्पादक-द्वय को सन् १९९६ में उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल मा० श्री सूरजभान जी द्वारा लखनऊ के राज-भवन में आयोजित विशेष समारोह में माननीय राज्यपाल ने विशिष्ट पुरस्कार से भी पुरस्कृत कर गौरव बढ़ाया ।

मूलाचार भाषा-वचनिका का वैशिष्ट्य

प्रस्तुत भाषा-वचनिका का पहली बार प्रकाशन है । इसके अध्ययन से इसकी अनेक विशेषतायें सामने आयी है । इसके कर्ता पं. नन्दलाल जी छावड़ा ने आरम्भ में इसका जो मंगलाचरण प्रस्तुत किया है, उसमें नवदेवताओं की वन्दना के बाद मूलाचार ग्रन्थ के कर्ता और इसकी संस्कृत आचारवृत्ति के कर्ता को नमन करते हुए भाषावचनिका के लेखन की प्रतिज्ञा की है । यथा—

दोहा— **बंदौ श्री जिनसिद्धपद आचारिज उवझाय ।**
साधु-धर्म-जिनभारती-जिन-गृह-चैत्य-सहाय ।।१।।
वट्टकेर स्वामी प्रणमि नमि वसुनंदी सूरि ।
मूलाचार विचारिकै भाषौं लषि गुणभूरि ।।२।।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पंच परमेष्ठी, ६. दसधर्म या जिनधर्म, ७. जिनभारती (जैनागम), ८. जिनगृह (जिन मंदिर) तथा ९. जिन चैत्य (जिनेन्द्रप्रतिमा)—**ये जैनधर्म में नवदेवता माने गये हैं,** जिनकी नित्य पूजा-वन्दना का विधान है । अत: भाषा-वचनिकाकार ने सर्वप्रथम इन नवदेवताओं का स्तवन-नमन किया है । बाद में मूलग्रन्थकर्ता मूलाचारकार आचार्य वट्टकेर के अनन्तर इसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दि को नमन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किया है । भाषावचनिका लेखन की प्रतिज्ञा के बाद चूँकि पं. नन्दलाल जी स्वयं एक गृहस्थ-श्रावक विद्वान् हैं । अत: एक गृहस्थ द्वारा मुनियों के आचार सम्बन्धी ग्रन्थ पर लेखनी चलाने के औचित्य की सिद्धि की है । इसके बाद उन्होंने श्रमणाचार विषयक ग्रन्थ और उनके कर्ता की सूचनायें दी हैं । जैसे–मूलाचार वट्टकेर स्वामी कृत, इसकी वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत आचारवृत्ति टीका, चामुण्डराय कृत चारित्रसार, आचार्य सकलकीर्तिकृत मूलाचार प्रदीपक ।

इसके बाद मूलाचार के सम्पूर्ण बारह अधिकारों में क्रमश: प्रत्येक की विस्तार से पीठिका (विषयवस्तु) और गाथा संख्या दी है । इसके बाद प्रत्येक अधिकार के गाथा क्रम से आचार्य वसुनन्दि की संस्कृत टीका आचारवृत्ति के आधार पर वचनिकाकार ने जयपुर क्षेत्र की तत्कालीन लोकप्रिय बोली ढूँढारी भाषा में बहुत ही सरल और सहज भाषा में अनुवाद किया है । पहले मूल प्राकृत गाथा तथा उसका ढूँढारी में अनुवाद, वसुनन्दि की तदनन्तर संस्कृत टीका के आधार पर इसका अनुवाद ढूँढारी में है ।

संस्कृत टीकाकार आ० वसुनन्दि ने किसी-किसी अधिकार के शुभारम्भ में स्वनिर्मित नीतिपूर्ण श्लोक लिखा है । विशेषता यह है कि संस्कृत आचारवृत्ति का ढूँढारी में अनुवाद एवं कहीं-कहीं विशेषार्थ किया गया है किन्तु संस्कृत मूल आचारवृत्ति इसमें नहीं है । वचनिका-कार ने भी उसका अनुवाद पद्य में ही किया है किन्तु संस्कृत श्लोक नहीं लिखा । यथा—सप्तम षड़ावश्यक अधिकार में टीकाकार का पद्य इस प्रकार है—

प्रायेण जायते पुंसां वीतरागस्य दर्शनम् ।
तद्दर्शनविरक्तानां भयेज्जन्मापि निष्फलम् ।।

वचनिकाकार ने इसका पद्यानुवाद इस प्रकार किया है—

वीतराग जिनराज का दर्शन कठिन नवीन ।
तिनका निष्फल जन्म है जे जिनदर्शन हीन ।।

इसी षडावश्यक अधिकार स्वरूप आवश्यक निर्युक्ति की प्रथम मंगलाचरण रूप प्राकृत गाथा इस प्रकार है—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ।।१।।

इसका वचनिकाकार द्वारा प्रस्तुत गद्यानुवाद इस प्रकार है—"जो लोक विषै अर्हन्ता है, तथा सिद्ध है तथा आचार्य, उपाध्याय हैं तथा सर्वसाधु हैं, तिनिकौं नमस्कारकरि आवश्यक निर्युक्ति है, ताहि कहूँगा ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसकी दूसरी गाथा—**आवासयणिज्जुत्ती**.....का अनुवाद इस प्रकार है—आवश्यक निर्युक्ति है, ताहि क्रम परिपाटी है । ताका नहीं उल्लंघन करि जैसे *आचार्यनि की परम्परा करि चल्या आया, पूर्व आचार्यनि के प्रवाहकरि* जैसे आया तिस ही क्रमकरि पूर्व आगम का अनुक्रम नांही छोड़िकरि संक्षेपथकी मैं कहूंगा ।

प्रत्येक अधिकार के अन्त में वचनिका लिखने के आधार और **गाथा संख्या की सूचना** इस प्रकार प्रस्तुत की है—"अैसे आचार्य वट्टकेर स्वामी विरचित मूलाचार नाम प्राकृत ग्रन्थ की आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित आचारवृत्ति नाम संस्कृत टीका के अनुसार यह देश भाषामय वचनिका विषैं आवश्यक निर्युक्ति है नाम जाका, अैसा सातवां अधिकार समाप्त भया । इहाँ पर्यन्त (प्रथम से सातवें अधिकार तक की) गाथासूत्र छह सौ निवैं (६९०) भये, अैसैं जाननां ।"

मूलाचार भाषा-वचनिका की अन्त्य-प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट हुआ कि पं. नन्दलाल जी छावड़ा इसकी भाषा-वचनिका षष्ठ पिण्डशुद्धि अधिकार की १५वीं गाथा तक ही लिख पाये थे कि अचानक इनका स्वर्गवास हो गया । तब इस अधूरी वचनिका को इन्हीं के मित्र **पं. ऋषभदास जी निगोत्या** ने अपने स्नेही मित्रों के सहयोग से पूरा किया । इस सबका उल्लेख इन्होंने ग्रन्थ की अन्त-प्रशस्ति में किया है । इस आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति (सप्तम षडावश्यकाधिकार) और इसके आगे की भाषा-वचनिका के लेखक पं० ऋषभदास जी निगोत्या, जयपुर ही हैं ।

इस वचनिका के आधार पर जहाँ हम मूलाचार और इसकी संस्कृत टीका के हार्द को समझने में सरलता हो जाती है, वहीं हम इसके आधार पर हिन्दी भाषा और इसकी गद्य-विधा के विकास को समझने में सक्षम होते हैं ।

७. मूलाचार हिन्दी टीका

मूलाचार की संस्कृत आचारवृत्ति के आधार पर विशेषार्थ सहित सरल और शुद्ध हिन्दी अनुवाद का कठिन कार्य पूज्यनीया गणिनी-आर्यिका ज्ञानमती-माताजी ने किया है; जिसे भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली ने क्रमशः सन् १९८४ एवं १९८६ में दो भागों में प्रकाशित किया है । यह काफी लोकप्रिय हिन्दी टीका ग्रन्थ है । प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति के अनुवाद कार्य में मूलाचार भाषावचनिका के साथ-साथ इस हिन्दी टीका का भी साभार विशेष सहयोग लिया गया है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. अन्यान्य व्याख्या ग्रन्थ

उपर्युक्त व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य वीरनन्दि ने मूलाचार के आधार पर **'आचारसार'** ग्रन्थ की रचना की है । चामुण्डराय ने **चारित्रसार** नामक ग्रन्थ की रचना भी मूलाचार के आधार पर की है । पं. आशाधर ने **'अनगार धर्मामृत'** नामक अपने इस ग्रन्थ की रचना में इसी का आधार लिया है ।

इस प्रकार और भी अनेक ग्रन्थ मूलाचार के आधार पर लिखे गये, जिनमें आज कुछ प्रकाशित हैं, तो अनेक अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध भी हैं । जिनके कहीं-कहीं उल्लेख मात्र मिलते हैं ।

मूलाचारगत आ० नि० और भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति की तुलना

शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित भाषा-मूलाचार तथा इसके अन्तर्गत आवश्यक निर्युक्ति और अर्धमागधी प्राकृत में भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्ति की अनेक गाथाओं में समानता होते हुए परस्पर में अपनी-अपनी परम्परागत भाव-भाषा-शैली तथा अन्यान्य दृष्टियों से निम्नलिखित प्रमुख अन्तर है । इसमें शब्दगत जो भी अन्तर है वे भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से ध्यातव्य है—

१. मूलाचार में पाँच पापों के त्याग के विवेचन प्रसंग में प्रथम हिंसा के लिए 'पाणारंभ' तथा चतुर्थ 'कुशील' के लिए 'मेहूण' शब्द का प्रयोग है । यथा—

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ।। मूलाचार ३/२

आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहुकृत) में क्रमशः पाणाइवायं तथा 'अब्बंभ' शब्द प्रयुक्त है । साथ ही गाथा के अन्त में 'स्वाहा' इस संस्कृत शब्द का प्रयोग है । यथा—

सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाम्म अलियवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं अब्बंभ परिग्गहं स्वाहा ।।–आव.नि. १२६७

इसकी संस्कृत दीपिका में माणिक्य-शेखरसूरि ने स्वाहा शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—'स्वाहेति मन्त्रपरं परेषां पापविषनिवारणाज्ञप्त्यै प्रयुक्तं' । (आवश्यक निर्युक्ति दीपिका, १२६७ भाग २ पृ. ३७) आवश्यक निर्युक्ति में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयुक्त 'पाणाइवायं' की अपेक्षा मूलाचार में प्रयुक्त 'पाणारम्भ' शब्द अधिक प्राचीन तथा उपयुक्त है ।

२. मूलाचार में सामायिक के प्रयोजन में कहा है 'गिहत्थधम्मोऽपरमित्ति णच्चा' अर्थात् गृहस्थ धर्म को अपरम (जघन्य) जानकर विद्वान् प्रशस्त आत्महित करे ।

सावज्जजोग परिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं ।।

–मूलाचार ०७/३३

किन्तु आवश्यक निर्युक्ति में 'गिहत्थधम्मा परमंति णच्चा' कहा है । दीपिकाकार ने इसका 'गृहस्थधम्मात्परमं प्रधानमिति'—यह अर्थ किया है । यथा—

सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मापरमंति णच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्थं ।।

–आ.नि. ३००

३. प्रतिक्रमण के भेदों की गणना में मूलाचार में दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक तथा औत्तमार्थ—ये सात भेद बताये हैं । यथा—

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापथं च बोधव्वं ।
पक्खियं चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ।। मूलाचार ७/११६

यहाँ मूलाचार के 'इरियापथं' के स्थान पर आवश्यक निर्युक्ति में इत्तरिय-मावकहियं' (इत्वरं, यावत्कथिकं च) पद देकर प्रतिक्रमण के आठ भेद बताये हैं । यथा—

पडिकमणं देसियं राइयं च इत्तरियभावकहियं च ।
पक्खिय चाउम्मासिय, संवच्छर उत्तिमट्ठेय ।। आव.नि. १२४४

४. मूलाचार ७/१२९ और आवश्यक निर्युक्ति १२४१ दोनों में ही प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों का 'सप्रतिक्रमणधर्म' तथा मध्यम तीर्थंकरों के समय अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना बताया है । इसके लिए मूलाचार में 'अवराहे' (अपराधे सति) तथा आवश्यक निर्युक्ति में इसके लिए 'कारण जाए' (अतिचार जाते सति) शब्द का प्रयोग है ।

५. मूलाचार में आलोचना के पर्यायवाची नामों में एक ही 'विगडीकरणं' शब्द का प्रयोग है । यथा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु ।
आलोचिदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ।। मूला. ७/१२४

किन्तु आवश्यक निर्युक्ति में 'वियडीकरणं' शब्द है । यथा—

आलोवणमालुंचण वियडीकरणं च भावसोही य ।
आलोइयंमि आराहणा, अणालोइए भवणा ।। आव.नि. १२४०

इन दोनों में प्रयोग की दृष्टि से मूलाचार का प्रयोग अधिक उपयुक्त लगता है ।

६. कृतिकर्म (वंदना) के प्रसंग में मूलाचार (गाथा ७/८०) में आवत्तगेहिं (आवर्तकै:) शब्द आया है, जबकि आवश्यक निर्युक्ति (गाथा १११९) में 'आवस्सएहि' (आवश्यकै:) शब्द है ।

७. मूलाचार (गाथा ७/१३५) में प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह भेद बताये हैं । जबकि आवश्यक निर्युक्ति (गाथा १५५१) में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद तो समान हैं, किन्तु क्षेत्र और काल के स्थान पर 'अइच्छ पडिसेहमेव' पद द्वारा 'अदित्सा' (न देने की इच्छा) और प्रतिषेध—इन दो भेदों का समावेश है ।

८. सामायिक शब्द की निर्युक्ति कथन के प्रसंग में मूलाचार (७/२४) में जहाँ **'जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तपसि'** कहा है, वहीं आवश्यक निर्युक्ति (७९८) में **'जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे नियमे तवे'** पंक्ति मिलती है । (मूलाचार वृत्ति-सण्णिहिदो-सन्निहित: स्थित: तथा आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'सामाणिओ'-सामानिक: समीपस्थ: ऐसा आया है) ।

एक अन्य सुप्रसिद्ध गाथा भी दोनों ग्रन्थों में इस प्रकार है—

सामाइयम्हि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ।। मूलाचार ७/३४
सामाइयंमि उकए समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ।। आ० नि० ८०१

इन गाथाओं से शौरसेनी और अर्धमागधी परम्परा के भाषात्मक प्रयोग में स्पष्ट अन्तर और समानता देखी जा सकती है ।

इसी प्रकार मूलाचार के सप्तम अधिकार की गाथा सं. १२९, ३६, ११६, १०३, १२०, ७९, ८०, ८१, १५१, १२०, १३५, ७२, ११, १४, ३४,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३३, २५, २४, ४१, ४२, ४७, ४९, ५२, ५९, ५८, १६, ३, १०—इन गाथाओं का आवश्यक निर्युक्ति दीपिका की क्रमशः गाथा सं. १२४१, १२४३, १२४४, १२०८, १२४७, १११०, ११११, १२२२, १४४२, १२४७, १५५१, ११०४, १००४, ८७, ८०२, ८००, ७९९, ७९८, १९१, १०६४, १९६, १९८, २००, १०६८, १०६९, ९५३, ९१८, ९९७ से मिलान करने पर ज्ञात होता है कि पाठभेद, अर्थभेद एवं भाषाभेद आदि के न्यूनाधिक अन्तर के साथ परस्पर साम्यता देखने को मिलती है। पूर्वोक्त गाथाओं के अतिरिक्त मूलाचार की गाथा सं. ४/१२४, १०/८, ३/२ इन गाथा की आवश्यक निर्युक्ति की क्रमशः गाथा संख्या ७७७, १०२ एवं १२६७ से साम्यता भी काफी महत्त्वपूर्ण है।

इन दोनों में गाथागत इन साम्यताओं के साथ ही षडावश्यकों के भेदों और उपभेदों के अध्ययन से यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि कहीं-कहीं जहाँ मूलाचारकार ने भेदोपभेदों का कथन पूर्ण मान लिया, उसके आगे आवश्यक निर्युक्तिकार ने उसी के और अधिक भेदोपभेदों का कथन किया है।

विशेषता यह कि जहाँ आवश्यक निर्युक्तिकार ने कथन पूर्ण मान लिया उसी के आगे मूलाचारकार ने और अधिक भेदोपभेदों कथन प्रस्तुत कर उस विषय का विस्तार किया है। इस तरह इन दोनों ग्रन्थों का विविध दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

मूलाचार और दशवैकालिक की गाथाओं की तुलना

शौरसेनी आगमों तथा अर्धमागधी दोनों में समागत कुछ बहुलोकप्रिय गाथाओं का अपना-अपना भाषागत वैशिष्ट्य स्पष्ट है। यथा—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुञ्जेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि ।। मूलाचार १०/१२१

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ।। दसवेआलियं ४/७

इन गाथाओं के उत्तर में निम्नलिखित गाथायें भी द्रष्टव्य है—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ।। मूलाचार १०/१२२
जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ।। १०/१२३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(यत्नेन तु चरतः दया प्रेक्षकस्य भिक्षोः ।
नवं न बध्यते कर्म पुराणं च विधूयते ।।)

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ।। दसवेआलियं ॥

(यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतमासीत् यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ।।)

मूलाचार के समान ही उपर्युक्त **कधं चरे** इत्यादि तथा **जदं चरे** इत्यादि ये दो गाथायें षड्खण्डागम धवला टीका (११२, पृ. १००) में भी आयी है । कधं चरे वाली गाथा में 'बुज्झदि' के स्थान पर मूलाचार की दूसरी गाथा (१०/१२२) की तरह 'बज्झई' का प्रयोग मिलता है ।

मूलाचार में ही समागत समान गाथाओं की परस्पर तुलना—जहाँ मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में अनेक गाथायें समान हैं, वहीं मूलाचार में ही ऐसी कुछ गाथायें हैं जो विभिन्न प्रसंगों में मूलाचार के ही पुनः दो-दो अधिकारों में देखी गई हैं । किन्तु यह भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है कि उसी ग्रन्थ के लेखक आचार्य उसी गाथा को प्रसंगानुसार पुनः अन्यत्र प्रस्तुत करते हैं किन्तु उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन क्यों दिखलाई दे रहा है ? यथा—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्म चिट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्ज उवसट्ठणसज्झायाहारभिक्ख वोसरणं ।। ४/५९

यही गाथा मूलाचार के दशम समयसाराधिकार में इस प्रकार आई है—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणभुवसयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्ज उवट्ठणसज्झायाहार वोसरणे ।। १०/६१

मूलाचार की एक ही गाथा अलग-अलग चार ग्रन्थों में किस तरह विद्यमान है । यह भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है—

अच्चेलकुद्देसिय सेज्जाहररायपिंड किदियम्मं ।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जोसमणकप्पो ।। मूलाचार १०/१८
आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किरियम्मे ।
वदजेट्ठ पडिक्कमेण मासं पज्जोसवण कप्पो ।। भगवती आराधना **४२३।।**
आचेलक्कं उद्देसिय सिज्जायर रायपिंड किइकम्मे ।
वय जेट्ठे पडिक्कमणे मासं पज्जोसवण कप्पे ।। आ०नि० १.२१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचेलक्कं उद्देसियं सिज्जायरपिंडे रायपिंडेकिइकम्मे महव्वए ।
वय जेट्ठे पडिक्कमणे मासं पज्जोसवण कप्पे ।। कल्पसूत्र १.२

वाराणसी के सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक एवं प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के विद्वान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. भोलाशंकर व्यास ने मूलाचार और आवश्यक निर्युक्ति की समान अनेक गाथाओं का अध्ययन कर निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि 'भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री दोनों वस्तुत: एक ही मध्यदेशीय प्राकृत के दो प्ररोह हैं । अत: अनेक भाषावैज्ञानिक महाराष्ट्री को अलग प्राकृत न मानकर शौरसेनी का ही साहित्यिक स्वरूप मानते हैं ।

इस दृष्टि से मूलाचार (की गाथाओं) की भाषा मध्यदेशीय प्राकृत के बोलचाल के स्वरूप के अधिक नजदीक है, जबकि आचार्य भद्रबाहु द्वितीय की आवश्यक निर्युक्ति की गाथायें साहित्यिक साँचे में ढली है और इस दृष्टि से इन गाथाओं का मूलस्वरूप मूलाचार वाला ही है, जिनका परम्परा से परवर्ती कृति में साहित्यिक रूपान्तरण हो गया है ।

तुलनात्मक अध्ययन का सार

यहाँ शौरसेनी और अर्धमागधी परम्परा के कुछ आगम ग्रन्थों विशेषकर आ० नि० की तथा मूलाचार की समान कुछ गाथायें और कुछ समानान्तर गाथाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसका यह अर्थ कभी न समझा जाय कि मूलाचारकार ने विभिन्न ग्रन्थों से तद्-तद् विषयक गाथायें ग्रहण कर इसे संग्रह-ग्रन्थ का रूप दिया और यह भी नहीं कि मूलाचार की इन गाथाओं को अन्य ग्रन्थकारों ने ग्रहण किया । क्योंकि यह तथ्य है कि तीर्थंकर महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, उस समय परम्परा भेद के पूर्व जो अभेद श्रुतज्ञान की अजस्रधारा प्रवाहित थी, वह धारणा शक्ति (कंठस्थ) के रूप में उस समय तक के आचार्यों में विद्यमान थी, अत: उसका उपयोग दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने अपनी रचनाओं में प्रसंगानुसार अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार भरपूर रूप में किया ।

अत: मात्र इस आधार पर किसी को प्राचीन और अन्य को अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता । इसके लिए तो जहाँ उस ग्रन्थ में अनेक अन्त:साक्ष्य रहते हैं वहीं उस ग्रन्थ का भाषात्मक अध्ययन सबसे प्रबल साधन है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाषात्मक अध्ययन के आधार पर यह भी स्पष्ट है कि मूलाचार की भाषा का जो स्वरूप इस समय विद्यमान है, तथा अर्धमागधी साहित्य और यहाँ तक कि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य की भाषा का जो रूप आज विद्यमान है, वह रूप मूलाचार की भाषा से भिन्न ही दिखलाई देता है ।

जहाँ तक मूलाचार और अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति में अनेक समान गाथाओं का प्रश्न है उसके लिए भी मूल परम्परा से प्राप्त 'श्रुत' का अपने-अपने प्रसंग के अनुसार ग्रहण करने वाला उपर्युक्त तथ्य यहाँ भी लागू होता है ।

इस प्रकार सामान्य अध्ययन के साथ ही भाषावैज्ञानिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन की अत्यन्त उपयोगिता है । तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अभी भी प्राकृत भाषा और साहित्य के विविध पक्षों का उद्घाटित होना शेष है । सम्पूर्ण आगम साहित्य का इस प्रकार का अध्ययन इसलिए भी अति आवश्यक है, ताकि ये तथ्य सामने आ सके कि प्राकृत भाषायें अपना स्वरूप सुरक्षित रखते हुए भी बाद में किस तरह से अपभ्रंश रूप में परिवर्तित हुई तथा वर्तमान की हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय तथा अन्यान्य भाषायें, प्राकृत भाषाओं से किस प्रकार उद्भूत और विकसित हुईं ।

वस्तुत: भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्राकृत भाषा की गणना मध्य भारतीय आर्य भाषा में की जाती है । प्राकृत भाषा में देश-भेद एवं कालभेद से अनेक भेदोपभेद हैं, वे इस बात के सबल प्रमाण भी हैं कि प्राकृत भाषा में प्रजनन शक्ति सर्वाधिक है, उसने अपभ्रंश सहित अनेक भाषाओं को जन्म दिया । इससे उत्पन्न अपभ्रंशों ने अधुनातन लोकभाषाओं को विकसित किया है ।

अत: प्राकृत भाषा भाषावैज्ञानिक तत्त्वों की दृष्टि से खूब समृद्ध है । इसमें उस भाषा-विज्ञान के सभी सिद्धान्त पूर्णतया घटित होते हैं । इसमें ध्वनि परिवर्तन की सभी स्थितियाँ वर्तमान है, क्योंकि इस भाषा के वैयाकरणों ने ध्वनि-विकारों का विवेचन बड़ी स्पष्टता के साथ किया है । बोलियों की भिन्नता एवं रूप विकारों की बहुलता का दर्शन भी प्राकृत भाषा में वर्तमान है ।[१]

निष्कर्ष

आवश्यक निर्युक्ति तथा अर्धमागधी साहित्य के अन्यान्य आगमों और मूलाचार तथा तद्गत आवश्यक निर्युक्ति के तुलनात्मक अध्ययन से हम इन

---

१. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : पृष्ठ ११६ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निष्कर्षों पर पहुँचते हैं कि ये दोनों निश्चित ही श्रमण परम्परा की दो धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिए दोनों में अनेक दृष्टियों से समानता है ।

अत: भाव, भाषा, विषय और प्रतिपादन शैली की दृष्टियों से दोनों में समानता के आधार पर कुछ विद्वानों का यह कथन आग्रह युक्त और भ्रामक है कि आवश्यक निर्युक्तिकार ने मूलाचार से वे गाथायें अपने ग्रन्थ में ग्रहण कर अथवा मूलाचारकार ने आवश्यक निर्युक्ति सहित अन्यान्य अर्धमागधी आगम ग्रन्थों से वे गाथायें ग्रहण कीं । क्योंकि हमें इस तथ्य को कभी नहीं भूलना चाहिए कि मूलत: तीर्थंकर महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा एक ही थी ।

कालान्तर में जब दो भागों में विभक्त हुई, तब परम्परा-भेद के पहले का समागत श्रुत दोनों परम्पराओं के आचार्यों को कंठस्थ था । अत: दोनों धाराओं के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अभीष्ट विषय के विवेचन प्रसंग में उस मूल श्रुतज्ञान का प्रसंगानुसार उपयोग किया है । इससे किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार के ग्रन्थ-लेखन की मौलिकता को खींचतान कर खण्डित करना अनुचित है, सभी मौलिक गुणों से युक्त और मौलिक हैं ।

वस्तुत: अर्धमागधी आगमों में श्रमणाचार के जिन नियमों और उपनियमों को निबद्ध किया गया है तथा शौरसेनी प्राकृत भाषा के मूलाचार में श्रमण की जो आचार संहिता निबद्ध है उसकी तात्त्विक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता । अहिंसा और आध्यात्म के जिस मूल धरातल पर श्रमणाचार का महाप्रासाद अर्धमागधी आगम में निर्मित है, उसी अहिंसा के मूल धरातल पर शौरसेनी प्राकृत तथा इसके मूलाचार में प्रतिपादित श्रमणाचार का विशाल भवन निर्मित है । अत: अपनी अपनी दृष्टि में दोनों मौलिक ही सिद्ध होते हैं और इसीलिए समग्र और व्यापक अध्ययन हेतु इन *सभी* परम्पराओं के आगम-ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है । तभी हम सभी की समृद्ध और वैभव पूर्ण परम्पराओं से परिचित हो सकते हैं और परस्पर सौहार्द भाव के लिए यह आवश्यक भी है ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमद्-वट्टकेराचार्य-प्रणीत-मूलाचारान्तर्गते

आवश्यक-निर्युक्तिः

श्रीमदाचार्यवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितया आचारवृत्त्या सहिता

मङ्गलाचरणम्

अथ मूलाचारे (प्रतिपादितमष्टाविंशतिमूलगुणानामन्तर्गते आवश्यकनिर्युक्तिनाम) सप्तम-षडावश्यकाधिकारं प्रपञ्चेन षडावश्यकक्रियं विवृण्वन् प्रथमतरं तावन्नमस्कारमाह—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं ।।१।।

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम्।
आचार्योपाध्यायानां लोके च सर्वसाधूनाम् ॥१॥

कृत्वा नमस्कारं, केषामर्हतां तथैव सिद्धानाम् आचार्योपाध्यायानां च लोके च सर्वसाधूनाम्। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कारशब्दो येन तेन षष्ठी संजाताऽन्यथा पुनश्चतुर्थी भवति । अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो लोकेऽस्मिन्नमस्कृत्वा आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये इति सम्बन्धः सापेक्षत्वात् क्त्वान्तप्रयोगस्येति ॥१॥

गाथार्थ—(जैनधर्म के पवित्र णमोकार महामंत्र में प्रसिद्ध पंच-परमेष्ठी अर्थात्—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्व-साधुओं (इन सभी) को नमस्कार करके, मैं (आचार्य वट्टकेर) आवश्यक निर्युक्ति कहूँगा ।

आचारवृत्ति—नमस्कार करके, किनको ? अर्हन्तों को, उसी प्रकार सिद्धों को, आचार्यों और उपाध्यायों को एवं लोक में सर्व-साधुओं को । यहाँ लोक शब्द का इन पाँचों में प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए । यहाँ इस गाथा में 'अरहंताणं' आदि पदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग इसलिए किया गया है, क्योंकि 'नमः' शब्द के साथ 'कार' शब्द का प्रयोग किया गया है । यदि यहाँ मात्र "नमः" शब्द होता तो नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता । इस तरह इस लोक में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, उन सभी को नमस्कार करके मैं आवश्यक निर्युक्ति को (कहूँगा) प्रस्तुत करूँगा—इस तरह सम्बन्ध करना चाहिए । वस्तुतः "क्त्वा" प्रत्यय युक्त शब्दों का प्रयोग सापेक्ष होता है अर्थात् वह आगे क्रिया की अपेक्षा रखता है ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नमस्कारपूर्वकं प्रयोजनमाह—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ।।२।।

आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेन ।
आचार्यपरम्परया यथागतानुपूर्व्या ॥२॥

आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये । यथाक्रमं क्रममनतिलंघ्य परिपाट्या । समासेन संक्षेपतः । आचार्यपरम्परया यथागतानुपूर्व्या । येन क्रमेणागता पूर्वाचार्यप्रवाहेण संक्षेपतोऽहमपि तेनैव क्रमेण पूर्वागमक्रमं चापरित्यज्य वक्ष्ये कथयिष्यामीति ॥२॥

तावत्पञ्चनमस्कारनिर्युक्तिमाह—

रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य ।
परिसहे उवसग्गे णासयंतो णमोरिहा ।।३।।

रागद्वेषकषायांश्च इंद्रियाणि च पंच च ।
परीषहान् उपसर्गान् नाशयद्भ्यो नमः अर्हद्भ्यः ॥३॥

रागः स्नेहो रतिरूपः । द्वेषोऽप्रीतिररतिरूपः । कषायाः क्रोधादयः । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पंच । परीषहाः क्षुधादयो द्वाविंशति । उपसर्गा देवादिकृत-

---

नमस्कारपूर्वक आवश्यकनिर्युक्ति का प्रयोजन (उद्देश्य) कहते हैं—

गाथार्थ—मैं (वट्टकेराचार्य) पूर्व प्रचलित आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप में यथाक्रम से आवश्यक निर्युक्ति को कहूँगा ॥२॥

आचारवृत्ति—मैं आवश्यक निर्युक्ति का कथन कर रहा हूँ । जिस क्रम से सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग–इन छह आवश्यक क्रियाओं का प्रतिपादन आचार्यों और आगम की परम्परा से जिस प्रकार चला आ रहा है, उसी सामायिक आदि क्रम से पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार, पूर्वागम के क्रम का उल्लङ्घन किये बिना ही मैं संक्षेप में कथन करूँगा ॥२॥

गाथार्थ—राग, द्वेष और कषायों, पाँच इन्द्रियों, परीषह और उपसर्गों का नाश करने वाले अर्हन्तों को नमस्कार है ॥३॥

आचारवृत्ति—राग, स्नेह रति रूप है । द्वेष, अप्रीति अरतिरूप है । क्रोधादि को कषाय कहते हैं । चक्षु आदि इन्द्रियाँ पाँच हैं । क्षुधा, तृषा आदि बाईस परिषह होती हैं । देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये क्लेश को उपसर्ग कहते हैं । इन राग, द्वेष आदि को नष्ट करके जो स्वयं कृत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संक्लेशाः । तान् रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गान् स्वतः कृतकृत्यत्वाद्भव्य-प्राणिनां नाशयद्भ्यो विनाशयद्भ्योऽर्हद्भ्यो नम इति ॥३॥

अथार्हन्तः कया निरुक्त्या उच्यन्त इत्याह—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए ।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥४॥

अर्हंति नमस्कारं अर्हाः पूजायाः सुरोत्तमा लोके ।
रजोहंतारः अरिहंतारश्च अर्हंतस्तेन उच्यंते ॥४॥

नमस्कारमर्हन्ति नमस्कारयोग्याः । पूजाया अर्हा योग्याः । लोके सुराण-मुत्तमाः प्रधानाः । रजसो ज्ञानदर्शनावरणयोर्हन्तारः । अरेर्मोहस्यान्तरायस्य च हन्तारोऽपनेतारो यस्मात्तस्मादर्हन्त इत्युच्यन्ते । येनेह कारणेनेत्थम्भूतास्तेनार्हन्तः सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नुच्यन्ते ॥४॥

अतः किं ?

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५॥

अर्हन्नमस्कारं भावेन च यः करोति प्रयत्नमतिः ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति अचिरेण कालेन ॥५॥

कृत्य हैं, साथ ही भव्य जीवों के इन राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय परीषह और उपसर्गों को नष्ट करने वाले हैं, ऐसे अर्हन्त भगवान् को नमस्कार है ॥३॥

गाथार्थ—[जो] नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य हैं, [रज रूपी आवरण का और मोहनीय और अन्तराय कर्म रूपी] शत्रु का हनन करने वाले हैं, इसलिए वे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥४॥

आचारवृत्ति—इस लोक में जो देवों में उत्कृष्ट इन्द्रादिगण द्वारा नमस्कार के योग्य हैं उनके द्वारा की गई पूजा के योग्य हैं, 'रज' शब्द से-ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हन (विनाश) करने वाले हैं, तथा 'अरि' शब्द से-मोहनीय और अन्तराय का हनन करने वाले हैं, अतः वे 'अर्हन्त' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं । और जिस कारण से वे भगवान् इस प्रकार सर्व पूज्य हैं उसी कारण से वे इस लोक में अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोकनाथ कहे जाते हैं ॥४॥

गाथार्थ—जो प्रयत्नशील भाव से अर्हन्त को नमस्कार करता है वह अति शीघ्र ही सभी दुःखों से मुक्ति पा लेता है ॥५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्थंभूतानामर्हतां नमस्कारं यः करोति भावेन प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५॥

सिद्धानां निरुक्तिमाह—

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्महिं ।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ॥६॥

दीर्घकालमयं जंतुः उषितः अष्टकर्मसु ।
सिते ध्वस्ते निधत्ते च सिद्धत्वमुपगच्छति ॥६॥

श्लोकोऽयं । दीर्घकालमनादिसंसारं । अयं जन्तुर्जीवः । उषितः स्थितः अष्टसु कर्मसु ज्ञानावरणादिभिः कर्मभिः परिवेष्टितोयं जीवः परिणतः स्थितः । सिते कर्मबन्धे निवृत्ते[१] । निर्धत्ते परप्रकृतिसंक्रमोदयोदीरणोत्कर्षापकर्षणरहिते ध्वस्ते प्रणाशमुपगते सिद्धत्वमुपगच्छति । निर्धत्ते बन्धे ध्वस्ते सत्ययं जन्तुर्यद्यपि दीर्घकालं कर्मसु व्यवस्थितस्तथापि सिद्धो भवति सम्यग्ज्ञानाद्यनुष्ठानेनेति ॥६॥

तथोपायमाह—

आवेसणी सरीरे इंदियभंडो मणो व आगरिओ ।
धमिदव्व जीवलोहो वावीसपरीसहग्गीहिं ॥७॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार जो प्रयत्नमति बुद्धिमान् अर्हन्तों को भाव से नमस्कार करता है, वह सर्वदुःखों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥५॥

अब सिद्धों की निरुक्ति कहते हैं—

गाथार्थ—यह जीव दीर्घकाल से आठ कर्मों में स्थित है । कर्मों के ध्वस्त एवं नष्ट हो जाने पर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है ॥६॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक (गाथा) है । अनादिकाल से यह जीव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से घिरा हुआ रहता है, कर्मों से परिणित हो रहा है । निधत्ति रूप जो कर्म हैं अर्थात् जिनका पर-प्रकृति रूप संक्रमण नहीं होता है, जिनका उदय, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण नहीं हो रहा है, ऐसे कर्म बन्धन के ध्वस्त हो जाने पर यह जीव सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से कर्मों से व्यवस्थित है फिर भी सम्यग्ज्ञान आदि अनुष्ठान के द्वारा कर्मबन्धनों को ध्वस्त करके सिद्ध हो जाता है ॥६॥

आगे इसका उपाय बतलाते हैं—

गाथार्थ—शरीर चूल्हा है, इन्द्रियाँ वर्तन हैं और मन लोहकार है । बाईस परीषहों के द्वारा जीवरूपी लोहे को तपाना चाहिए ॥७॥

---

१. 'निवृत्ते' नास्ति क प्रतौ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवेशनी शरीरं इंद्रियभांडानि मनो वा आकरी ।
ध्मातव्यं जीवलोहं द्वाविंशतिपरीषहाग्निभिः ॥७॥

आवेसनी चुल्ली यत्रांगाराणि क्रियन्ते । शरीरे किं विशिष्टे, आवेशनीभूते । इन्द्रियाण्येव भाण्डमुपस्कारभूतं सदंशकाभीरणी हस्तकूटघनादिकं । मनस्त्वाकरी चेता उपाध्यायो लोहकारः । ध्मातव्यं दाह्यं निर्मलीकर्तव्यम् । जीवलोहं जीवधातुः । द्वाविंशतिपरीषहाग्निना । एवं द्वाविंशतिपरीषहाग्निना कर्मबन्धे ध्वस्ते चुल्लीकृतं शरीरं त्यक्त्वेन्द्रियाणि चोपस्करणभूतानि परित्यज्य निर्मलीभूतं जीवसुवर्णं गृहीत्वा मनः केवलज्ञानमाकरी सिद्धत्वमुपगच्छति सिद्धो भवतीति सम्बन्धः । तस्मात् सिद्धत्वयुक्तानां सिद्धानां नमस्कारं भावेनः यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥७॥

आचार्यस्य निरुक्तिमाह—

सदा आयारबिद्दण्हू सदा आयरियं चरो ।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ।।८।।*

आचारवृत्ति—आवेशनी अर्थात् चूल्हा, जिसमें अंगारे किये जाते हैं । यह शरीर आवेशनीभूत अर्थात् चूल्हा है । इन्द्रियाँ ही भांड अर्थात् तपाने के साधनभूत पात्र, संडासी, हथौड़ा, घन आदि हैं । मन अर्थात् यह चित्त आकरी-केवलज्ञानरूप वेत्ता—उपाध्याय हैं सो वह लोहकार है । जीवरूप लोह धातु है, सो निर्मल करने को योग्य दाह्य है । बाईस परिषह रूपी अग्नि के द्वारा इस जीव रूपी लोह-स्वर्ण को तपाना चाहिए, निर्मल करना चाहिए ।

इस प्रकार से बाईस परीषहरूपी अग्नि के द्वारा कर्मबन्ध को ध्वस्त कर देने पर चूल्हे रूप शरीर को छोड़कर और उपकरण रूप इन्द्रियों को भी छोड़कर निर्मल हुए जीवरूप लोह या स्वर्ण को ग्रहण करके, मन अर्थात् केवलज्ञानरूपी लोहकार या स्वर्णकार सिद्ध हो जाता है, ऐसा सम्बन्ध लगाना । इसलिए सिद्धत्व से युक्त इन सिद्ध परमेष्ठी को जो प्रयत्नशील जीव भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥७॥ आगे आचार्य की निरुक्ति कहते हैं—

---

* इसके बाद फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा अधिक है—

सिद्धाणणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमती ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भाव से मन एकाग्र करके सिद्धों को नमस्कार करता है वह सभी दुःखों से मुक्त हो सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सदा आचारवित् सदा आचरितं चरः ।
आचारमाचारयन् आचार्यः तेन उच्यते ॥८॥

श्लोकोऽयम् । सदा सर्वकालं आचारं वेत्तीति, सदाचारवित् रात्रौ दिने वाचरस्य परमार्थसंवेदनं यत्नेन युक्तोऽथवा सदाचारः शोभनाचारः सम्यग्ज्ञानवांश्च सदा सर्वकालमाचरितं चर आचरितं गणधरादिरभिप्रेतं चेष्टितं चरतीति वा चरितं चरोऽथवा चरणीयं श्रामण्ययोग्यं दीक्षाकालं च शिक्षाकालं च चरितवानिति कृत-कृत्य इत्यर्थः । आचारमन्यान् साधूनाचारयन् हि यस्मात् प्रभासते तस्मादाचार्य इत्युच्यते ॥८॥ तथा

जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि ।
आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण वुच्चदे ।।९।।*

यस्मात् पंचविधाचारं आचरन् प्रभासते ।
आचरितानि दर्शयन् आचार्यः तेन उच्यते ॥९॥

गाथार्थ—सदा आचार वेत्ता हैं, सदा आचार का आचरण करते हैं और (जो अन्य साधुओं आदि को) आचारों का आचरण करातें हैं इसलिए आचार्य कहलाते हैं ॥८॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक (गाथा) है । जो हमेशा आचारों को जानते हैं वे आचार-विद् हैं अर्थात् रात-दिन होने वाले आचरणों को जो परमार्थ से जानते हैं, यत्न-पूर्वक उसमें लगे हुए हैं । अथवा जो सदाचार अर्थात् शोभन आचार का पालन करते हैं, सम्यग्ज्ञानवान् हैं, वे आचारविद् कहलाते हैं । जो सर्वकाल गणधरदेव आदिकों के द्वारा अभिप्रेत अर्थात् आचरित आचरण को धारण करते हैं अथवा जो श्रमणपने के योग्य दीक्षा-काल और शिक्षाकाल का आचरण करते हुए कृतकृत्य हो रहे हैं, तथा जो अन्य साधुओं को भी पाँच आचारों का आचरण कराते रहते हैं इसी हेतु से वे 'आचार्य' इस नाम से कहे जाते हैं ॥८॥ और भी–

गाथार्थ—जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए शोभित होते हैं और अपने आचरित आचारों को दिखलाते हैं इसी कारण से वे आचार्य कहलाते हैं ॥९॥

---

* फलटन की प्रति में यह गाथा अधिक है—

आइरिय णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भव्यजीव भाव से एकाग्रचित्त होकर आचार्यों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लोकोऽयं । पंचविधमाचारं दर्शनाचारादिपंचप्रकारमाचारं चेष्टयन् । प्रभासते शोभते । आचरितानि स्वानुष्ठानानि दर्शयन् प्रभासते आचार्यस्तेन कारणेनोच्यते इति । एवं विशिष्टाचार्यस्य यो नमस्कारं करोति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥९॥

उपाध्यायनिरुक्तिमाह—

बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे ।
उवदेसइ[1] सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ।।१०।।

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि स्वाध्यायः कथितो बुधैः ।
उपदिशति स्वाध्यायं तेनोपाध्याय उच्यते ॥१०॥

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि जिनैः प्रतिपादितानि स्वाध्याय इति कथितो बुधैः पंडितैस्तं स्वाध्यायं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपं यस्मादुपदिशति प्रतिपादयति तेनोपाध्याय इत्युच्यते । तस्योपाध्यायस्य नमस्कारं यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥१०॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक (गाथा) है । दर्शनाचार आदि पाँच प्रकार के आचारों को धारण करते हुए जो शोभित होते हैं और अपने द्वारा किये गये अनुष्ठानों को जो अन्यों को दिखलाते-बतलाते हुए अर्थात् आचरण कराते हुए शोभित होते हैं, इसी कारण से वे आचार्य इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं ॥९॥

आगे उपाध्याय की निरुक्ति कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा व्याख्यात (कथित) द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है । जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण से उपाध्याय कहलाते हैं ॥१०॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग को विद्वानों ने 'स्वाध्याय' नाम से कहा है । उस द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वरूप स्वाध्याय का जो उपदेश देते हैं, अन्य जनों को उसका प्रतिपादन करते हैं इस हेतु वे 'उपाध्याय' इस नाम से कहे जाते हैं । जो प्रयत्नशील होकर उन उपाध्यायों को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥१०॥

आगे साधुओं की निरुक्तिपूर्वक नमस्कार कहते हैं—

---

१. अ प्रति में उवदेसई ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधूनां निरुक्तितो नमस्कारमाह—

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ।।११।।*

निर्वाणसाधकान् योगान् सदा युंजंति साधवः ।
समाः सर्वेषु भूतेषु तस्मात् ते सर्वसाधवः ॥११॥

यस्मान्निर्वाणसाधकान् योगान् मोक्षप्रापकान् मूलगुणादितपोऽनुष्ठानानि सदा सर्वकालं रात्रिंदिवं युंजन्ति तैरात्मानं योजयन्ति साधवः साधुचरितानि । यस्माच्च समाः समत्वमापन्नाः सर्वभूतेषु सकलजीवेषु तस्मात्कारणात्ते सर्वसाधव इत्युच्यन्ते । तेषां सर्वसाधूनां नमस्कारं भावेन यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुःखमोक्षं करोत्यचिरेण कालेनेति ॥११॥

पंचनमस्कारमुपसंहरन्नाह—

एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ।।१२।।*

गाथार्थ—निर्वाण के साधक ऐसे साधु योगों में सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवों में समताभावी हैं, इसीलिए वे सर्व साधु कहलाते हैं ॥११॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले ऐसे मूलगुण आदि तपों के अनुष्ठान में हमेशा रात-दिन वे अपनी आत्मा को लगाते हैं, जिनका आचरण साधु-सदाचार युक्त है और जिस हेतु से वे सम्पूर्ण जीवों में समता भाव को धारण करने वाले हैं, इसी हेतु से वे सर्व साधु इस नाम से कहे जाते हैं । जो प्रयत्नशील होकर उन सभी साधुओं को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥११॥

आगे पंचनमस्कार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

* फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है—

उवज्झायणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो स्थिरचित्त भव्य भावों से उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

* फलटन से प्रकाशित प्रति में यह गाथा अधिक है—

साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पाइव अचिरेण कालेण ॥

अर्थ—जो स्थिरचित्त हुआ भव्यजीव भावपूर्वक साधुओं को नमस्कार करता है वह तत्काल ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है । 'साहूण' की जगह 'अरहंत' शब्द देकर ज्यों की त्यों यह गाथा क्र० ५ पर अंकित है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं गुणयुक्तानां पंचगुरूणां विशुद्धकरणैः ।
यः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं शीघ्रं ॥१२॥

एवं गुणयुक्तानां पंचगुरूणां पंचपरमेष्ठिनां सुनिर्मलमनोवाक्कायैर्यः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं सिद्धिसुखं शीघ्रं । न पौनरुक्त्यं, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरुभयोरपि संग्रहार्थत्वादिति ॥१२॥

किमर्थं पंचनमस्कारः क्रियत इति चेदित्याह—

एसो पंच णमोयारो[1] सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि[2] मंगलं ।।१३।।

एषः पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशकः ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मंगलं ॥१३॥

एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशकः सर्वविघ्नविनाशकः मलं पापं गालयतीति विनाशयति, मंगं सुखं लान्त्याददतीति वा मंगलानीति तेषु मंगलेषु

गाथार्थ—इन गुणों से युक्त पाँचों परम गुरुओं को जो विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार करता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

आचारवृत्ति—यहाँ प्रश्न यह होता है कि आपने पहले पृथक्-पृथक् पाँचों परमेष्ठियों के नमस्कार का फल निर्वाण बताया है पुनः यहाँ पाँचों के नमस्कार का फल एक साथ फिर क्यों कहा ? यह तो पुनरुक्ति दोष हो गया । इस पर आचार्य समाधान करते हैं कि यह पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का यहाँ पर संग्रह किया गया है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अर्थ को समझने वाले संक्षेप रुचि वालों के लिए यह समष्टि-रूप कथन है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से विस्तार में रुचि रखने वाले शिष्यों के लिए पहले विस्तार से कहा जा चुका है ॥१२॥

किसलिए पंचनमस्कार किया जाता है ? इसे बतलाते हैं—

गाथार्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र सर्वपापों का नाश करने वाला है और सर्वमंगलों में यह प्रथम मंगल है ॥१३॥

आचारवृत्ति—यह पंच नमस्कार मंत्र सभी पापों का नाश करने वाला, सम्पूर्ण विघ्नों का विनाश करने वाला है इसलिए मंगल स्वरूप है । मंगल शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हैं—जो मल-पाप का गालन करते हैं-विनाश करते हैं, अथवा जो मंगं अर्थात् सुख को लाते हैं-देते हैं वे मंगल हैं ।

---

१. अ,ब,ग णमोकारो । २. ग भवदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावमंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मंगलं यस्मात्तस्मात् सर्वशास्त्रादौ मंगलं क्रियत इति ॥१३॥

पंचनमस्कारनिरुक्तिमाख्यायावश्यकनिर्युक्तेर्निरुक्तिमाह—

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा[1] ।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ।।१४।।

न वशः अवशः अवशस्य कर्म आवश्यकमिति बोद्धव्यं ।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवा भवति निर्युक्तिः ॥१४॥

न वश्यः पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायेषत्कषायरागद्वेषादिभिरनात्मीयकृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठानं तदावश्यकमिति बोद्धव्यं ज्ञातव्यं । युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थः । निरवयवा सम्पूर्णाऽखण्डिता भवति निर्युक्तिः । आवश्यकानां निर्युक्तिरावश्यकनिर्युक्तिरावश्यकसम्पूर्णोपायः अहोरात्रमध्ये साधूनां यदाचरणं तस्यावबोधकं पृथक्पृथक् स्तुति[2] स्वरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादकं

मंगल के दो भेद होते हैं—द्रव्यमंगल और भावमंगल । जिस हेतु से इन सभी मंगलों में यह पंचनमस्कार प्रथम मंगल है । इसीलिए सम्पूर्ण शास्त्रों के प्रारम्भ में मंगल किया जाता है ॥१३॥

पंचनमस्कार की निरुक्ति कहकर अब आवश्यकनिर्युक्ति की निरुक्ति कहते हैं—

गाथार्थ—जो वश में नहीं है वह अवश है । उस अवश की (मुनि की) क्रिया को आवश्यक जानना चाहिए । युक्ति और उपाय एक हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय को निर्युक्ति कहते हैं ॥१४॥

आचारवृत्ति—जो पाप आदि के वश्य नहीं है वे अवश्य है । जो इन्द्रिय, कषाय, नोकषाय और राग-द्वेष आदि के द्वारा आत्मीय (वशीभूत) नहीं किये गये हैं अर्थात् जिस समय इन इन्द्रिय कषाय आदिकों ने जिन्हें अपने वश में नहीं किया है उस समय वे (मुनि) अवश्य होने से आवश्यक कहलाते हैं और उनका जो कर्म अर्थात् आचरण है वह आवश्यक कहा गया है—ऐसा जानना चाहिए । युक्ति और उपाय—ये एकार्थवाची हैं । उस निरवयव अर्थात् सम्पूर्ण-अखण्डित उपाय को निर्युक्ति कहते हैं । आवश्यकों की जो निर्युक्ति है उसे आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं अर्थात् आवश्यक का सम्पूर्णतया उपाय आवश्यक निर्युक्ति है ।

---

१. ग बोधव्वं ।　　२. क स्वरूपेण स्तुति र्ज० ।

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

यत्पूर्वापराविरुद्धं शास्त्रं न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते । सा च षट्प्रकारा भवंति ॥१४॥

तस्य (स्या) भेदान् प्रतिपादयन्नाह—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चक्खाणं च तहा काउस्सग्गो हवदि छट्ठो ।।१५।।

सामायिकं चतुर्विंशस्तवः वंदना प्रतिक्रमणं ।
प्रत्याख्यानं च तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठः ॥१५॥

समः सर्वेषां समानो यो यः सर्गः पुण्यं वा समायस्तस्मिन् भवं, तदेव प्रयोजनं पुण्यं तेन दीव्यतीति वा सामायिकं समये भवं वा सामायिकं । चतुर्विंशतिस्तवः चतुर्विंशतितीर्थकराणां स्तवः स्तुतिः । वन्दना सामान्यरूपेण स्तुतिर्जयति भगवानित्यादि, पंचगुरुभक्तिपर्यन्ता पंचपरमेष्ठिविषयनमस्कारकरणं वा शुद्धभावेन ।

अहोरात्र के मध्य साधुओं का जो आचरण है उसको बतलाने वाले को पृथक्-पृथक् स्तुति रूप से "जयति भगवान्"—इत्यादि के प्रतिपादक जो पूर्वापर से अविरुद्ध शास्त्र हैं जो कि न्यायरूप हैं, उन्हें आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं । उस आवश्यक निर्युक्ति के छह प्रकार हैं ॥१४॥

आवश्यक के छह भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग—ये छह आवश्यक हैं ॥१५॥

आचारवृत्ति—'सम' अर्थात् सभी का समान रूप जो 'अय' अर्थात् सर्ग अथवा पुण्य है उसे 'समाय' कहते हैं (पुण्य का नाम 'अय' भी है अतः पुण्य के पर्यायवाची शब्द के सम+अय=समाय बना है । उसमें जो होवे सो सामायिक है । यहाँ "समाय" में इकण् प्रत्यय होकर बना है) अथवा वही पुण्य प्रयोजन है जिसका अथवा 'तेन दीव्यति' उस समय से शोभित होता है (इस अर्थ में भी इकण् प्रत्यय हो गया है) अथवा 'समय' में जो हो उसे प्रथम (१) सामायिक आवश्यक कहते हैं । (२) चौबीस तीर्थकरों की स्तुति को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं । (३) सामान्यरूप से "जयति भगवान् हेमांभोज-प्रचार विजृंभिता–" इत्यादि चैत्यभक्ति से लेकर पंचगुरुभक्ति पर्यन्त विधिवत् जो स्तुति की जाती है उसे वन्दना कहते हैं अथवा शुद्ध भाव से पंचपरमेष्ठी विषयक नमस्कार करना वन्दना आवश्यक है । (४) पूर्व में किये गये दोषों का निराकरण करना और व्रतादि का उच्चारण करना अर्थात् व्रतों के दण्डकों का उच्चारण करते हुए उन सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए "मिच्छा मे दुक्कडं' बोलना सो प्रति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमणं व्यतिक्रान्तदोषनिर्हरणं व्रताद्युच्चारणं च । प्रत्याख्यानं भविष्यत्काल-विषयवस्तुपरित्यागश्च । तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठः । सामायिकावश्यक-निर्युक्तिः चतुर्विंशतिस्तवाश्यकनिर्युक्तिः, वन्दनावश्यकनिर्युक्तिः, प्रतिक्रमणावश्यक-निर्युक्तिः, प्रत्याख्यानावश्यकनिर्युक्तिः, कायोत्सर्गावश्यकनिर्युक्तिरिति ॥१५॥

तत्र सामायिकनामावश्यकनिर्युक्तिं वक्तुकामः प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागदं आणुपुव्वीए[1] ॥१६॥

सामायिकनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेन ।
आचार्यपरंपरया यथागतं आनुपूर्व्या ॥१६॥

सामायिकनिर्युक्तिं सामायिकनिरवयवोपायं वक्ष्ये यथाक्रमं समासेनाचार्य-परंपरया यथागतमानुपूर्व्या । अधिकारक्रमेण पूर्वं यथानुक्रमं सामायिककथन-विशेषणं पाश्चात्यानुपूर्वीग्रहणं, यथागतविशेषणमिति कृत्वा न पुनरुक्त-दोषः ॥१६॥

क्रमण है । (५) भविष्यकाल के लिए वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है । तथा (६) काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग आवश्यक है ।

इस प्रकार १-सामायिक आवश्यक निर्युक्ति, २-चतुर्विंशति आवश्यक निर्युक्ति, ३-वन्दना आवश्यक निर्युक्ति, ४-प्रतिक्रमण आवश्यक निर्युक्ति, ५-प्रत्याख्यान आवश्यक निर्युक्ति और ६-कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति—ये आवश्यक निर्युक्ति के छह भेद हैं ॥१५॥

अब पूर्वोक्त छह आवश्यकों में से प्रथम सामायिक नामक आवश्यक-निर्युक्ति को कह रहा हूँ—

गाथार्थ—आचार्य परम्परानुसार आगत यथाक्रम से संक्षेप में मैं आनुपूर्वी क्रम से सामायिक निर्युक्ति को कहूँगा ॥१६॥

आचारवृत्ति—अधिकार के क्रम से संक्षेप में मैं आचार्य परम्परा के अनुरूप अविच्छिन्न प्रवाह से समागत सामायिक के सम्पूर्ण उपाय रूप इस प्रथम सामायिक आवश्यक को कहूँगा ॥१६॥

---

*ग्रन्थारम्भ से यहाँ तक की कुल १६ गाथाओं (एवं सम्पूर्ण मूलाचार में आरम्भ से यहाँ) तक की 'संस्कृत टीका के आधार पर पुरानी हिन्दी (ढूंढारी भाषा) में भाषावचनिका के लेखक पं० नन्दलाल जी समय हैं । इनके अचानक स्वर्गवास के बाद शेष भाग की भाषा वचनिका के कर्ता जयपुर के ही निवासी पं० ऋषभदास निगोत्या हैं । हिन्दी अनुवाद करने में इस भाषा वचनिका का काफी साहाय्य प्राप्त हुआ ।

---

१. अ, ब-पुव्वीय ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकनिर्युक्तिरपि षट्प्रकारा तामाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
सामाइयह्मि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ।।१७।।

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालस्तथैव भावश्च ।
सामायिके एषः निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ।।१७।।

अथवा निक्षेपविरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति सामायिकनिर्युक्तिनिक्षेपो वर्ण्यते—नामसामायिकनिर्युक्तिः, स्थापना-सामायिकनिर्युक्तिः, द्रव्यसामायिकनिर्युक्तिः, क्षेत्रसामायिकनिर्युक्तिः, काल-सामायिकनिर्युक्तिः, भावसामायिकनिर्युक्तिः । नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन सामायिक एष निक्षेप उपायः षट्प्रकारो भवति ज्ञातव्यः ।

शुभनामान्यशुभनामानि च श्रुत्वा रागद्वेषादिवर्जनं नामसामायिकं नाम । काश्चन स्थापनाः सुस्थिताः सुप्रमाणाः सर्वावयवसम्पूर्णाः सद्भावरूपा मन आह्लादकारिण्यः । काश्चन पुनः स्थापना दुस्थिताः प्रमाणरहिताः सर्वावयवैर-सम्पूर्णाः सद्भावरहितास्तास्तासु उपरि रागद्वेषयोरभावः स्थापनासामायिकं नाम ।

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ।।१७।।

आचारवृत्ति—अथवा निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान यदि किया जाता है तो वह वक्ता और श्रोता दोनों को ही उत्पथ (गलत) मार्ग में पतन करा देता है इसलिए सामायिक निर्युक्ति में निक्षेप का वर्णन करते हैं । नाम सामायिक निर्युक्ति, स्थापना सामायिक निर्युक्ति, द्रव्य सामायिक निर्युक्ति, क्षेत्र सामायिक निर्युक्ति, काल सामायिक निर्युक्ति और भाव सामायिक निर्युक्ति—इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक में यह निक्षेप अर्थात् जानने का उपाय छह प्रकार के जानना चाहिए । उसे ही स्पष्ट करते हैं—

शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष आदि का त्याग करना **नाम सामायिक** है ।

कुछ स्थापनाएँ अर्थात् मूर्तियाँ सुस्थित हैं, सुप्रमाण हैं, सर्व अवयवों से सम्पूर्ण हैं, सद्भावरूप-तदाकार हैं और मन के लिए आह्लादकारी हैं । पुनः कुछ एक स्थापनाएँ, दुःस्थित हैं, प्रमाण रहित हैं, सर्व अवयवों से परिपूर्ण नहीं है और सद्भाव रहित-अतदाकार हैं—इन दोनों मूर्तियों में राग-द्वेष का अभाव होना **स्थापना सामायिक** है ।

सोना, चाँदी, मुक्ताफल, माणिक्य आदि मिट्टी, काष्ठ, कंटक आदि में सम-भाव रखना, राग-द्वेष का अभाव **द्रव्य-सामायिक** है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुवर्णरजतमुक्ताफलमाणिक्यादिमृत्तिकाकाष्ठकंटकादिषु समदर्शनं रागद्वेषयोरभावो द्रव्यसामायिकं नाम । कानिचित् क्षेत्राणि रम्याणि आरामनगरनदीकूपवापीतडाग-जनपदोपचितानि, कानिचिच्च क्षेत्राणि रूक्षकंटकविषमविरसास्थिपाषाणसहितानि जीर्णाटवीशुष्कनदीमरुसिकतापुंजादिबाहुल्यानि तेषूपरि रागद्वेषयोरभावः क्षेत्रसामायिकं नाम । प्रावृड्वर्षाहैमन्तशिशिरवसन्तनिदाघाः षड्ऋतवो रात्रिदिवसशुक्लपक्ष-कृष्णपक्षाः कालस्तेषूपरि रागद्वेषवर्जनं कालसामायिकं नाम । सर्वजीवेषूपरि मैत्री-भावोऽशुभपरिणामवर्जनं भावसामायिकं नाम ।

अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं नाम-सामायिकं नाम । सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकं नाम । द्रव्यसामायिकं द्विविधं आगमद्रव्यसामायिकं नोआगमद्रव्यसामायिकं चेति । सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायी अनुपयुक्तो जीव आगम-द्रव्यसामायिकं नाम । नोआगमद्रव्यसामायिक त्रिविधं सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञा-यकशरीरसामायिकप्राभृतभविष्यज्ज्ञायकजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन । ज्ञायकशरीरगति त्रिविधं भूतवर्तमानभविष्यद्भेदेने । भूतमपि त्रिविधं च्युतच्यावितत्यक्तभेदेन ।

कोई-कोई क्षेत्र रम्य होते हैं; जैसे कि बगीचे, नगर, नदी, कूप, बावड़ी, तालाब, जनपद-देश आदि से सहित स्थान, तथा जैसे कि रूक्ष, कंकटयुक्त, विषम, विरस, हड्डी और पाषाण सहित कोई-कोई क्षेत्र अशोभन स्थान होते हैं; जीर्ण अटवी, सूखी नदी, मरुस्थल बालू के पुंज की बहुलतायुक्त भूमि, इन दोनों प्रकार के क्षेत्रों में राग-द्वेष का अभाव होना **क्षेत्र सामायिक** कहा गया है ।

प्रावृड्, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, वसंत और निदाघ अर्थात् ग्रीष्म—इन छह ऋतुओं में, रात्रि-दिवस तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में, इन कालों में राग-द्वेष का त्याग **काल सामायिक** है ।

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह **भाव सामायिक** है । **अथवा**

जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का "सामायिक"– ऐसा संज्ञाकरण करना (नाम रख देना) **नाम सामायिक** है ।

सामायिक आवश्यक से परिणत हुए आकार वाली अथवा अनाकार वाली किसी वस्तु में गुणों का आरोपण करना **स्थापना सामायिक** है ।

द्रव्य सामायिक के दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नो-आगम द्रव्य सामायिक । सामायिक के वर्णन करने वाले शास्त्र को जानने वाला किन्तु जो उस समय उस विषय में उपयोग युक्त नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं क्षेत्रं क्षेत्रसामायिकं नाम । यस्मिन् काले सामायिकं करोति स कालः पूर्वाह्णादिभेदभिन्नः कालसामायिकं । भावसामायिकं द्विविधं, आगमभावसामायिकं नोआगमभावसामायिकं चेति । सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञाय्युपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकं नाम, सामायिकपरिणतपरिणामादि नोआगमभावसामायिकं नाम । तथेषां मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगमभावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥१७॥

निरुक्तिपूर्वकं भावसामायिकं प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं ।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण[1] ॥१८॥

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिः यत्तत् प्रशस्तसमगमनं ।
समयस्तु स तु भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥१८॥

नो-आगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त । सामायिक के वर्णन करने वाले प्राभृत को जानने वाले का शरीर ज्ञायक शरीर है, भविष्यकाल में सामायिक प्राभृत को जानने वाला जीव भावी है और उससे भिन्न तद्व्यतिरिक्त है । ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत् । भूतकालीन ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त । सामायिक से परिणत हुए जीव से अधिष्ठित क्षेत्र, क्षेत्र-सामायिक है । जिस काल में सामायिक करते हैं, पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न आदि भेद युक्त काल **काल-सामायिक** है ।

भाव सामायिक के भी दो भेद हैं—आगम भाव सामायिक और नो-आगम भाव सामायिक । सामायिक के वर्णन करने वाले—प्राभृत-ग्रन्थ का जो ज्ञाता है और उसके उपयोग से युक्त है वह जीव, आगम-भावसामायिक है । और, सामायिक से परिणत परिणाम आदि को नो-आगम भाव सामायिक कहते हैं । इनमें से यहाँ आगम-भाव सामायिक और नो-आगमभाव सामायिक से प्रयोजन है ऐसा समझना ॥१७॥

आगे निरुक्तिपूर्वक भावसामायिक का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम (एकता) है वह समय कहा गया है, उसे ही सामायिक जानो ॥१८॥

---

१. अ,ब-जाणे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिर्यत्तत् प्रशस्तं समागमनं प्रापणं तैः सहैक्यं च जीवस्य यत् समयस्तु समय एव भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥१८॥

तथा यः—

जिदउवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु ।
जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो ॥१९॥

जितोपसर्गपरीषह उपयुक्तः भावनासु समितिषु ।
यमनियमोद्यमतिः सामायिकपरिणतो जीवः ॥१९॥

जिताः सोढा उपसर्गाः परीषहाश्च येन स जितोपसर्गपरीषहः समितिषु भावनासु चोपयुक्तो यः यमनियममोद्यतमतिश्च यः, स सामायिकपरिणतो जीव इति ॥१९॥

तथा—

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु ।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं ॥२०॥

यस्माच्च सम आत्मनि परे च मातरि सर्वमहिलासु ।
अप्रियप्रियमानादिषु तस्मात् श्रमणस्ततश्च सामयिकं ॥२०॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के साथ जो जीव का ऐक्य है वह 'समय' कहा जाता है और उस समय को ही सामायिक जानना चाहिए ॥१८॥

गाथार्थ—जिन्होंने उपसर्ग और परीषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त है, यम और नियम में उद्यमशील है, वे जीव सामायिक से परिणत हैं ॥१९॥

आचारवृत्ति—जो उपसर्ग और परिषहों को जीतने वाले होने से जितेन्द्रिय हैं, जो (पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं अथवा मैत्री आदि) भावनाओं में तथा समितियों में लगे हुए हैं, यम और नियम में तत्पर जीव हैं वे बुद्धि सामायिक से परिणत हैं—ऐसा समझो ॥१९॥

गाथार्थ—जिस कारण से अपने और पर में, माता और सर्व महिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि में समानभाव होता है इसी कारण से वे श्रमण हैं और इसी से वे सामायिक हैं ॥२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्माच्च समो रागद्वेषरहित आत्मनि परे च, यस्माच्च मातरि सर्वमहिलासु च शुद्धभावेन समानः, सर्वा योषितो मातृसदृशः पश्यति, यस्माच्च प्रियाप्रियेषु समानः, यस्माच्च मानापमानादिषु समानस्तस्मात् स श्रमणस्ततश्च तं सामायिकं जानीहीति सम्बन्धः ॥२०॥ तथा—

जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च ।
सब्भावं[1] तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे[2] ॥२१॥

यः जानाति समवायं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च ।
सद्भावं तं सिद्धं सामायिकमुत्तमं जानीहि ॥२१॥

पूर्वगाथाभ्यां सम्यक्त्वसंयमयोः समागमनं[3] व्याख्यातं अनया पुनर्गाथया ज्ञानसमागमन[4] माचष्टे । यो जानाति समवायं सादृश्यं वा द्रव्याणां, द्रव्यसमवायं क्षेत्रसमवायं कालसमवायं भावसमवायं च जानाति । तत्र द्रव्यसमवायो नाम धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवप्रदेशाः समाः । क्षेत्रसमवायो नाम सीमन्तनरकमनुष्य-

---

आचारवृत्ति—जिससे वे अपने और पर में राग-द्वेष रहित समभाव हैं, जिससे वे माता और सर्व महिलाओं में शुद्ध भाव से समान हैं अर्थात् सभी स्त्रियों को माता के सदृश देखते हैं, जिस वस्तु से प्रिय और अप्रिय में समान भावी हैं, और जिस हेतु से वे मान-अपमान (आदि शब्द से जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, महल, श्मशान तथा शत्रु-मित्र आदि) में जो समभावी हैं, इन्हीं हेतुओं से वे श्रमण कहलाते हैं और इसीलिए तुम उन्हें सामायिक जानो । अर्थात् समता भाव से युक्त मुनि को ही सामायिक जानना चाहिए ॥२०॥

गाथार्थ—जो द्रव्यों के, गुणों के और पर्यायों के समवाय को और सद्भाव को जानता है उसके उत्तम सामायिक सिद्ध हुई—ऐसा जानो ॥२१॥

आचारवृत्ति—पूर्व में दो गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व और संयम का समागमन अर्थात् जीव के साथ ऐक्य बतलाया है और अब पुनः इस गाथा के द्वारा जीव के साथ ज्ञान का समागमन अर्थात् ऐक्य बतलाते हैं । जो द्रव्यों के समवाय अर्थात् सादृश्य को अथवा स्वरूप को जानते हैं अर्थात् द्रव्य समवाय, क्षेत्र समवाय, काल समवाय और भाव समवाय को जानते हैं, वे मुनि उत्तम सामायिक कहलाते हैं । उसमें द्रव्य के समवाय-सादृश्य को कहते हैं ।

द्रव्यों की सदृशता का नाम द्रव्य समवाय है; जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव-इनके प्रदेश समान हैं, अर्थात् इन चारों में असंख्यात प्रदेश हैं और वे पूर्णतया समान हैं । ऐसे ही क्षेत्र से सदृशता क्षेत्र समवाय है ।

---

१. क ०सज्झावत्तं सि० । २. क जाण । ३-४. क समगमनं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्रर्जुविमानसिद्धालयाः समाः । कालसमवायो नाम समयः समयेन समः, अवसर्पिण्युत्सर्पिण्या समेत्यादि । भावसमवायो नाम केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सममिति ।

गुणा रूपरसगन्धस्पर्शज्ञातृत्वदृष्टत्वादयस्तेषां समानतां जानाति । अथवौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिका गुणास्तेषां समानतां जानाति । पर्याया नारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वदेवत्वादयस्तेषां समानतां जानाति । द्रव्याधारत्वेनापृथग्वर्तित्वेन च गुणानां समवायः ।

पर्यायाणां उत्पादविनाशध्रौव्यत्वेन समवायो भावसमवायो गुणेष्वन्तर्भवति । क्षेत्रसमवायः पर्यायेष्वन्तर्भवति । कालसमवायो द्रव्यसमवायेऽन्तर्भवतीति । द्रव्यसमवायं गुणसमवायं पर्यायसमवायं च यो जानाति तेषां सिद्धिं[१] सद्भावं निष्पन्नं परमार्थरूपं च यो जानाति तं संयतं सामायिकमुत्तमं जानीहि । अथवा द्रव्याणां समवायं सिद्धिं, गुणपर्यायाणां च सद्भावं यो जानाति तं सामायिकं जानीहि ।

प्रथम नरक का सीमंतक बिल, मनुष्य क्षेत्र (नई द्वीप), प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान और सिद्धालय में समान हैं अर्थात् ये सभी पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं । काल की सदृशता काल-समवाय है, जैसे समय समय के समान है, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के समान है इत्यादि । भावों की सदृशता भाव-समवाय है; जैसे केवलज्ञान केवलदर्शन के समान है ।

रूप-रस-गंध और स्पर्श तथा ज्ञातृत्व और दृष्टत्व आदि गुणों की समानता को जो जानते हैं वे गुणों के समवाय को जानते हैं । अथवा जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक गुण हैं उनकी समानता को जानना गुण समवाय है । नारकत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और देवत्व आदि पर्यायें हैं, इनकी समानता को जानना पर्याय समवाय है । अर्थात् जो द्रव्य के आधार में रहते हैं और द्रव्य से अपृथग्वर्ती हैं—कभी भी उनसे पृथक् नहीं किए जा सकते हैं अतः अयुतसिद्ध हैं, यह गुणों का समवाय है ।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से पर्यायों का समवाय होता है । ऊपर में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समवाय कहे गए हैं उनको द्रव्य, गुण और पर्यायों के अन्तर्गत करने से द्रव्य, गुण और पर्याय नाम से तीन प्रकार के समवाय माने जाते हैं । सो ही बताते हैं—कि भाव समवाय गुणों में अन्तर्भूत हो जाता है । क्षेत्र समवाय गुणों में अन्तर्भूत हो जाता है । क्षेत्र समवाय पर्यायों में, काल समवाय द्रव्य-समवाय में अन्तर्भूत हो जाता है । इस तरह जो मुनि द्रव्य समवाय, गुण समवाय और पर्यायसमवाय को जानते हैं, इनकी सिद्धि को

---

१. क सिद्धं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा [१]समवृत्ति समवायं, द्रव्य-गुणपर्यायाणां समवृत्ति, द्रव्यं गुणविरहितं नास्ति गुणाश्च द्रव्यविरहिता न सन्ति पर्यायाश्च द्रव्यगुणरहिता न सन्ति । [२]एवंभूतं समवृत्ति समवायं सद्भावरूपं न संवृत्तिरूपं, न कल्पनारूपं, नाप्यविद्यारूपं, स्वतः सिद्धं न समवायद्रव्यबलेन यो जानाति तं सामायिकं जानीहीति सम्बन्धः ॥२१॥

सम्यक्त्वचारित्रपूर्वकं सामायिकमाह—

रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु[३] ।
सुत्तेसु य[४] परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे ।।२२।।

रागद्वेषौ निरुद्ध्य समता सर्वकर्मसु ।
सूत्रेषु च परिणामः सामायिकमुत्तमं जानीहि ॥२२॥

रागद्वेषौ निरुध्य सर्वकर्मसु सर्वकर्तव्येषु या समता, सूत्रेषु च द्वादशांग-चतुर्दशपूर्वेषु च यः परिणामः श्रद्धानं सामायिकमुत्तमं प्रकृष्टं जानीहि ॥२२॥

निष्पन्नता को अर्थात् पूर्णता को और इनके सद्भाव को, परमार्थ रूप को जानते हैं उन संयतों को तुम उत्तम सामायिक जानो । अथवा द्रव्यों की समवाय सिद्धि को और गुणों तथा पर्यायों के सद्भाव को जो जानते हैं उन्हें सामायिक जानो ।

अथवा समवृत्ति-सहवृत्ति अर्थात् साथ-साथ रहने का नाम समवाय है । इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायों की सहवृत्ति को जो जानते हैं उनको तु सामायिक जानो । जैसे द्रव्य गुणों से विरहित नहीं है, और गुण द्रव्य से विरहित नहीं रहते हैं तथा पर्यायें भी द्रव्य और गुणों से रहित होकर नहीं होती हैं । इस प्रकार का जो सहवृत्ति रूप समवाय है वह सद्भाव रूप है, वह न संवृत्ति रूप है न ही कल्पनारूप और न अविद्यारूप ही है । वह समवाय किसी एक पृथग्भूत समवाय नामक पदार्थ के बल से सिद्ध नहीं है बल्कि स्वतः सिद्ध है ऐसा जो मुनि जानते हैं उनको ही तुम सामायिक जानो, ऐसा (गाथा के अर्थ का) सम्बन्ध होता है ॥२१॥ आगे सम्यक्त्व-चारित्र पूर्वक सामायिक कहते हैं—

गाथार्थ—राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना, और सूत्रों में परिणाम होना—इनको तुम उत्तम सामायिक जानो ॥२२॥

आचारवृत्ति—राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में जो समता है और द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्वरूप सूत्रों का जो श्रद्धान है, वही प्रकृष्ट सामायिक है—ऐसा जानो ॥२२॥ अब आगे तपःपूर्वक सामायिक कहते हैं—

---

१. क समवायवृत्ति द्र० ।
२. क एवं निर्वृत्तिसमवायं सद्भावरूपं ।
३. क समकं मदा ।
४. अ प्रति में 'अ' ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तपःपूर्वकं सामायिकमाह—

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ।।२३।।

विरतः सर्वसावद्यं त्रिगुप्तः पिहितेंद्रियः ।
जीवः सामायिकं नाम संयमस्थानमुत्तमं ॥२३॥

सर्वसावद्याद्यो विरतस्त्रिगुप्तः, पिहितेन्द्रियो निरुद्धरूपादिविषयः, एवंभूतो जीवः सामायिकं संयमस्थानमुत्तमं जानीहि जीवसामायिकसंयमयोरभेदादिति ॥२३॥

भेदं च प्राह—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ।।२४।।

यस्य संनिहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि ।
तस्य सामायिकं तिष्ठति इति केवलिशासने ॥२४॥

यस्य सन्निहितः स्थितः आत्मा । क्व, संयमे नियमे तपसि च तस्य सामायिकं तिष्ठति । इत्येवं केवलिनां शासनं एवं केवलिनामाज्ञा शिक्षा वा । अथवास्मिन् केवलिशासने जिनागमे तस्य सामायिकं तिष्ठतीति ॥२४॥

गाथार्थ—सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है ॥२३॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्व पापयोग से विरत हैं, तीन गुप्ति से सहित हैं, रूपादि विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने से जो जितेन्द्रिय हैं ऐसे संयत जीव को ही संयम के स्थानभूत उत्तम सामायिक रूप समझो । क्योंकि जीव और सामायिक संयम में अभेद है अर्थात् जीव के आश्रय में ही सामायिक संयम पाया जाता है । यहाँ अभेदरूप से सामायिक का प्रतिपादन हुआ है ॥२३॥

गाथार्थ—जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है, उसके सामायिक रहता है ऐसा केवली के शासन में कहा है ॥२४॥

आचारवृत्ति—जिनकी आत्मा संयम आदि में लगी हुई है उसके ही सामायिक होता है, इस प्रकार केवली भगवान् का शासन है अर्थात् केवली भगवान् की आज्ञा है अथवा उनकी शिक्षा है । अथवा केवली भगवान् के इस शासन में अर्थात् जिनागम में उसी जीव के सामायिक होता है ऐसा अभिप्राय समझना ॥२४॥ आगे समताभाव पूर्वक भेद के द्वारा सामायिक कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समत्वभावपूर्वकं भेदेन सामायिकमाह—

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य ।
[1]तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ।।२५।।

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च ।
तस्य सामायिकं नाम इति केवलिशासने ॥२५॥

यः समः सर्वभूतेषु-त्रसेषु स्थावरेषु च समस्तेषामपीडाकरस्तस्य सामायिकमिति ॥२५॥

रागद्वेषविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ।
यस्य रागश्च दोषश्च विकृतिं न जनयतस्तु ।
यस्य रागद्वेषौ विकृतिं विकारं न जनयतस्तस्य सामायिकमिति ।
कषायजयेन सामायिकमाह—

***जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदो[2] ।**
येन क्रोधश्च मानश्च माया लोभश्च निर्जिताः ।

गाथार्थ—सभी प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में, जो समभावी है उसके सामायिक होता है, ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है ॥२५॥

आचारवृत्ति—जो सर्व प्राणियों में, त्रसों और स्थावरों में, समभाव रखते हैं अर्थात् उनको पीड़ा नहीं देते हैं उनके सामायिक होता है ॥२५॥

अर्थ-गाथार्थ—जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करते हैं उनके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ।

अर्थ-गाथार्थ—जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है उनके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ॥२६॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने अनन्तानुबंधी आदि चार भेदों सहित क्रोध, मान, माया, लोभ का तथा हास्य आदि नो-कषायों का दलन कर दिया है उन्हीं के सामायिक होता है ॥२६॥ आगे संज्ञा, लेश्या का अभाव रूप भेदकर सामायिक कहते हैं—

---

*ग प्रति माणिकचन्द ग्रन्थमाला और भा० ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार में इस गाथा से गाथा-संख्या बदली हुई है । क्रमशः इस गाथा सं० २७ एवं २८ है । किन्तु भाषा वचनिका के अनुसार संख्या में परिवर्तन किया गया है ।

---

१. अस्याः गाथायाः उत्तरार्धं द्वात्रिंशत्तमगाथापर्यन्तं संयोज्य संयोज्य पठनीयम् ।
२. अ, ब णिज्जिदा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

येन क्रोधमानमायालोभाः सभेदाः सनोकषाया निर्जिता दलितास्तस्य सामायिकमिति ।

संज्ञालेश्याविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणंति[1] दु ।।२६।।

यस्य संज्ञाश्च लेश्याश्च विकृतिं न जनयंति तु ॥२६॥

यस्य संज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा विकृतिं विकारं न जनयन्ति । तथा यस्य लेश्याः कृष्णनीलकापोतपीतपद्मलेश्याः । कषायानुरञ्जितयोगवृत्तयो विकृतिं विकारं न जनयन्ति तस्य सामायिकमिति ॥२६॥

कामेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो दु रसे य[2] फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ।

यस्तु रसं च स्पर्शं च कामे वर्जयति नित्यशः ।

रसःकटुकषायादिभेदभिन्नः, स्पर्शो मृद्वादिभेदभिन्नः रसस्पर्शौ काम इत्युच्यते । रसनेन्द्रियं स्पर्शनेन्द्रियं च कामेन्द्रिये । यो रसस्पर्शौ कामौ वर्जयति नित्यं । कामेन्द्रियं च निरुणद्धि तस्य सामायिकमिति ।

अर्थ-गाथार्थ—जिनके संज्ञाएँ और लेश्याएँ विकार को उत्पन्न नहीं करती उसके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ।

आचारवृत्ति—जिनके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इनकी अभिलाषा-रूप चार संज्ञाएँ विकार को उत्पन्न नहीं करती हैं, तथा जिनके कृष्ण, नील, कपोत, पीत और पद्म—ये कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप लेश्याएँ विकार को पैदा नहीं करती हैं उनके सामायिक होता है ॥२६॥

अर्थ-गाथार्थ—जो मुनि रस और स्पर्श—इन काम (वासना) को नित्य ही छोड़ते हैं, उनके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ।

आचारवृत्ति—कटु, कषाय, अम्ल, तिक्त और मधुर—ऐसे रस पाँच हैं । मृदु, कठोर, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ऐसे स्पर्श के आठ भेद हैं । इन रस और स्पर्श को काम कहते हैं तथा रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय को कामेन्द्रिय कहते हैं । जो मुनि रस और स्पर्श का नित्य ही वर्जन करते हैं और कामेन्द्रिय का निरोध करते हैं उन्हीं के सामायिक होता है ॥२७॥

---

१. अ, व जणेंणी ।
२. अ–जो रसे दुरसे य, ब–जो रसेन्द्रियफासे य....,
(ग) जो रसे य फासे य कामे.....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ।।२७।।

यः रूपगंधशब्दांश्च भोगं वर्जयति नित्यशः ॥२७॥

यः रूपं कृष्णनीलादिभेदभिन्नं, गन्धो द्विविधः सुरभ्यसुरभिभेदेन च, शब्दो वीणावंशादिसमुद्भवः, रूपगन्धशब्दा भोगा इत्युच्यन्ते चक्षुर्घ्राणश्रोत्राणि भोगेन्द्रियाणि, यो रूपगन्धशब्दान् वर्जयति, भोगेन्द्रियाणि च नित्यं सर्वकालं निवारयति तस्य सामायिकमिति ॥२७॥

दुष्टध्यानपरिहारेण सामायिकमाह—

जो दु अट्टं रुद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा ।

यस्तु आर्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः ।

चकारावनयोः स्वभेदग्राहकाविति कृत्वैवमुक्यते यस्त्वार्तं चतुष्प्रकारं रौद्रं च चतुष्प्रकारं ध्यानं वर्जयति सर्वकालं तस्य सामायिकमिति ।

गाथार्थ—जो रूप, गन्ध और शब्द—इन भोगों को नित्य ही छोड़ देता है उसके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ॥२७॥

आचारवृत्ति—कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत में रूप के पाँच भेद हैं। सुरभि के और असुरभि के भेद से गन्ध दो प्रकार का है। वीणा और बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्द अनेक प्रकार के हैं। इन रूप, गंध और शब्द को भोग कहते हैं तथा इनको ग्रहण करने वाली क्रमशः चक्षु, घ्राण एवं कर्ण—इन तीनों इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय कहते हैं। जो मुनि इन रूप, गन्ध और शब्द का वर्जन करते हैं तथा भोगेन्द्रियों का नित्य ही निवारण करते हैं अर्थात् इन इन्द्रियों के विषयों में राग, द्वेष नहीं करते हैं—उनके सामायिक होता है ॥२७॥

आगे दुर्ध्यान त्याग कहते हैं—

गाथार्थ—जो आर्त और रौद्र ध्यान का नित्य ही त्याग करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

आचारवृत्ति—इस गाथा में जो दो बार 'च' शब्द है वे इन दोनों ध्यानों के अपने-अपने भेदों को ग्रहण करने वाले हैं। इसलिए ऐसा समझना कि जो मुनि **चार प्रकार के आर्तध्यान** (१. अमनोज्ञ योग, २. इष्टवियोग, ३. परिषह और ४. निदानकरण) को और चोरी, झूठ, परिग्रह संरक्षण और षड्कायिक जीवों की हिंसा रूप आरम्भ—**ये चार प्रकार के रौद्रध्यान** को सर्वकाल के लिए छोड़ देते हैं—उनके सामायिक होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभध्यानद्वारेण सामायिकस्थानमाह—

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणे झायदि णिच्चसा ।।२८।।

यस्तु धर्मं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ॥२८॥

अत्रापि चकारावनयोः स्वभेदप्रतिपादकाविति कृत्वैवमाह—यस्तु धर्मं चतुष्प्रकारं शुक्लं च चतुष्कारं ध्यानं ध्यायति युनक्ति सर्वकालं तस्य सामायिकं तिष्ठतीति । केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो दृष्टव्य इति ॥२८॥

किमर्थं सामायिकं प्रज्ञप्तमित्याशंकायामाह—

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं ।।२९।।

सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं ।
गृहस्थधर्मोऽपरम इति ज्ञात्वा कुर्यात् बुधः आत्महितं प्रशस्तै ॥२९॥

वृत्तमेतत् । सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं पापास्रववर्जनाय सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं प्रतिपादितं स्तुतमिति । यस्मात्तस्माद् गृहस्थधर्मः समारम्भारम्भादिप्रवृत्ति-विशेषोऽपरमो जघन्यःसंसारहेतुरिति ज्ञात्वा बुधः संयतः प्रशस्तं शोभनमात्महितं सामायिकं कुर्यादिति ॥२९॥

गाथार्थ—जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान को नित्य ही ध्याते हैं उनके सामायिक होता है—ऐसा जिनशासन में कहा है ॥२८॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर भी दो चकार इन दोनों ध्यानों के स्वभेदों के प्रतिपादक हैं । अर्थात् जो मुनि चार प्रकार के धर्म-ध्यान को और चार प्रकार के शुक्ल-ध्यान को ध्याते हैं, हमेशा उनमें अपने को लगाते हैं उनके सर्वकाल सामायिक ठहरता है—ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा गया है । इस अन्तिम पंक्ति का सम्बन्ध सर्वत्र समझना चाहिए ॥२८॥

गाथार्थ—सावद्य योग का त्याग करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक कहा है । गृहस्थ धर्म जघन्य (अपरम) है, ऐसा जानकर विद्वान् प्रशस्त आत्महित करे ॥२९॥

आचारवृत्ति—यह वृत्त छन्द है । सावद्य योग का त्याग करने के लिए अर्थात् पापास्रव का वर्जन करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक का प्रतिपादन किया है उसे स्तुत कहा जाता है । क्योंकि गृहस्थ धर्म सारम्भ समारम्भ आदि प्रवृत्ति विशेष रूप होने से अपरम अर्थात् जघन्य (संसार का हेतु) है—ऐसा समझकर संयत मुनि प्रशस्त (शोभन) आत्महित रूप सामायिक करे ॥२९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।३०।।

सामायिके तु कृते श्रमणः किल श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन तु बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥३०॥

सामायिके तु कृते सति श्रावकोऽपि किल श्रमणः संयतो भवति । यस्मात्कस्मिंश्चित् पर्वणि कश्चित् श्रावकः सामायिकसंयमं समत्वं गृहीत्वा श्मशाने स्थि (तः) तस्य पुत्रनप्तृबन्ध्वादिमरणपीडादिमहोपसर्गः संजातस्तथाप्यसौ न सामायिकव्रतान्निर्गतः । भावश्रमणः संवृत्तस्तर्हि श्रावकत्वं कथं ? प्रत्याख्यानमन्दतरत्वात् । अत्र कथा वाच्या । तस्मादनेन कारणेन बहुशो बाहुल्येन सामायिकं कुर्यादिति ॥३०॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइए कदे सावएण विद्धो मओ अरण्णह्मि ।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ ।।३१।।

आचारवृत्ति—सामायिक करते समय श्रावक भी निश्चित ही संयत हो जाता है अर्थात् मुनि सदृश हो जाता है । जैसे किसी पर्व में कोई श्रावक सामायिक-संयम अर्थात् समता भाव को ग्रहण करके श्मशान में स्थित (खड़ा) हो गया है, उस समय (किसी के द्वारा) उसके पुत्र, पौत्र, नाती, बन्धु-जन आदि के मरण अथवा उनको पीड़ा देना आदि महा-उपसर्ग हो रहे हैं या स्वयं के ऊपर उपसर्ग हो रहे हैं तो भी वह सामायिक व्रत से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सामायिक के समय एकाग्रता रूप धर्मध्यान से चलायमान नहीं हुआ उस समय वह श्रावक भी श्रमण होता है ।

यहाँ **प्रश्न** होता है कि यदि वह भावों के द्वारा श्रमण अर्थात् भावश्रमण है, तब संवरयुक्त होने से उसके श्रावकत्व कैसे रहा ? इसका **उत्तर** यह कि प्रत्याख्यान-कषाय की अत्यन्त मन्दता के कारण ऐसा कहा गया है । इस विषयक वृत्तान्त (कथा) अन्य शास्त्रों से जानना चाहिए । इन सब कारणों से श्रावक को भी बहुत अधिक सामायिक करना चाहिए ॥३०॥

पुनः सामायिक का माहात्म्य कहते हैं—

गाथार्थ—कोई श्रावक सामायिक कर रहा होता है । उस समय वन में कोई हरिण वाणों से विद्ध होता हुआ आया और मर गया किन्तु वह श्रावक अपनी सामायिक से च्युत नहीं हुआ ॥३१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिके कृते श्रावकेण विद्धो मृगः अरण्ये ।
स च मृगः उद्धतः न च स सामायिकं स्फोटितवान् ॥३१॥

सामाइए–सामायिके । **कदे**=कृते । **सावएण**–श्रावकेन । **विद्धो**–व्यथितः केनापि । **मओ**–मृगो हरिणपोतः अरण्येऽटव्यां । सो य **मओ**–सोऽपि मृगः । **उद्धादो**–मृतः प्राणैर्विपन्नः । ण य सो–न चासौ । **सामाइयं**–सामायिकात् । **फिडिओ**–निर्गतः परिहीणः । केनचिच्छ्रावकेणाटव्यां सामायिके कृते शल्येन विद्धो मृगः पादान्तरे आगत्य व्यवस्थितो वेदनार्त्तः सन् स्तोकबारं स्थित्वा मृतो मृगो नासौ श्रावकः सामायिकात् संयमान्निर्गतः संसारदोषदर्शनादिति, तेन कारणेन सामायिकं क्रियत इति सम्बन्धः ॥३१॥

केन सामायिकमुद्दिष्टमित्याशंकायामाह—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति ।
छेदोवट्ठावणियं[1] पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥३२॥

द्वाविंशतितीर्थंकराः सामायिकसंयमं उपदिशंति ।
छेदोपस्थापनं पुनः भगवान् ऋषभश्च वीरश्च ॥३२॥

द्वाविंशतितीर्थंकरा अजितादिपार्श्वनाथपर्यन्ताः सामायिकसंयममुपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति । छेदोपस्थानं पुनः संयमं वृषभो वीरश्च प्रतिपादयतः ॥३२॥

आचारवृत्ति—वन में कोई श्रावक सामायिक कर रहा था, उस समय किसी व्याध (शिकारी) के द्वारा वाणों से विद्ध होकर व्यथित होता हुआ कोई हिरण वहाँ उस श्रावक के पैरों के बीच में आकर गिर पड़ा और वेदना से पीड़ित हुआ, वह तड़पता हुआ बार-बार उसके पास स्थित रहकर मर भी गया फिर भी वह श्रावक अपने सामायिक संयम से पृथक् नहीं हुआ अर्थात् सामायिक का नियम भंग नहीं किया, क्योंकि वह उस समय संसार के दोषों की स्थिति का विचार कर रहा था । इसलिए बहुत बार बहुत प्रकार से सामायिक करना चाहिए, यहाँ ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए ॥३१॥

गाथार्थ—बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं, किन्तु भगवान् वृषभदेव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं ॥३२॥

आचारवृत्ति—द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर्यन्त—बाईस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं । किन्तु छेदोपस्थापना संयम का वर्णन प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव और अन्तिम (२४वें) तीर्थंकर वर्धमान स्वामी ने ही किया है ॥३२॥

---

१. ज्ञानपीठ सं०–छेदुवठावणियं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किमर्थं वृषभमहावीरौ छेदोपस्थापनं प्रतिपादयतो यस्मात्—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि ।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ।।३३।।

आख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं चापि सुखतरं भवति ।
एतेन कारणेन तु महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानि ॥३३॥

आचक्खिदुं–कथयितुं आस्वादयितुं वा । **विभयिदुं**–विभक्तुं पृथक्-पृथक् भावयितुं । **विण्णादुं**–विज्ञातुमवबोद्धुं चापि । **सुहदरं**–सुखतरं सुखग्रहण । **होदि**–भवति । **एदेण**–एतेन । कारणेन । **महव्वदा**–महाव्रतानि । **पंचपण्णत्ता**–पंच प्रज्ञप्तानि । यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छानुष्ठातुं विभक्तुं, विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिकं तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥३३॥

किमर्थं[1]मादितीर्थेऽन्तीर्थे च च्छेदोपस्थापन[2]संयममित्याशंकायामाह—

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति[3] ।।३४।।

आदौ दुर्विशोधने निधने तथा सुष्ठु दुरनुपाले च ।
पूर्वाश्च पश्चिमा अपि हि कल्प्याकल्प्यं न जानंति ॥३४॥

गाथार्थ—जिस कारण से कहने, विभाग करने और जानने के लिए सामायिक सरल होती है उस हेतु से महाव्रत पाँच कहे गये हैं ॥३३॥

आचारवृत्ति—कहने के लिए अथवा अनुभव (आस्वाद) करने के लिए तथा पृथक्-पृथक् भावित करने के लिए और समझने के लिए भी जिनका सुख से अर्थात् सरलता से ग्रहण हो जाता है । अर्थात् जिस हेतु ये अन्य शिष्यों को प्रतिपादन करने के लिए अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिए, विभाग करके समझने के लिए भी सामायिक संयम सरल हो जाता है, इसलिए महाव्रत पाँच कहे गये हैं ॥३३॥

गाथार्थ—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य कठिनता से शुद्ध होने से तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में दुःख से उनका पालन होने से, वे पूर्व (प्रथम तीर्थंकर के शिष्य और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य और अयोग्य को नहीं जानते हैं ॥३४॥

---

१. क ०दि अंत० । २. क ०नमि० ।
३. अ,ब–याणंति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदितीर्थे शिष्याः दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुष्वभावा यतः । तथा पश्चिमतीर्थे शिष्याः दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्प्यं—योग्यं, अकल्प्यं अयोग्यं च न जानन्ति यतस्ततः आदौ निधने च छेदोपस्थानमुपदिशत इति ॥३४॥

सामायिककरणक्रममाह—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥३५॥

प्रतिलेखितांजलिकरः उपयुक्तः उत्थाय एकमनाः ।
अव्याक्षिप्तः उक्तः करोति सामायिकं भिक्षुः ॥३५॥

प्रतिलेखितावञ्जलिकरौ येनासौ प्रतिलेखिताञ्जलिकरः । उपयुक्तः समाहितमतिः, उत्थाय—स्थित्वा, एकाग्रमना अव्याक्षिप्तः, आगमोक्तक्रमेण करोति सामायिकं भिक्षुः । अथवा प्रतिलेख्य शुद्धो भूत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिं कृत्वा, प्रकृष्टाञ्जलि[१]-करमुकलितकरः प्रतिलेखनेन सहिताञ्जलिकरो वा सामायिकं करोतीति ॥३५॥

आचारवृत्ति—प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव के तीर्थ में शिष्य दुःख से शुद्ध किये जाते हैं, क्योंकि वे अतिशय सरल स्वभावी होते हैं । तथा अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) के तीर्थ में शिष्यों का दुःख से प्रतिपालन किया जाता है, क्योंकि वे अतिशय वक्रस्वभावी होते हैं । ये पूर्वकाल में शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य अर्थात् दोनों समय के शिष्य भी स्पष्टतया योग्य अर्थात् उचित और अयोग्य अर्थात् अनुचित नहीं जानते हैं, इसलिए आदि (प्रथम) और अन्त के दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है ॥३४॥

अब सामायिक करने का क्रम (विधि) कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन (मयूर-पिच्छी) सहित अंजलि जोड़कर, उपयुक्त (पूर्णतः जागृत बुद्धि युक्त) हुआ, उठकर (खड़े होकर), एकाग्रमन होकर, मन को विक्षेप रहित करके, मुनि सामायिक करता है ॥३५॥

आचारवृत्ति—जिन्होंने पिच्छी को लेकर अंजलि जोड़ ली है, जो सावधान बुद्धि वाले हैं, वे मुनि व्याक्षिप्त अर्थात् व्याकुल चित्त न होकर, खड़े होकर एकाग्रमन होते हुए, आगम में कथित विधि से सामायिक करते हैं । अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन के द्वारा शुद्ध होकर, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि को करके प्रकृष्ट रूप से अंजलि को मुकलित कमलाकार बनाकर अथवा प्रतिलेखन पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर सामायिक करते हैं ॥३५॥

---

१. क ०लिंकने कृत्वाञ्जलिकरः भु० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं चतुर्विंशतिस्तवं सूचयितुं प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
चउवीसयणिज्जुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ।।३६।।

सामायिकनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
चतुर्विंशतिनिर्युक्तिं इति ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥३६॥

सामायिकनिर्युक्तिरेषा कथिता समासेन । इत ऊर्ध्वं चतुर्विंशतिस्तव-निर्युक्तिं प्रवक्ष्यामीति ॥३६॥

[1]तदवबोधनार्थं [2]निक्षेपमाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होई ।।३७।।

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एष स्तवे ज्ञेयो निक्षेपः षड्विधो भवति ॥३७॥

नामस्तवः स्थापनास्तवो द्रव्यस्तवः क्षेत्रस्तवः कालस्तवो भावस्तव एव स्तवे निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यः । चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः, चतुर्विंशतितीर्थंकराणामपरिमितानां कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवनं चतुर्विंशतिस्थापनास्तवः । तीर्थंकरशरीराणां परमौदारिकस्वरूपाणां वर्णभेदेन स्तवनं द्रव्यस्तवः ।

गाथार्थ—मैंने संक्षेप में यह सामायिक निर्युक्ति कही है, अब इससे आगे चतुर्विंशति-स्तव को कहूँगा ॥३६॥

द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक को निक्षेप-विधि से कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, इस तरह इस चतुर्विंशतिस्तव में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥३७॥

आचारवृत्ति—चतुर्विंशतिस्तव में नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव—यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ।

चौबीस तीर्थंकरों के वास्तविक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना चतुर्विंशति **नामस्तव** है । चौबीस तीर्थंकरों की कृत्रिम अ-कृत्रिम प्रतिमाएँ स्थापना प्रतिमाएँ हैं जो कि अपरिमित हैं, अर्थात् कृत्रिम प्रतिमाएँ अगणित हैं, अकृत्रिम प्रतिमाएँ, तो असंख्य हैं उनका स्तवन करना चतुर्विंशति **स्थापना-स्तव** है । तीर्थंकरों के शरीर, जो कि परमौदारिक हैं, के वर्ण-भेदों का वर्णन करते हुए स्तवन करना **द्रव्यस्तव** है ।

---

१. क तदनुवो० । २. क ०पानाह ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कैलाससम्मेदोर्जय-न्तपावाचम्पानगरादिनिर्वाणक्षेत्राणां समवसृतिक्षेत्राणां च स्तवनं क्षेत्रस्तवः । स्वर्गा-वतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलोत्पत्तिनिर्वाणकालानां स्तवनं कालस्तवः । केवलज्ञान-केवलदर्शनादिगुणानां स्तवनं भावस्तवः ।

अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म चतुर्विंशतिमात्रं नामस्तवः । चतुर्विंशतितीर्थंकराणां साकृत्यनाकृतिवस्तुनि गुणानारोप्य स्तवनं स्थापनास्तवः । द्रव्यस्तवो द्विविधः आगमनोआगमभेदेन । चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृत[1]ज्ञायक-शरीरभाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन नोआगमद्रव्यस्तवस्त्रिविधः, पूर्ववत्सर्वमन्यत् ।

कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुरी, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रों का और समवशरण क्षेत्रों का स्तवन करना **क्षेत्र-स्तव** है । स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलोत्पत्ति और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना अर्थात् उन-उन कल्याणकों के दिन भक्तिपाठ आदि करना या उन-उन तिथियों की स्तुति करना **कालस्तव** है तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन करना **भावस्तव** है ।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष चतुर्विंशति मात्र का नामकरण है वह **नामस्तव** है । चौबीस तीर्थंकरों की आकारवान अथवा अनाकारवान अर्थात् तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु (मूर्ति) में गुणों का आरोपण करके स्तवन करना **स्थापनास्तव** है ।

आगम और नो-आगम के भेद से **द्रव्यस्तव आगम, नो-आगम के भेद से दो प्रकार** का है । जो चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है ऐसा आत्मा **आगम-द्रव्यस्तव** है । **नो-आगम द्रव्यस्तव** के तीन भेद हैं—प्राभृत के (ज्ञाता) ज्ञायक का १-शरीर, २-भावी जीव और ३-तद्व्यतिरिक्त । चौबीस तीर्थंकरों के स्तव का वर्णन करने वाले प्राभृत के ज्ञाता का शरीर ज्ञायकशरीर है । इसके भी भूत, भविष्यत, वर्तमान की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं । बाकी सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए ।

चौबीस तीर्थंकरों से सहित क्षेत्र का स्तवन करना **क्षेत्रस्तव** है । चौबीस तीर्थंकरों से सहित काल अथवा गर्भ, जन्म आदि का जो काल है उनका स्तवन करना **काल-स्तव** है ।

भावस्तव भी **आगम, नो-आगम** की अपेक्षा दो प्रकार का है । चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के जो ज्ञाता हैं और उसमें उप-योग भी जिनका लगा हुआ है उन्हें **आगमभाव चतुर्विंशति-स्तव** कहते हैं ।

---

१. क ०तज्ञश० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिस्तवसहितं क्षेत्रं कालश्च क्षेत्रस्तवः कालस्तवश्च । भावस्तव आगम-नोआगमभेदेन द्विविधः । चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशतिस्तवः । चतुर्विंशतिस्तवपरिणतपरिणामो नोआगमभावस्तव इति । भरतैरावतापेक्षश्चतुर्विंशतिस्तव उक्तः । पूर्वविदेहो[1]परविदेहापेक्षस्तु सामान्यतीर्थकरस्तव इति कृत्वा न दोष इति ॥३७॥

अत्र नामस्तवेन भावस्तवेन प्रयोजनं सर्वैर्वा प्रयोजनम् । तदर्थमाह—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥३८॥

लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थकरा जिनवराश्च अर्हंतः ।
कीर्तनीयाः केवलिन एवं च उत्तमबोधिं मह्यं दिशंतु ॥३८॥

लोको जगत् । उद्योतः प्रकाशः । धर्म उत्तमक्षमादिः । तीर्थं संसारतारणोपायम् । धर्ममेव तीर्थं कुर्वन्तीति धर्मतीर्थकराः । कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषां वरा प्रधाना जिनवराः । अर्हन्तः सर्वज्ञाः । कीर्तनं प्रशंसनं कीर्तनीया वा केवलिनः सर्वप्रत्यक्षावबोधाः । एवं च । उत्तमाः प्रकृष्टाः सर्वपूज्याः । मे बोधिं

चतुर्विंशति तीर्थंकरों के स्तवन से परिणत हुए परिणाम को **नो-आगम भाव-स्तव** कहते हैं ।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा यह चतुर्विंशति स्तव कहा गया है । किन्तु पूर्व-विदेह और अपरविदेह की अपेक्षा से सामान्य तीर्थंकर स्तव समझना चाहिए । इस प्रकार के कथन में कोई दोष नहीं है । अर्थात् पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही चतुर्थ काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं किन्तु एक सौ आठ विदेह क्षेत्रों में हमेशा ही तीर्थंकर होते रहते हैं, अतः उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है । उनकी अपेक्षा से इस आवश्यक को सामान्यतया तीर्थंकर स्तव भी कहें तो इसमें कोई दोष नहीं है ॥३७॥

गाथार्थ—लोक में उद्योत करने वाले, धर्मतीर्थ के कर्ता, जिनेश्वर, अर्हन्त, केवली, प्रशंसा के योग्य हैं । वे मुझे उत्तम बोधि प्रदान करें ॥३८॥

आचारवृत्ति—लोक अर्थात् जगत् में उद्योत अर्थात् प्रकाश को करने वाले लोकोद्योतकर कहलाते हैं । उत्तमक्षमादि को धर्म कहते हैं और संसार से पार होने के उपाय को तीर्थ कहते हैं अतः यह धर्म ही तीर्थ है । इस धर्मतीर्थ को करने वाले अर्थात् चलाने वाले धर्म तीर्थंकर कहलाते हैं । कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने

---

१. क पूर्वविदेहापेक्षस्तु ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारनिस्तरणोपायम् । दिशन्तु ददतु । एवं स्तवः क्रियते । अर्हन्तो लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थकरा जिनवराः केवलिन उत्तमाश्च ये तेषां कीर्तनं प्रशंसनं बोधिं मह्यं दिशन्तु प्रयच्छन्तु । अथवा एते अर्हंतो धर्मतीर्थकरा लोकोद्योतकराः जिनवराः कीर्तनीया उत्तमाः केवलिनो मम बोधिं दिशन्तु । अथवा अर्हन्तः सर्वविशेषणविशिष्टाः केवलिनां च कीर्तनं मह्यं बोधिं प्रयच्छन्त्विति सम्बन्धः ॥३८॥

एतैर्दशभिरधिकारैश्चतुर्विंशतिस्तवो व्याख्यायत इति कृत्वादौ तावल्लोकनिरुक्तिमाह—

लोयदि आलोयदि पलोयदि सलोयदित्ति एगत्थो[1] ।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ।।३९।।

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते इति एकार्थः ।
यस्माज्जिनैः कृत्स्नं तेन एष उच्यते लोकः ॥३९॥

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते दृश्यते इत्येकार्थः । कैर्जिनैरिति तस्माल्लोक इत्युच्यते ? कथं छद्मस्थावस्थायां—मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्यां लोक्यते दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः । अथवावधिज्ञानेनालोक्यते पुद्गलमर्यादारूपेण दृश्यते

वाले को जिन कहते हैं और उनमें वर अर्थात् जो प्रधान हैं वे जिनवर कहलाते हैं । सर्वज्ञदेव को अर्हन्त कहते हैं तथा सर्व को प्रत्यक्ष करने वाला जिनका ज्ञान है वे केवली हैं । इन विशेषणों से विशिष्ट अर्हन्त भगवान् उत्तम हैं, प्रकृष्ट हैं, सर्व पूज्य हैं । ऐसे जिनेन्द्र भगवान् मुझे संसार से पार होने के लिए उपायभूत ऐसी बोधि प्रदान करें । इस प्रकार से यह स्तव किया जाता है ॥३८॥

प्रसंग—पूर्वोक्त गाथा में इन दस अधिकारों द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का कथन किया जाता है । इनमें प्रथम **लोक शब्द की निरुक्ति** कहते हैं—

गाथार्थ—लोकित किया जाता है, आलोकित किया जाता है, प्रलोकित किया जाता है और संलोकित किया जाता है, ये चारों क्रियाएँ एकार्थक हैं अर्थात् एक दर्शन (देखना) अर्थवाली हैं । जिस हेतु से जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सब कुछ अवलोकित किया जाता है इसीलिए यह 'लोक' कहा जाता है ॥३९॥

आचारवृत्ति—लोकन करना (अवलोकन करना), आलोकन करना, प्रलोकन करना, संलोकन करना और देखना—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं । जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सर्वजगत् लोकित-अवलोकित कर लिया जाता है, इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है । यहाँ पर इन चारों क्रियाओं का पृथक्करण

---

१. क एयट्ठो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्मात्तस्माल्लोकः । अथवा मनःपर्ययज्ञानेन प्रलोक्यते विशेषेण रूपेण दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोकः । अथवा केवलज्ञानेन जिनैः कृत्स्नं यथा भवतीति तथा संलोक्यते सर्वद्रव्यपर्यायैः सम्यगुपलभ्यते यस्मात्तस्माल्लोकः । तेन कारणेन लोकः स इत्युच्यत इति ॥३९॥

नवप्रकारैर्निक्षेपैर्लोकस्वरूपमाह—

णामट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य ।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ।।४०।।

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं चिन्हं कषायलोकश्च ।
भवलोको भावलोकः पर्यायलोकश्च ज्ञातव्यः ॥४०॥

नात्र विभक्तिनिर्देशस्य प्राधान्यं प्राकृतेऽन्यथापि वृत्तेः । लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । नामलोकः स्थापनालोको द्रव्यलोकः क्षेत्रलोकश्चिह्नलोकः कषायलोको भवलोको भावलोकः पर्यायलोकश्च ज्ञातव्य इति ॥४०॥

करते हुए भी टीकाकार स्पष्ट करते हैं । छद्मस्थ अवस्था में मति और श्रुत इन दो ज्ञानों के द्वारा यह सर्व "लोक्यते" अर्थात् देखा जाता है इसीलिए इसे 'लोक' कहते हैं । अथवा अवधिज्ञान द्वारा मर्यादारूप से यह 'आलोक्यते' आलोकित किया जाता है । इसीलिए यह 'लोक' कहलाता है । अथवा मनःपर्ययज्ञान के द्वारा 'प्रलोक्यते' विशेष रूप से यह देखा जाता है अतः 'लोक' कहलाता है । अथवा केवलज्ञान के द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान् इस सम्पूर्ण जगत् को जैसा है वैसा ही 'संलोक्यते' संलोकन करते हैं अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायों को सम्यक् प्रकार से उपलब्ध कर लेते हैं—जान लेते हैं । इसलिए इसको 'लोक' इस नाम से कहा गया है ॥३९॥

नव प्रकार के निक्षेपों द्वारा लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिह्न, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक—ये नव (९) लोक जानना चाहिए ॥४०॥

आचारवृत्ति—यहाँ इस गाथा में लोक के निर्देश की विभक्ति प्रधान नहीं है क्योंकि प्राकृत में अन्यथा भी वृत्ति देखी जाती है । इनमें प्रत्येक के साथ 'लोक' शब्द को लगा लेना चाहिए । जैसे कि नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक—इन भेदों से लोक की व्याख्या नव प्रकार की हो जाती है ॥४०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र नामलोकं विवृण्वन्नाह—

णामाणि जाणि काणिचि[1] सहासुहाणि[2] लोगह्मि ।
णामलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं[3] ।।४१।।

नामानि यानि कानिचित् शुभाशुभानि लोके ।
नामलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४१॥

नामानि संज्ञारूपाणि, यानि कानिचिच्छुभान्यशुभानि च शोभनान्यशोभनानि च सन्ति विद्यंते जीवलोकेस्मिन् तन्नामलोकमनन्तजिनदर्शितं विजानीह । न विद्यतेऽन्तो विनाशोऽवसानं वा येषां तेऽनन्तास्ते च जिनाश्चानन्तजिनास्तैर्दृष्टो यतः इति ॥४१॥

स्थापनालोकमाह—

ठविदं ठाविदं चावि जं किंचि अत्थि लोगह्मि ।
ठवणालोगं वियाणाहि अणंत[4]जिणदेसिदं ।।४२।।

स्थितं स्थापितं चापि यत् किंचिदस्ति लोके ।
स्थापनालोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४२॥

ठविदं—स्वतः स्थितमकृत्रिमं । **ठाविदं**—स्थापितं कृत्रिमं चापि यत्किंचिदस्ति विद्यतेऽस्मिन् लोके तत्सर्वं स्थापनालोकमिति जानीहि, अनन्तजिनदर्शितत्वादिति ॥४२॥

उनमें से अब १. नामलोक का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—लोक में जो कोई भी शुभ या अशुभ नाम है उनको अन्तरहित (अनंत) जिनेन्द्रदेव ने नामलोक कहा है—ऐसा जानो ॥४१॥

आचारवृत्ति—इस जीव लोक में जो कुछ भी शोभन और अशोभन नाम हैं उनको अनन्त जिनेन्द्र ने नामलोक कहा है । जिनका अन्त अर्थात् विनाश या अवसान नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं । ऐसे अनन्त विशेषण से विशिष्ट जिनेश्वरों ने देखा है-इस कारण से नामलोक ऐसा कहा है ॥४१॥

२. स्थापना-लोक को कहते हैं—

गाथार्थ—इस लोक में स्थित और स्थापित जो कुछ भी है उसको अनन्त जिनदेवों द्वारा देखा गया—इसे स्थापना लोक समझो ॥४२॥

---

१. क ०णिवि । २. क अ, ब ०णि य संति लोगंहि ।
३. ब-दिसिदं । ४. अ, आणंत ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यलोकस्वरूपमाह—

जीवाजीवं रूवारूवं सपदेसमप्पदेसं च ।
दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ।।४३।।

जीवाजीवं रूप्यरूपि सप्रदेशमप्रदेशं च ।
द्रव्यलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४३॥

जीवाश्चेतनावन्तः । अजीवाः कालाकाशधर्माधर्माः पुद्गलाः । रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दवन्तः पुद्गलाः । अरूपिणः कालाकाशधर्माधर्मा जीवाश्च । सप्रदेशाः सर्वे जीवादयः । अप्रदेशौ कालाणुपरमाणू च । एनं सर्वलोकं द्रव्यलोकं विजानीहि, अक्षयसर्वज्ञदृष्टो यत इति ॥४३॥

तथेममपि द्रव्यलोकं विजानीहीत्याह—

परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एक्कखेत्त किरिओ[1] य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि अपवेसो ।।४४।।

आचारवृत्ति—जो स्वतः स्थित है वह अकृत्रिम है और जो स्थापना निक्षेप से स्थापित किया गया है वह कृत्रिम है । इस लोक में ऐसा जो कुछ भी है वह सभी स्थापना-लोक है ऐसा जानो, क्योंकि अनन्त जिनेश्वर ने उसे देखा है ॥४२॥

३. द्रव्य-लोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीव, अजीव, रूपी, अरूपी, सप्रदेशी एवं अप्रदेशी को अनन्त-जिन द्वारा देखा गया द्रव्यलोक जानो ॥४३॥

आचारवृत्ति—चेतनावान् जीव हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल—ये अजीव हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द वाले पुद्गल—ये रूपी हैं । काल, आकाश, धर्म, अधर्म और जीव—ये अरूपी हैं । सभी जीवादि द्रव्य सप्रदेशी हैं और कालाणु तथा परमाणु अप्रदेशी हैं अर्थात् ये एक प्रदेशी हैं । इस सर्वलोक को द्रव्यलोक समझना चाहिए, क्योंकि यह अक्षय सर्वज्ञदेव के द्वारा देखा गया है ॥४३॥

इनको भी द्रव्यलोक जानो—ऐसा आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—परिणामी, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान्, नित्य, कारण, कर्ता और सर्वगत—ये ग्यारह तथा इनसे विपरीत अपरिणामी आदि के द्वारा द्रव्यलोक को जानना चाहिए ॥४४॥

---

१. अ ब. किरिअ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणामि जीवो मूर्तं सप्रदेशं एकक्षेत्रं क्रियावत् च ।
नित्यः कारणं कर्ता सर्वगत इतरस्मिन् अप्रवेशः ॥४४॥

परिणामोऽन्यथाभावो विद्यते येषां ते परिणामिनः । के ते जीवपुद्गलाः शेषाणि धर्माधर्मकालाकाशान्यपरिणामीनि कुतो द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यञ्जन-पर्यायं चाश्रित्यैतदुक्तं भवति । पर्यायार्थिकनयापेक्षयान्वर्थपर्यायमाश्रित्य सर्वेऽपि परिणामापरिणामात्मका यत इति । जीवो जीवद्रव्यं चेतनालक्षणो यतः । अजीवाः पुनः सर्वे पुद्गलादयो ज्ञातृत्वदृष्टृत्वाद्यभावादिति । मूर्तं पुद्गलद्रव्यं रूपादिमत्वात् ।

शेषाणि जीवधर्माधर्मकालाकाशान्यमूर्तानि रूपादिविरहितत्वात् । सप्रदेशानि सांशानि जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशानि[१] प्रदेशबन्धदर्शनात् । अप्रदेशाः कालाणवः परमाणुश्च प्रचयाभावाद् बन्धाभावाच्च । धर्माधर्माकाशान्येकरूपाणि सर्वदा प्रदेशविघाताभावात् । शेषाः संसारिजीवपुद्गलकाला अनेकरूपाः प्रदेशानां भेददर्शनात् ।

आचारवृत्ति—परिणाम अर्थात् अन्य प्रकार से होना जिनमें पाया जाये वे द्रव्य परिणामी कहलाते हैं । वे जीव और पुद्गल हैं । शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चार द्रव्य अपरिणामी हैं । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से व्यंजन-पर्याय का आश्रय लेकर यह कथन किया गया है । तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्वर्थपर्याय का आश्रय लेकर सभी द्रव्य परिणाम-अपरिणात्मक हैं अर्थात् सभी द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं, कथंचित् अपरिणामी हैं । जीव द्रव्य चेतना लक्षणवाला है, बाकी पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य हैं, क्योंकि इनमें ज्ञातृत्व, दृष्टृत्व आदि का अभाव है । पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, क्योंकि वह रूपादि-मान् है ।

शेष जीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश—ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, क्योंकि ये रूपादि से रहित हैं । जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश सप्रदेशी हैं अर्थात् ये अंश सहित हैं, क्योंकि इनमें प्रदेश-बंध देखा जाता है । कालाणु और परमाणु अप्रदेशी हैं क्योंकि इनमें प्रचय का अभाव है और बन्ध का भी अभाव है । धर्म, अधर्म और आकाश ये एक रूप हैं अर्थात् अखण्ड हैं, क्योंकि हमेशा इनके प्रदेश के विघात का अभाव है । शेष संसारी जीव, पुद्गल और काल—ये अनेक रूप हैं, चूँकि इनके प्रदेशों में भेद देखा जाता है । अर्थात् ये अनेक हैं इनके प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं ।

---

१. क ०नि सप्र० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाशं क्षेत्रं सर्वपदार्थानामाधारत्वात् । शेषा जीवपुद्गलधर्माधर्मकाला अक्षेत्राणि अवगाहनलक्षणाभावात् । जीवपुद्गलाः क्रियावन्तो गतेर्दर्शनात् शेषा धर्माधर्माकाशकाला अक्रियावन्तो गतिक्रियाया अभावदर्शनात् । नित्या धर्माधर्माकाशपरमार्थकाला व्यवहारनयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायाभावमपेक्ष्य विनाशाभावात् ।

जीवपुद्गला अनित्या व्यञ्जनपर्यादर्शनात् । कारणानि पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशानि जीवोपकारकत्वेन वृत्तत्वात् । जीवोऽकारणं स्वतन्त्रत्वात् । जीवः कर्ता शुभाशुभभोक्तृत्वात् । शेषा धर्माधर्मपुद्गलाकाशकाला अकर्तारः शुभाशुभभोक्तृत्वाभावात् आकाशं सर्वगतं सर्वत्रोपलभ्यमानत्वात् । शेषाण्यसर्वगतानि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालद्रव्याणि सर्वत्रोपलम्भाभावात् ।

आकाश-द्रव्य क्षेत्र है क्योंकि वह सर्व पदार्थों के लिए आधारभूत है । शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल—ये अक्षेत्र हैं क्योंकि इनमें अवगाहन लक्षण का अभाव है । जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं क्योंकि इनकी गति देखी जाती है । शेष धर्म, अधर्म और आकाश और काल अक्रियावान् हैं क्योंकि इनमें गति क्रिया का अभाव है । धर्म, अधर्म, आकाश और परमार्थकाल नित्य हैं, क्योंकि व्यवहार नय की अपेक्षा से, व्यंजन पर्याय के अभाव की अपेक्षा से, उनका विनाश नहीं होता है । अर्थात् इन द्रव्यों में व्यंजन पर्याय नहीं होने से उनका विनाश नहीं होता है ।

जीव और पुद्गल अनित्य हैं क्योंकि इनमें व्यंजन पर्याय देखी जाती है । अर्थात् जीव, पुद्गल भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं किन्तु व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से अनित्य हैं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण हैं क्योंकि जीव के प्रति उपकार रूप से ये वर्तन करते हैं । किन्तु जीव अकारण है क्योंकि वह स्वतन्त्र है । जीव कर्ता है, क्योंकि वह शुभ और अशुभ का भोक्ता है । शेष धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल अकर्ता हैं, क्योंकि उनमें शुभ, अशुभ के भोक्तृत्व का अभाव है । आकाश सर्वगत है क्योंकि वह सर्वत्र उपलब्ध हो रहा है । किन्तु शेष बचे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य असर्वगत हैं, क्योंकि इनके सर्वत्र (लोकालोक में) उपलब्ध होने का अभाव है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात्परिणामजीवमूर्तसप्रदेशैकक्षेत्रक्रियावन्नित्यकारणकर्तृसर्वगतिस्वरूपेण द्रव्यलोकं जानीहि, इतरैश्चापरिणामादिभिः प्रदेशैः द्रव्यलोकं जानीहीति सम्बन्धः ॥४४॥

क्षेत्रलोकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

आयासं[1] सपदेसं उड्ढमहो[2] तिरियलोगं च ।
खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥४५॥

आकाशं सप्रदेशं ऊर्ध्वमधः तिर्यग्लोकं च ।
क्षेत्रलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४५॥

आकाशं, सप्रदेशं प्रदेशैः सह । ऊर्ध्वलोकं मध्यलोकमधोलोकं च । एतत्सर्वं क्षेत्रलोकमनन्तजिनदृष्टं विजानीहीति ॥४५॥

चिह्नलोकमाह—

जं दिट्ठं संठाणं दव्वाणं गुणाण पज्जयाणं च ।
चिण्हलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥४६॥

इसलिए परिणाम, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक क्षेत्र, क्रियावान्, नित्य, कारण, कर्तृत्व और सर्वगत—इन स्वरूप से द्रव्यलोक को जानो । इससे इतर अर्थात् अपरिणाम, अजीव, अमूर्त आदि प्रदेशों से द्रव्यलोक को जानो, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए ॥४४॥

४. क्षेत्रलोक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—आकाश सप्रदेशी है । ऊर्ध्व, अधः और मध्य—ये तीन लोक हैं । अनंत जिनेन्द्र द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है—ऐसा जानो ॥४५॥

आचारवृत्ति—आकाश अनन्त प्रदेशी है किन्तु लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं । उसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ऐसे तीन भेद हैं । अनन्तशाश्वत जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है—ऐसा तुम समझो ॥४५॥

५. चिह्नलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायों का जो आकार (संस्थान) देखा जाता है, अनन्त जिन (जिनेन्द्र भगवान्) द्वारा दृष्ट वह चिह्न लोक है—ऐसा जानो ॥४६॥

---

१. अ. ब. आगास । २. अ. ब. मह ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत् दृष्टं संस्थानं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च ।
चिह्नलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४६॥

द्रव्यसंस्थानं धर्माधर्मयोर्लोकाकारेण संस्थानं । कालद्रव्यस्याकाशप्रदेशस्वरूपेण संस्थानं । आकाशस्य केवलज्ञानस्वरूपेण संस्थानं । लोकाकाशस्यागृहगुहादिस्वरूपेण संस्थानं । पुद्गलद्रव्यस्य लोकस्वरूपेण संस्थानं द्वीपनदीसागरपर्वतपृथिव्यादिरूपेण संस्थानं । जीवद्रव्यस्य समचतुरस्रन्यग्रोधादिस्वरूपेण संस्थानम् ।

गुणानां द्रव्याकारेण कृष्णनीलशुक्लादिस्वरूपेण वा संस्थानं । पर्यायाणां दीर्घह्रस्ववृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनारकत्वतिर्यक्त्वमनुष्यत्वदेवत्वादिस्वरूपेण संस्थानं । यद्दृष्टं संस्थानं द्रव्याणां गुणानां पर्यायाणां च चिह्नलोकं विजानीहीति ॥४६॥

आचारवृत्ति—पहले द्रव्य का संस्थान-आकार बताते हैं । धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकार से संस्थान है अर्थात् ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त होने से लोकाकाश के समान ही आकार वाले हैं । काल द्रव्य का आकाश के एक प्रदेश स्वरूप से आकार है अर्थात् काल द्रव्य असंख्यात हैं । प्रत्येक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं इसलिए जो एक प्रदेश का आकार है वही कालाणु का आकार है । आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है । लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से संस्थान है ।

पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से संस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से संस्थान है । अर्थात् महास्कंध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित है ।

जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है अर्थात् नामकर्म के अन्तर्गत संस्थान के समचतुरस्र-संस्थान, न्योग्राध-परिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुंडक—ऐसे संस्थान के छह भेद माने हैं । जीव संसार में इन छहों में से किसी एक संस्थान को लेकर ही शरीर धारण करता है तथा मुक्त जीव जिस संस्थान से मुक्त होते हैं, उनके आत्म प्रदेश मुक्तावस्था में उसी आकार के ही रहते हैं । इस प्रकार यहाँ द्रव्यों के संस्थान कहे गये ।

गुणों के संस्थान को कहते हैं—द्रव्य के आकार से रहना गुणों का संस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल आदि स्वरूप जो गुण हैं उन रूप से रहना गुणों का संस्थान है । पर्यायों के संस्थान को भी बताते हैं–दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायों का संस्थान है । अर्थात् दीर्घ, ह्रस्व आदि आकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कषायलोकमाह—

कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
कसायलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ।।४७।।

क्रोधो मानो माया लोभः उदीर्णाः यस्य जंतोः ।
कषायलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ॥४७॥

यस्य जन्तोर्जीवस्य क्रोधमानमायालोभा उदीर्णा उदयमागताः तं कषाय-लोकं विजानीहीति अनन्तजिनदर्शितम् ॥४७॥

भवलोकमाह—

णेरइयदेवमाणुसतिरिक्खजोणिं गदा-य जे सत्ता ।
णिययभवे वट्टंता तं भवलोगं वियाणाहि ।।४८।।

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिगताश्च ये सत्त्वाः ।
निजभवे वर्तमाना भवलोकं तं विजानीहि ॥४८॥

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिषु गताश्च ये जीवा निजभवे निजायुःप्रमाणे वर्तमानास्तं भवलोकं विजानीहीति ॥४८॥

पुद्गल की पर्यायों के हैं । तथा नारकपना आदि संस्थान जीव की पर्यायों के हैं । इस प्रकार से जो भी द्रव्यों के, गुणों के तथा पर्यायों के संस्थान देखे जाते हैं—उन्हें ही चिह्नलोक जानो ॥४६॥

६. कषायलोक कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये जिस जीव के उदय में आ रहे, उसे अनन्त जिनदेव के द्वारा कथित कषायलोक जानो ॥४७॥

आचारवृत्ति—जिन जीवों के क्रोधादि कषायें उदय में आ रही हैं, उन कषायों को अथवा उनसे परिणत हुए जीवों को कषायलोक कहते हैं ॥४७॥

७. भवलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंचयोनि को प्राप्त हुए जो जीव अपने भव में वर्तमान हैं—उन्हें भवलोक जानो ॥४८॥

आचारवृत्ति—नरक आदि योनि को प्राप्त हुए जीव अपने उस भव में अपनी-अपनी-आयु प्रमाण जीवित रहते हैं । उन जीवों के अपने भवों को या उन जीवों को ही भवलोक कहा है ॥४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावलोकमाह—

तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
भावलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ।।४९।।

तीवो रागश्च द्वेषश्च उदीर्णा यस्य जंतोः ।
भावलोकं विजानीहि अनंतजिनदर्शितं ।।४९।।

यस्य जन्तोस्तीव्रौ प्रीतिविप्रीति उदीर्णो उदयमागतो तं भावलोकं विजानीहीति ।।४९।।

पर्यायलोकमाह—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेवं पज्जयलोगं समासेण ।।५०।।

द्रव्यगुणक्षेत्रपर्यायाः भावानुभावश्च भावपरिणामः ।
जानीहि चतुर्विधमेवं पर्यायलोकं समासेन ।।५०।।

द्रव्याणां गुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यकर्तृत्वभोक्तृत्वकृष्णनीलशुक्लरक्तपीतगतिकारकत्वस्थितिकारकत्वावगाहनागुरुलघुवर्तमानादयः । क्षेत्रपर्यायाः सप्तनरक-

---

८. भावलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—तीव्र राग और द्वेष जिस जीव के उदय में आ गये हैं—उसे तुम अनन्तजिन के द्वारा कथित भावलोक जानो ।।४९।।

आचारवृत्ति—जिस जीव के तीव्र राग-द्वेष उदय को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् किसी में प्रीति, किसी में अप्रीति चल रही है उन उदयागत भावों को ही भावलोक कहते हैं ।।४९।।

९. पर्यायलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्यगुण, क्षेत्रपर्याय, भवानुभाव और भाव परिणाम—संक्षेप से यह चार प्रकार का पर्यायलोक जानो ।।५०।।

आचारवृत्ति—द्रव्यों के गुण—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्व—ये जीव के गुण हैं । कृष्ण, नील, शुक्ल, रक्त और पीत—ये पुद्गल के गुण हैं । गतिकारकत्व धर्म द्रव्य का गुण है । स्थितिकारकत्व यह अधर्म द्रव्य का गुण है । अवगाहनत्व आकाश द्रव्य का गुण है । अगुरुलघु गुण सब द्रव्यों का गुण है और वर्तमान आदि काल का गुण है । क्षेत्रपर्याय–सप्तम नरक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वीप्रदेशपूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतद्वीपसमुद्रत्रिषष्टिस्वर्गभूमिभेदादयः । भवानामनुभवः आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पः ।

भावो [1]नाम परिणामोऽसंख्यातलोकप्रदेश-मात्रः शुभाशुभरूपः कर्मादाने परित्यागे वा[2] समर्थः । द्रव्यस्य गुणाः पर्यायलोकः, क्षेत्रस्य पर्यायाः पर्यायलोकः भवस्यानुभवाः पर्यायलोकः भावो नाम परिणामः पर्यायलोकः । एवं चतुर्विधं पर्यायलोकं समासेन जनीहीति ॥५०॥

उद्योतस्य स्वरूपमाह—

उज्जोवो खलु दुविहो णादव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
दव्वुज्जोवो [3]अग्गी चंदो सूरो मणी चेव ॥५१॥

उद्योतः खलु द्विविधः ज्ञातव्यः द्रव्यभावसंयुक्तः ।
द्रव्योद्योतः अग्निः चंद्रः सूर्यो मणिश्चैव ॥५१॥

पृथ्वी के प्रदेश, पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र, द्वीप, समुद्र, त्रेसठ स्वर्गपटल इत्यादि भेद क्षेत्र की पर्यायें हैं । भवानुभाव-आयु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भवानुभाव हैं ।

भावपरिणाम-भाव अर्थात् परिणाम—ये असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण हैं, शुभ-अशुभरूप हैं । ये कर्मों को ग्रहण करने में अथवा कर्मों का परित्याग करने में समर्थ हैं । अर्थात् आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों से कर्म आते हैं तथा उदय में आकर फल देकर नष्ट भी हो जाते हैं ।

द्रव्य के गुण पर्यायलोक हैं, क्षेत्र की पर्यायें पर्यायलोक हैं, भव का अनुभव पर्यायलोक है और भावरूप परिणाम पर्यायलोक हैं । इस प्रकार संक्षेप से पर्यायलोक चार प्रकार का है ।

इस तरह नव प्रकार के निक्षेप से नव प्रकार के लोक का स्वरूप कहा गया है ॥५०॥

उद्योत का स्वरूप—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से युक्त उद्योत निश्चय से दो प्रकार का जानना चाहिए । अग्नि, चन्द्र, सूर्य और मणि—ये द्रव्य उद्योत हैं ॥५१॥

---

१. क नाम अनुभवपर्यायः प० । २. क वा असमर्थः ।
३. जोऊ द० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उद्योतः प्रकाश खलु द्विविधः स्फुटं ज्ञातव्यो द्रव्यभावभेदेन । द्रव्यसंयुक्तो भावसंयुक्तश्च । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्च । एवकारः प्रकारार्थः । एवंविधोऽन्योऽपि द्रव्योद्योतो ज्ञात्वा वक्तव्य इति ॥५१॥

भावोद्योतं निरूपयन्नाह—

भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं ।
तस्स दु पओगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो ।।५२।।

भावोद्योतो ज्ञानं यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिः ।
तस्य तु उपयोगकरणे भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ॥५२॥

भावोद्योतो नाम ज्ञानं यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिः येन प्रकारेण सर्वपदार्थदर्शिभिर्ज्ञानमुक्तं तद्भावोद्योतः परमार्थोद्योतस्तथा ज्ञानस्योपयोगकरणात् स्वपरप्रकाशकत्वाद्भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ॥५२॥

पुनरपि भावोद्योतस्य भेदमाह—

पंचविहो खलु भणिओ भावुज्जोवो य जिणवरिंदेहिं ।
आभिणिबोहियसुद ओहिणाणमणकेवलं णेयं ।।५३।।

पंचविधः खलु भणितः भावोद्योतश्च जिनवरेंद्रैः ।
आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानमनःकेवलं ज्ञेयं ॥५३॥

आचारवृत्ति—उद्योत, प्रकाश स्पष्टरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । अर्थात् द्रव्यसंयुक्त और भावसंयुक्त उद्योत । उसमें अग्नि, उद्योत सूर्य, चन्द्रमा और मणि—ये द्रव्य-उद्योत हैं । इसी प्रकार के अन्य भी द्रव्य-उद्योत जानकर कहना चाहिए । अर्थात् प्रकाशमान् पदार्थ को यहाँ द्रव्य-उद्योत कहा गया है ॥५१॥

भाव-उद्योत को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव-उद्योत ज्ञान है जैसा कि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है । उसके उपयोग करने में भाव-उद्योत है—ऐसा जानना चाहिए ॥५२॥

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से सर्व पदार्थ के देखने, जानने वाले सर्वज्ञदेव ने ज्ञान का कथन किया है वह भाव उद्योत है, वही परमार्थ उद्योत है । वह ज्ञान स्वपर का प्रकाशक होने से भाव उद्योत है—ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् ज्ञान ही चेतन-अचेतन पदार्थों का प्रकाशक होने से सच्चा प्रकाश है ॥५२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भावोद्योतो जिनवरेन्द्रैः पंचविधः पंचप्रकारः खलु स्फुटं, भणितः प्रतिपादितः । आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययकेवलमयो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पंचप्रकार इति ॥५३॥

द्रव्यभावोद्योतयोः स्वरूपमाह—

दव्वुज्जोवोजोवो पडिहण्णदि परिमिदह्मि खेत्तह्मि ।
भावुज्जोवोजोवो लोगालोगं पयासेदि ॥५४॥

द्रव्योद्योतः उद्योतः प्रतिहन्यते परिमिते क्षेत्रे ।
भावोद्योत उद्योतः लोकालोकं प्रकाशयति ॥५४॥

द्रव्योद्योतो य उद्योतः स प्रतिहन्यतेऽन्येन द्रव्येण परिमिते च क्षेत्रे वर्तते ।

पुनः भाव-उद्योत के भेद कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवरदेव ने निश्चय से भावोद्योत पाँच प्रकार का कहा है । वह आभिनिबोधिक (मति), श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये पाँच ज्ञान हैं—ऐसा जानना चाहिए ॥५३॥

आचारवृत्ति—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह भावोद्योत पाँच प्रकार का है—ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है[१] ॥५३॥

द्रव्यभाव उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्योद्योत रूप प्रकाश अन्य से बाधित होता है, परिमित क्षेत्र में रहता है और भावोद्योत प्रकाश, लोक-अलोक को प्रकाशित करता है ॥५४॥

आचारवृत्ति—जो द्रव्योद्योत का प्रकाश है वह अन्य द्रव्य के द्वारा नष्ट हो जाता है और सीमित क्षेत्र में रहता है । किन्तु भावोद्योत रूप प्रकाश लोक और अलोक को प्रकाशित करता है, किसी के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है और न परिमित क्षेत्र में ही रहता है, क्योंकि वह अप्रतिघाती और सर्वगत है । अर्थात्

---

१. यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति में अधिक है—
लोयालोयपयासं अक्खलियं णिम्मलं असंदिद्धं ।
जं णाणं अरहंता भावुज्जोओ त्ति वुच्चंति ॥
अर्थात् जो ज्ञान लोकालोक को प्रकाशित करता है, कभी स्खलित नहीं होता है, निर्मल है, संशयरहित है, अरिहंतदेव ऐसे ज्ञान को भावोद्योत कहते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावोद्योतः पुनरुद्योतो लोकमलोकं च प्रकाशयति न प्रतिहन्यते नापि परिमिते क्षेत्रे वर्ततेऽप्रतिघातिसर्वगतत्वादिति ॥५४॥

तस्मात्—

लोगस्सुज्जोवयरा दव्वुज्जोएण ण हु जिणा होंति ।
भावुज्जोवयरा पुण होंति जिणवरः चउव्वीसा ॥५५॥

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन न खलु जिना भवंति ।
भावोद्योतकराः पुनः भवंति जिनवराः चतुर्विंशतिः ॥५५॥

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन नैव भवन्ति जिनाः । भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिः । अतो भावोद्योतेनैव लोकस्योद्योतकरा जिना इति स्थितमिति । लोकोद्योतकरा इति व्याख्यातम् ॥५५॥

धर्मतीर्थकरा इति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य ।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ॥५६॥

त्रिविधश्च भवति धर्मः श्रुतधर्मः अस्तिकायधर्मश्च ।
तृतीयः चारित्रधर्मः श्रुतधर्मः अत्र पुनः तीर्थं ॥५६॥

ज्ञानरूप प्रकाश सर्व लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाला है, किसी मेघ या राहु आदि के द्वारा बाधित नहीं होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है । (किन्तु सूर्य, मणि आदि के प्रकाश अन्य के द्वारा रोके जा सकते हैं एवं स्वल्प क्षेत्र में ही प्रकाश करने वाले हैं) ॥५४॥

इसलिए—

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् निश्चितरूप से द्रव्यउद्योत के द्वारा लोक को प्रकाशित करने वाले नहीं होते हैं, किन्तु वे चौबीसों तीर्थंकर तो भावोद्योत से प्रकाश करने वाले होते हैं ॥५५॥

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर द्रव्यप्रकाश से लोक को प्रकाशित नहीं करते हैं, किन्तु वे भाव उद्योत करने वाले होने से वे ज्ञान के प्रकाश से ही लोक का उद्योत करने वाले होते हैं यह बात व्यवस्थित हो गई । इस तरह "लोकोद्योतकरा" इसका यह व्याख्यान है ॥५५॥

गाथार्थ—धर्म तीन प्रकार का है—श्रुतधर्म, अस्तिकाय धर्म और चारित्र-धर्म । किन्तु यहाँ श्रुतधर्म तीर्थ है ॥५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्मस्तावत्त्रिप्रकारो भवति । श्रुतधर्मोऽस्तिकायधर्मस्तृतीयश्चारित्रधर्मः । अत्र पुनः श्रुतधर्मस्तीर्थान्तरं संसारसागरं तरन्ति येन ततीर्थमिति ॥५६॥

तीर्थस्य स्वरूपमाह—

दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं ।
एदेसिं दोण्हं पि य पत्तेय-परूवणा होदि ॥५७॥

द्विविधं च भवति तीर्थं ज्ञातव्यं द्रव्यभावसंयुक्तं ।
एतयोः द्वयोरपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ॥५७॥

द्विविधं च भवति तीर्थं द्रव्यसंयुक्तं भावसंयुक्तं चेति । द्रव्यतीर्थमपरमार्थरूपं । भावतीर्थं पुनः परमार्थरूपमन्यापेक्षाभावात् । एतयोर्द्वयोरपि तीर्थयोः प्रत्येकं प्ररूपणा निरूपणा भवति ॥५७॥

द्रव्यतीर्थस्य स्वरूपमाह—

दाहोपसमण तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव ।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा तं दव्वदो तित्थं ॥५८॥

दाहोपशमनं तृष्णाछेदः मलपंकप्रवहणं चैव ।
त्रिभिः कारणैःयुक्तं तस्मात् तद्द्रव्यतःतीर्थम् ॥५८॥

आचारवृत्ति—श्रुतधर्म, अस्तिकाय धर्म और चारित्रधर्म—इन तीनों में श्रुतधर्म को तीर्थ माना है । जिससे संसार-सागर को तिरते हैं, वह तीर्थ है सो यह श्रुत अर्थात् जिनदेव कथित आगम ही सच्चा तीर्थ है ॥५६॥

तीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से संयुक्त तीर्थ दो प्रकार का है । इन दोनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं ॥५७॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीर्थ के दो भेद हैं । द्रव्यतीर्थ तो अपरमार्थभूत है और भावतीर्थ परमार्थभूत है क्योंकि इसमें अन्य की अपेक्षा का अभाव है । इन दोनों का वर्णन करते हैं ॥५७॥

द्रव्यतीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल कीचड़ को धो डालना—इन तीन कारणों से जो युक्त है, वह द्रव्य से तीर्थ है ॥५८॥

---

१. क तीर्थ सं० । १ क ०र्थस्य० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यतीर्थेन दाहस्य संतापस्योपशमनं भवति तृष्णाश्छेदो विनाशो भवति स्तोककालं पंकस्य च प्रवहणं शोधनमेव भवति । न धर्मादिको गुणस्तस्मात्त्रिभिः कारणैर्युक्तं द्रव्यतीर्थं भवतीति ॥५८॥

भावतीर्थस्वरूपमाह—

दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि ।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं ॥५९॥

दर्शनज्ञानचारित्रैः निर्युक्ता जिनवरास्तु सर्वेपि ।
त्रिभिः कारणैः युक्ताः तस्मात् ते भावतस्तीर्थम् ॥५९॥

दर्शनज्ञानचारित्रैर्युक्ताः संयुक्ता जिनवराः सर्वेऽपि ते तीर्थं भवंति तस्मात्त्रिभिः कारणैरपि भावतस्तीर्थमिति भावोद्योतेन लोकोद्योतकरा भावतीर्थकर्तृत्वेन धर्मतीर्थकरा इति । अथवा दर्शनज्ञानचारित्राणि जिनवरैः सर्वैरपि निर्युक्तानि सेवितानि तस्मात्तानि भावतस्तीर्थमिति ॥५९॥

जिनवरा अर्हंन्निति पदं व्याख्यातुकामः प्राह—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति ।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण [1]वुच्चंति ॥६०॥

जितक्रोधमानमाया जितलोभाः तेन ते जिन भवंति ।
हंतारः अरीणां च जन्मनः अर्हन्तस्तेन उच्यन्ते ॥६०॥

आचारवृत्ति—द्रव्यतीर्थ से (गंगा, पुष्कर आदि से) संताप का उपशमन होता है, प्यास का विनाश होता है और कुछ काल तक ही मल का शोधन हो जाता है, किन्तु उससे धर्म आदि गुण नहीं होते हैं । इसलिए इन तीन कारणों से रहित होने से उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं ॥५८॥

भावतीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जिनेश्वर दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त हैं । इन तीन कारणों से युक्त हैं इसलिए वे भाव से तीर्थ हैं ॥५९॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से संयुक्त होने से सभी तीर्थंकर भावतीर्थ कहलाते हैं । इस प्रकार से ये तीर्थंकर भावउद्योत से लोक को प्रकाशित करने वाले हैं और भावतीर्थ के कर्ता होने से 'धर्मतीर्थकर' कहलाते हैं । अथवा सभी जिनवरों ने इस रत्नत्रय का सेवन किया है इसलिए वे भावतीर्थ कहलाते हैं ॥५९॥

---

१. क वुच्चदि य ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्माज्जितक्रोधमानमायालोभास्तस्मात्तेन कारणेन ते जिना इति भवंति येनारीणां हन्तारो जन्मनः संसारस्य च हन्तारस्तेनार्हन्त इत्युच्यन्ते ॥६०॥

येन च—

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥६१॥

अर्हन्ति वन्दनानमस्कारयोः अर्हन्ति पूजासत्कारं ।
अर्हन्ति सिद्धिगमनं अर्हन्तः तेन उच्यन्ते ॥६१॥

वंदनाया नमस्कारस्य च योग्या वंदनां नमस्कारमर्हंति, पूजायाः सत्कारस्य च योग्याः पूजासत्कारमर्हन्ति च यतः सिद्धिगमनस्य च योग्याः सिद्धिगमनमर्हन्ति, यस्मात्तेनाऽर्हन्त इत्युच्यन्ते ॥६१॥

किमर्थमेते कीर्त्यन्त इत्याशंकायामाह—

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं ।
दंसणणाणचरित्ते तव विणओ जेहिं पण्णत्तो ॥६२॥

कथं ते न कीर्तनीयाः सदेवमनुजासुरैः लोकैः ।
दर्शनज्ञानचरित्राणां तपसः विनयो यैः प्रज्ञप्तः ॥६२॥

जिनवर और अर्हन्—इन पदों का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत चुके हैं इसलिए वे "जिन" होते हैं । शत्रुओं का और जन्म का हनन करने वाले हैं अतः वे अर्हंत कहलाते हैं ॥६०॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है । इसी कारण से वे 'जिन' कहलाते हैं तथा जिस कारण से वे मोह आदि शत्रुओं के तथा संसार के नाश करने वाले हैं । इसी कारण से वे 'अरिहंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं ॥६०॥

अर्हन्त शब्द की और भी निरुक्ति करते हैं—

गाथार्थ—वन्दना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा सत्कार के योग्य हैं, और सिद्धि गमन के योग्य हैं इसलिए वे 'अर्हंत' कहलाते हैं ॥६१॥

आचारवृत्ति—अर्हंतदेव वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और मोक्ष गमन के योग्य हैं—समर्थ हैं अतएव वे 'अर्हंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं ॥६१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथं ते न कीर्तनीयाः व्यावर्णनीयाः सदेवमनुष्यासुरैर्लोकैर्दर्शनज्ञानचारित्र-तपसां विनयो यैः प्रज्ञप्तः प्रतिपादितः ते चतुर्विंशतितीर्थंकराः कथं न कीर्त्तनीयाः ॥६२॥

इति कीर्तनमधिकारं व्याख्याय केवलिनां स्वरूपमाह—

सव्वं केवलिकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता[1] तह्मा ते केवली होंति ॥६३॥

सर्वं केवलकल्पं लोकं जानन्ति तथा च पश्यन्ति ।
केवलज्ञानचरित्राः तस्मात् ते केवलिनो भवन्ति ॥६३॥

किमर्थं केवलिन इत्युच्यन्त इत्याशंकायामाह—यस्मात्सर्वं निरवशेषं केवलिकल्पं केवलज्ञानविषय लोकमलोकं च जानन्ति तथा च पश्यंति केवल-ज्ञानमेव चरित्रं येषां ते केवलज्ञानचरित्राः परित्यक्ताशेषव्यापारास्तस्मात्ते केवलिनो भवंतीति ॥६३॥

गाथार्थ—देव, मनुष्य और असुर इन सहित लोगों के द्वारा वे अर्हंत कीर्तन करने योग्य क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् होंगे । क्योंकि उन्होंने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के विनय का प्रज्ञापन किया है ॥६२॥

आचारवृत्ति—वे चौबीस तीर्थंकर देव आदि सभी जनों द्वारा कीर्तन-वर्णन-प्रशंसन करने योग्य इसीलिए हैं, क्योंकि उन्होंने दर्शन आदि के विनय का उपदेश दिया है ॥६२॥

इस तरह कीर्तन अधिकार को कहकर अब केवलियों का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—केवलज्ञान विषयक सर्वलोक को केवली जानते हैं तथा देखते हैं, एवं केवलज्ञान रूप चारित्रवाले हैं इसलिए वे केवली होते हैं ॥६३॥

आचारवृत्ति—अर्हंत को केवली क्यों कहते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं जिस हेतु वे अर्हंत भगवान् केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानते हैं तथा देखते हैं और जिनका चारित्र केवलज्ञान ही है अर्थात् जिनके अशेष व्यापार छूट चुके हैं इसलिए वे केवली कहलाते हैं ॥६३॥

---

१. कणीं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथोत्तमाः कथमित्याशंकायामाह—

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरितमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ।।६४।।

मिथ्यात्ववेदनीयं ज्ञानावरणं चारित्रमोहं च ।
त्रिविधात् तमसो मुक्ताः तस्मात् ते उत्तमा भवन्ति ॥६४॥

मिथ्यात्ववेदनीयमश्रद्धानरूपं ज्ञानावरणं ज्ञानदर्शनयोरावरणं चारित्रमोहश्चैतत्त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवंतीति ॥६४॥

ते एवं विशिष्टा मम—

आरोग्ग बोहिलाहं दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा ।
किं ण हु णिदाणमेदं णवरि विभासेत्थ कायव्वा ।।६५।।

आरोग्यबोधिलाभं ददतु समाधिं च मे जिनवरेन्द्राः ।
किं न खलु निदानमेतत् केवल-विभाषात्र कर्तव्या ॥६५॥

एवं विशिष्टास्ते जिनवरेन्द्रा मह्यमारोग्यं जातिजरामरणाभावं बोधिलाभं च

तीर्थंकर उत्तम क्यों हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व-वेदनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोह-इन तीन तम (कर्म) से मुक्त हो चुके हैं इसलिए वे तीर्थंकर उत्तम कहलाते हैं ॥६४॥

आचारवृत्ति—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व वेदनीय है अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीव को सम्यक् तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता है । यह दर्शनमोह गाढ़ अंधकार के सदृश है । ज्ञानावरण से दर्शनावरण भी आ जाता है चूँकि वे सहचारी हैं । चारित्रमोह से मोहनीय की, दर्शनमोह से अतिरिक्त सारी प्रकृतियाँ आ जाती हैं । ये मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण तीनों ही कर्म 'तम' (अन्धकार) के समान हैं इस 'तम' से मुक्त हो जाने से ही तीर्थंकर उत्तम अर्थात् प्रकृष्ट कहे जाते हैं ॥६४॥

इन विशेषणों से विशिष्ट तीर्थंकर मुझे क्या देवें ?

गाथार्थ—वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें । क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिए ॥६५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट वे जिनेन्द्रदेव मुझे **आरोग्य**—जन्मजरामरण का अभाव, **बोधिलाभ**—जिनसूत्र (जिनवाणी) का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जिनसूत्रश्रद्धानं दीक्षाभिमुखीकरणं वा समाधिं च मरणकाले सम्यक्परिणामं ददतु प्रयच्छन्तु ।

किं पुनरिदं निदानं न भवति ? न भवत्येव कस्माद्विभाषाऽत्र विकल्पोऽत्र कर्तव्यो यस्मादिति ॥६५॥

एतस्माच्चेदं निदानं न भवति यतः—

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा [1]एसा ।
ण हु खीण[2]रागदोषा [3]दिंति समाहिं[4]च बोहिं[5] च ।।६६।।

भाषा असत्यमृषा केवलं हि भक्त्या भाषिता एषा ।
न हि क्षीणरागद्वेषा ददति समाधिं च बोधिं च ॥६६॥

असत्यमृषा भाषेयं किंतु भक्त्या भाषितैषा यस्मान्नहि क्षीणरागद्वेषा जिना ददते समाधिं बोधिं च । यदि दाने प्रवर्तेरन् सरागद्वेषाः स्युरिति ॥६६॥

अन्यच्च—

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो ।।६७।।

श्रद्धान अथवा दीक्षा के अभिमुख होना और **समाधि** अर्थात् **मरण** के समय सम्यक् परिणाम—ये तीन प्रदान करें ।

क्या यह निदान नहीं है ? नहीं है । क्यों ? क्योंकि यहाँ पर इसे विभाषा अर्थात् विकल्प समझना चाहिए ॥६५॥

गाथार्थ—यह असत्यमृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है, क्योंकि राग-द्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं ॥६६॥

आचारवृत्ति—यह बोधि समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है, यह मात्र भक्ति से ही कही गई है, क्योंकि जिनके राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं वे जिनेन्द्र भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं । यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जावेंगे ॥६६॥

और भी आगे कहते हैं—

गाथार्थ—उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है । वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र—इन रत्नत्रय रूप तीनों का उपदेश है ॥६७॥

---

१. क ब, भासा ।
२. क ०खीणपेज्जदोसा० ।
३. क दिंतु ।
४-५. अ, ब-धिं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत् तैस्तु दातव्यं तद्दत्तं जिनवरैः सर्वैः ।
दर्शनज्ञानचारित्राणां एष त्रिविधानामुपदेशः ॥६७॥

यत्तैस्तु दातव्यं तद्दत्तमेव जिनवरैः सर्वैः किं तद्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रिप्रकाराणां एष उपदेशोऽस्मात्किमधिकं यत्प्रार्थ्यते । इति एषा च समाधिबोधिप्रार्थना भक्तिर्भवति यतः ॥६७॥

अत आह—

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥६८॥

भक्त्या जिनवराणां क्षीयते यत् पूर्वसंचितं कर्म ।
आचार्यप्रसादेन च विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति ॥६८॥

जिनवराणां भक्त्या पूर्वसंचितं कर्म क्षीयते विनश्यते यस्माद् आचार्याणां च भक्तिः किमर्थं ? आचार्याणां च प्रसादेन विद्या मंत्राश्च सिद्धिमुपगच्छंति यस्मादिति तस्माज्जिनानामाचार्याणां च भक्तिरियं न निदानमिति ॥६८॥

अन्यच्च—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु ।
धम्मह्मि य जो राओ सुदे य जो बारसबिधह्मि ॥६९॥

आचारवृत्ति—उनके द्वारा जो देने योग्य था सो तो उन्होंने दे ही दिया है । वह क्या है ? वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय का उपदेश है । हम लोगों के लिए और इससे अधिक क्या है ? जिसकी प्रार्थना करें । इसलिए यह समाधि और बोधि की प्रार्थना भक्ति है ॥६७॥

इसलिए (भक्ति का माहात्म्य) कहते हैं—

गाथार्थ—जिनवरों की भक्ति से जो पूर्व संचित कर्म हैं, वे क्षय हो जाते हैं, और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥६८॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं सो ठीक है, किन्तु आचार्यों की भक्ति किसलिए है ? आचार्यों के प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि होती है । इसलिए जिनवरों की और आचार्यों की यह भक्ति निदान नहीं है ॥६८॥

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—राग रहित और द्वेष रहित अर्हंतदेव में जो राग है, धर्म में जो राग है, और द्वादशविध श्रुत (आचारांग आदि बारह अंग-आगमसूत्रों) में जो राग है—वह तीनों भक्ति है ॥६९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत्सु च रागः व्यपगतरागेषु दोषरहितेषु ।
धर्मे च यः रागः श्रुते च यो द्वादशविधे ॥६९॥

आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥७०॥

आचार्येषु च रागः श्रमणेषु च बहुश्रुते चरित्राढ्ये ।
एष प्रशस्तरागो भवति सरागेषु सर्वेषु ॥७०॥

व्यपगतरागेष्वष्टादशदोषरहितेषु अर्हत्सु यः रागः या भक्तिस्तथा धर्मे यो रागस्तथा श्रुते द्वादशविधे यः रागः ॥६९॥

तथा—आचार्येषु रागः श्रमणेषु बहुश्रुतेषु च यो रागश्चरित्राढ्येषु च रागः स एष राग प्रशस्तः शोभनो भवति सरागेषु सर्वेष्विति ॥७०॥

अन्यच्च;—

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए ।
तो भक्ति रागपुव्वं वुच्चइ इदं ण हु णिदाणं ॥७१॥

तेषां अभिमुखतया अर्थाः सिद्ध्यन्ति तथा च भक्त्या ।
तस्मात् भक्तिः रागपूर्वमुच्यते एतन्न खलु निदानं ॥७१॥

तेषां जिनवरादीनामभिमुखतया भक्त्या चार्था वांछितेष्टसिद्धयः सिद्धयन्ति हस्तग्राह्या भवन्ति यस्मात्तस्माद्भक्ती रागपूर्वकमेतदुच्यते न हि निदानं, संसार-कारणाभावादिति ॥७१॥

आचार्यों में, श्रमणों में और चारित्रयुक्त बहुश्रुतधारी (उपाध्याय आदि) में जो राग है यह प्रशस्त राग सभी सरागी मुनियों में होता है ॥७०॥

आचारवृत्ति—रागद्वेष रहित अर्हंतों में, धर्म में, द्वादशांग श्रुत में, आचार्यों में, मुनियों में, चारित्रयुक्त बहुश्रुतधारी उपाध्यायों आदि विद्वानों में जो राग होता है वह प्रशस्त-शोभन राग है वह सभी सरागी मुनियों में पाया जाता है। अर्थात् सराग संयमी मुनि इन सभी में अनुराग रूप शोभन-भक्ति करते ही हैं ॥६९-७०॥

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वोक्त जिनेन्द्रदेव आदि के अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए भक्ति राग-पूर्वक कही गई है। यह वास्तव में निदान नहीं है ॥७१॥

आचारवृत्ति—उन जिनवर आदि के अभिमुख होने से-उनकी तरफ अपना मन लगाने से, उनकी भक्ति से वांछित इष्ट की सिद्धि हो जाती है—इष्ट मनोरथ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिस्तवविधानमाह—

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ।।७२।।

चतुरंगुलांतरपादः प्रतिलिख्य अंजलीकृतप्रशस्तः ।
अव्याक्षिप्तः उक्तः करोति च चतुर्विंशतिस्तोत्रं भिक्षुः ॥७२॥

चतुरंगुलान्तरपादः स्थितांगः परित्यक्तशरीरावयवचालनश्चकारादेतल्लब्धं प्रतिलिख्य शरीरभूमिचित्तादिकं प्रशोच्य प्रांजलिः सपिंडः कृतांजलिपुटेन प्रशस्तः सौम्यभावोऽव्याक्षिप्तः सर्वव्यापाररहितः करोति चतुर्विंशस्तवं भिक्षुः संयतश्चतुरंगुलमंतरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ तौ पदौ यस्य स चतुरंगुलान्तरपादः स्थितं निश्चलमंगं यस्य सः स्थितांगः शोभनकायिकवाचिकमानसिकक्रिय इत्यर्थः ।।७२।।

चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिमुपसंहर्तुं **वंदनानिर्युक्तिं** च प्रतिपादयितुं प्राह—

चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ।।७३।।

हस्तग्राह्य हो जाते हैं । इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही होती है । यह निदान नहीं कहलाती है, क्योंकि इससे संसार के कारणों का अभाव होता है ।।७१।।

अब चतुर्विंशतिस्तव का विधान कहते हैं—

गाथार्थ—चार अंगुल अन्तराल से पैर करके (खड़े होकर) प्रतिलेखन करके, अंजलि को प्रशस्त जोड़कर, एकाग्रमन हुआ भिक्षु, चौबीस तीर्थंकर का स्तोत्र करता है ।।७२।।

आचारवृत्ति—पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर, स्थिर अंग कर जो खड़े हुए हैं अर्थात् शरीर के अवयवों के हलन चलन से रहित, स्थिर खड़े हैं; यहाँ चकार शब्द से ऐसा समझना कि जिन्होंने अपने शरीर और भूमि का पिच्छिका से प्रतिलेखन करके एवं चित्त आदि का शोधन करके अपने हाथों की अंजलि जोड़ रखी है, जो प्रशस्त-सौम्यभावी है व्याकुलता रहित अर्थात् सर्वव्यापार रहित हैं—ऐसे संयत मुनि चतुर्विंशतिस्तव को करते हैं । अर्थात् पैरों में चार अंगुल के अंतराल को रखकर निश्चल अंग करके खड़े होकर मुनि शोभनरूप कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया वाले होते हुए **स्तव आवश्यक** करते हैं ।।७२।।

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह चतुर्विंशतिनिर्युक्ति कही है, पुनः इसके बाद **वन्दना निर्युक्ति** को कहूँगा ।।७३।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
वन्दनानिर्युक्तिं पुनः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥७३॥

चतुर्विंशतिनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन वंदनानिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रतिपादयिष्यामिति ॥७३॥

तथैतां नामादिनिक्षेपैः प्रतिपादयन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो[1] ॥७४॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एष खलु वन्दनाया निक्षेपः षड्विधो भणितः ॥७४॥

एकतीर्थंकरनामोच्चारणं सिद्धाचार्यादिनामोच्चारणं च नामावश्यकवंदना-निर्युक्तिरेकतीर्थंकरप्रतिबिंबस्य सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबानां च स्तवनं स्थापनावंदना-निर्युक्तिस्तेषामेव शरीराणां स्तवनं द्रव्यवंदनानिर्युक्तिस्तैरेव यत्क्षेत्रमधिष्ठितं कालश्च योऽधिष्ठितस्तयोः स्तवनं क्षेत्रवंदना कालवंदना च ।

एकतीर्थंकरस्य सिद्धाचार्यादीनां च शुद्धपरिणामेन यद्गुणस्तवनं तद्भावावश्यकवंदनानिर्युक्तिः नामाथवा जातिद्रव्यगुण क्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म

आचारवृत्ति—मेरे द्वारा चतुर्विंशति स्तव की निर्युक्ति संक्षेप में कही गयी है । अब आगे वन्दना निर्युक्ति का कथन करूँगा–प्रतिपादित करूँगा ॥७३॥

वन्दना को नामादि निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—निश्चय से वन्दना का यह छह प्रकार का निक्षेप कहा गया है ॥७४॥

आचारवृत्ति—एक तीर्थंकर का नाम उच्चारण करना, तथा सिद्ध आचा-र्यादि का नाम उच्चारण करना **नाम–वन्दना** आवश्यक निर्युक्ति है । एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का तथा सिद्ध आचार्य आदि के प्रतिबिम्बों का स्तवन करना **स्थापना वन्दना** निर्युक्ति है । एक तीर्थंकर के शरीर का तथा सिद्ध आचार्यों के शरीर का स्तवन करना **द्रव्य-वन्दना** निर्युक्ति है । इन एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यों से अधितिष्ठत जो क्षेत्र हैं उनकी स्तुति करना **क्षेत्र-वन्दना** निर्युक्ति है । ऐसे ही इन्हीं से अधितिष्ठत जो काल है उनकी स्तुति करना **काल वन्दना** निर्युक्ति है ।

एक तीर्थंकर और सिद्ध तथा आचार्यों के गुणों का शुद्ध परिणाम से जो स्तवन है वह **भाव-वन्दना** निर्युक्ति है ।

---

१. अ. ब. णेओ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वंदनाशब्दमात्रं नामवंदनापरिणतस्य प्रतिकृतं प्रतिकृतिवंदना स्थापना-*वंदनावन्दनाव्यवर्णनप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यवंदना शेषः पूर्ववदिति । एष* वंदनाया निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्यो नामादिभेदेनेति ॥७४॥

नामवंदनां प्रतिपादयन्नाह—

किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।
कादव्वं केण[1] कस्स व कधे व कहिं व कदिखुत्तो ॥७५॥

कृतिकर्म चितिकर्म पूजाकर्म च विनयकर्म च ।
कर्तव्यं केन तस्य वा कथं वा कस्मिन् वा कृतकृत्यः ॥७५॥

पूर्वगाथार्धेन वंदनाया एकार्थः कथ्यते[2]ऽपरार्द्धेन तद्विकल्पा इति । कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदंबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपायः[3] । चीयते समेकीक्रियते संचीयते पुण्यकर्म तीर्थंकरत्वादि

अथवा जाति, द्रव्य व क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'वन्दना' ऐसा शब्द मात्र से संज्ञा कर्म करना **नाम वन्दना** है । वन्दना से परिणत हुए का जो प्रतिबिम्ब है वह **स्थापना वन्दना** है । वन्दना के वर्णन करने वाले शास्त्र का जो ज्ञाता है किन्तु उसमें उस समय उपयोग उसका नहीं है वह **आगमद्रव्य वन्दना** है । बाकी के भेदों को पूर्ववत् समझ लेना चाहिए । वन्दना का यह निक्षेप नाम आदि के भेद से छह प्रकार का है ऐसा जानना चाहिए ॥७४॥

नाम वन्दना का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म—ये वन्दना के एकार्थ नाम हैं । किसको, किसकी, किस प्रकार से, किस समय और कितनी बार वन्दना करना चाहिए ॥७५॥

आचारवृत्ति—गाथा के पूर्वार्ध से वन्दना के पर्यायवाची नाम कहे हैं अर्थात् कृति आदि वन्दना के ही नाम हैं तथा गाथा के अपरार्ध से वन्दना के भेद कहे हैं ।

कृतिकर्म—जिस अक्षर समूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है, छेदा जाता है वह कृतिकर्म कहलाता है अर्थात् पापों के विनाशन का उपाय कृतिकर्म है ।

---

१. अ. केणु । २. क ०ते पश्चार्द्धेन ।
३. क ०पायं । क्रियते समो वा क्रियते ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

येन तच्चितिकर्म पुण्यसंचयकारणं । पूज्यन्तेऽर्च्यन्तेऽर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनोच्चारणस्रक् चंदनादिकं । विनीयंते निराक्रियन्ते संक्रमणोदयोदीरणादि भावेन प्राप्यंते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं ।

तत्क्रियाकर्म कर्तव्यं केन कस्य कर्तव्यं कथमिव केन विधानेन कर्त्तव्यं कस्मिन्नवस्थाविशेषे कर्त्तव्यं कतिवारान् ॥७५॥

तथा—

कदि ओणदं कदि सिरं कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं ।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥७६॥

कियन्त्यवनतानि कति शिरांसि कतिभिः आवर्तकैः परिशुद्धं ।
कतिदोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यम् ॥७६॥

कदि ओणदं—कियन्त्यवनतानि । कति करमुकुलांकितेन शिरसा भूमिस्पर्शनानि कर्त्तव्यानि । **कदि सिरं**—कियन्ति शिरांसि कतिवारान् शिरसि करकुड्मलं कर्त्तव्यं । **कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं**—कियद्भिरावर्त्तकैः परिशुद्धं

चितिकर्म—जिस अक्षर समूह से या परिणाम से अथवा क्रिया से तीर्थ-करत्व आदि पुण्यकर्म का चयन होता है-सम्यक् प्रकार से अपने साथ एकीभाव होता है या संचय होता है, वह पुण्य संचय का कारणभूत चितिकर्म है ।

पूजाकर्म—जिन (अक्षर आदिकों) के द्वारा अरिहंत आदि देव पूजे जाते हैं—अर्चे जाते हैं—ऐसा बहुवचन से उच्चारण कर उनको जो माला, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं वह पूजाकर्म कहलाता है ।

विनयकर्म—जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है अर्थात् संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भाव से प्राप्त करा दिये जाते हैं, वह विनय है जो कि शुश्रुषा रूप है । यह वन्दना आवश्यक क्रिया किसे ? किसकी ? किस दृष्टि से ? *किस अवस्था विशेष में ? एवं कितनी बार करना चाहिए ? इत्यादि* प्रश्नों के साथ ही इस सम्बन्ध में (अन्य प्रश्न आगे कहे जा रहे हैं—॥७५॥

उसी प्रकार से और भी प्रश्न होते हैं—

गाथार्थ—कितनी अवनति, कितनी शिरोनति, कितनी आवर्तों से परि-शुद्ध, कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ? ॥७६॥

आचारवृत्ति—हाथों को मुकुलित जोड़कर, मस्तक से लगाकर शिर से भूमि स्पर्श करके जो नमस्कार होता है, उसे अवनति या प्रणाम कहते हैं । वह अवनति कितने बार करना चाहिए ? मुकुलित-जुड़े हुए हाथ पर मस्तक रखकर नमस्कार करना शिरोनति है सो कितनी होनी चाहिए ? मन वचन काय का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कतिवारान्मनोवचनकाया आवर्त्तनीया: । **कदि दोसविप्पमुक्कं**—कति दोषैर्विमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति ॥७६॥

इति प्रश्नमालायां कृतायां तावत्कृति[1] कर्मविनयकर्मणोरनेकार्थ इति कृत्वा विनयकर्मण: सप्रयोजनां निरुक्तिमाह—

जह्मा विणेदि[2] कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तह्मा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ।।७७।।

यस्मात् विनयति कर्म अष्टविधं चातुरंगमोक्षश्च ।
तस्मात् वदन्ति विद्वान्सो विनय इति विलीनसंसारा: ॥७७॥

यस्माद्विनयति विनाशयति कर्माष्टविधं चातुरंगात्संसारान्मोक्षश्च यस्माद्विनयात्तस्माद्विद्वांसो विलीनसंसारा विनय इति वदंति ॥७७॥

यस्माच्च—

पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं मोक्खमग्गम्मि ।।७८।।

पूर्वस्मिन् चैव विनय: प्ररूपितो जिनवरै: सर्वै: ।
सर्वासु कर्मभूमिषु नित्यं स मोक्षमार्गे ॥७८॥

आवर्तन करना या अंजुलि जुड़े हाथों को घुमाना सो आवर्तत है—यह कितनी बार करना चाहिए ? एवं कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म होना चाहिए ?

इस प्रकार से प्रश्नमाला के करने पर पहले कृतिकर्म और विनयकर्म का एक ही अर्थ है । इसलिए विनयकर्म की प्रयोजन सहित निरुक्ति को कहते हैं ॥७६॥

गाथार्थ—जिससे आठ प्रकार का कर्म नष्ट हो जाता है और चतुरंग संसार से मोक्ष हो जाता है । इस कारण से संसार से रहित विद्वान् उसे "विनय" कहते हैं ॥७७॥

आचारवृत्ति—जिस विनय से कर्मों का नाश होता है और चतुर्गति रूप संसार से मुक्ति मिलती है इससे संसार का विलय करने वाले विद्वान् उसे 'विनय' यह सार्थक नाम देते हैं ॥७७॥ क्योंकि

गाथार्थ—पूर्व में सभी जिनवरों ने सभी कर्मभूमियों में मोक्षमार्ग के कथन में नित्य ही उस विनय का प्ररूपण किया है ॥७८॥

---

१. क ०कर्मण: विनयकर्मणो० । २. क विणेयदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यतश्च पूर्वस्मिन्नेव काले विनयः प्ररूपितो जिनवरैः सर्वैः सर्वासु कर्मभूमिषु सप्तत्याधिकक्षेत्रेषु नित्यं सर्वकालं मोक्षमार्गे मोक्षमार्गहेतोस्तस्मन्नार्वाक्कालिको रथ्यापुरुषप्रणीतो वा शंकाऽत्र न कर्त्तव्या निश्चयेनात्र प्रवर्तितव्यमिति ॥७८॥

कतिप्रकारोऽसौ विनय इत्याशंकायामाह—

लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य ।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ ॥७९॥

लोकानुवृत्तिविनयः अर्थनिमित्तं च कामतन्त्रं च ।
भयविनयश्च चतुर्थः पंचमः मोक्षविनयश्च ॥७९॥

लोकस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तनं लोकानुवृत्तिर्नाम प्रथमो विनयः, अर्थस्य निमित्तमर्थनिमित्तं कार्यहेतुर्विनयो द्वितीयः, कामतन्त्रे कामतन्त्रहेतुः कामानुष्ठाननिमित्तं तृतीयो विनयः, भयविनयश्चतुर्थः[१] भयकारणेन यः क्रियते विनयः स चतुर्थः पंचमो मोक्षविनयः, एवं कारणेन पंचप्रकारो विनय इति ॥७९॥

आचारवृत्ति—चूँकि पूर्वकाल में भी सभी जिनवरों ने एक सौ सत्तर कर्मभूमियों में हमेशा ही मोक्षमार्ग के हेतु में विनय का प्ररूपण किया है, इसलिए यह विनय आजकल के लोगों द्वारा कथित है या रथ्यापुरुष (पागलपुरुष) यत्रतत्र फिरने वाले पुरुष के द्वारा कथित है—ऐसा नहीं कह सकते । अतः इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत इस विनयकर्म में निश्चय से प्रवृत्ति करनी चाहिए । अर्थात् यह विनयकर्म सर्वज्ञदेव द्वारा कथित है ॥७८॥

कितने प्रकार का यह विनय है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्त विनय, कामतन्त्रविनय, चौथा भयविनय और पाँचवाँ मोक्षविनय—ये विनय के पाँच भेद हैं ॥७९॥

आचारवृत्ति—लोक की अनुवृत्ति (अनुकूलता) करना सो **लोकानुवृत्ति** नामक पहला विनय है । अर्थ-कार्य के हेतु विनय करना दूसरा **अर्थनिमित्त** विनय है । काम के अनुष्ठान हेतु विनय करना **कामतन्त्र** नाम का तीसरा विनय है । भय के कारण से विनय करना यह चौथा **भय विनय** है और मोक्ष के हेतु विनय पाँचवा **मोक्षविनय**—इस प्रकार पाँच प्रकार का विनय है ॥७९॥

---

१. क र्थः पंचमो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्रादौ तावल्लोकानुवृत्तिविनयस्वरूपमाह—

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं[1] च अतिहिपूजा य ।
लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविहवेण[2] ।।८०।।

अभ्युत्थानं अंजलिः आसनदानं च अतिथिपूजा च ।
लोकानुवृत्तिविनयः देवतापूजा स्वविभवेन ।।८०।।

अभ्युत्थानं कश्चिमश्चिदागते आसनादुत्थानं प्रांजलिरंजलिकरणं स्वावासमागतस्यासनदानं तथाऽतिथिपूजा च मध्याह्नकाले आगतस्य साधोरन्यस्य वा धार्मिकस्य बहुमानं देवतापूजा च स्वविभवेन स्ववित्तानुसारेण देवपूजा च तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिर्नाम विनयः ।।८०।।

तथा—

भासाणुवित्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च ।
लोकाणुवत्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे ।।८१।।

भाषानुवृत्तिः छन्दानुवर्तनं देशकालदानं च ।
लोकानुवृत्तिविनयः अंजलिकरणं च अर्थकृते ।।८१।।

भाषाया वचनस्यनुवृत्तेरनुवर्त्तनं यथासौ वदति तथा सोऽपि भणति भाषानुवृत्तिः, छंदानुवर्त्तनं तदभिप्रायानुकूलाचरणं, देशयोग्यं कालयोग्यं च यद्दानं

आरम्भ में लोकानुवृत्ति विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उठकर खड़े होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि की पूजा करना, और **अपने विभव के अनुसार देवों की पूजा करना** यह लोकानुवृत्ति विनय है ।।८०।।

आचारवृत्ति—किसी पूज्य के अर्थात् बड़ों के आने पर आसन से उठकर खड़े होना, अंजुलि जोड़ना, अपने आवास में आये हुए को आसन देना, **अतिथि-पूजा**–मध्याह्नकाल में आये हुए साधु या अन्य धार्मिकजन अतिथि कहलाते हैं उनका बहुमान करना और अपने विभव या धन के अनुसार देवपूजा करना, सो यह सब **लोकानुवृत्ति** नाम का विनय है ।।८०।।

गाथार्थ—अनुकूल वचन बोलना, अनुकूल प्रवृत्ति करना, देशकाल के योग्य दान देना, अंजुलि जोड़ना और लोक के अनुकूल रहना सो **लोकानुवृत्ति विनय** है तथा अर्थ के निमित्त से ऐसा ही करना **अर्थविनय** है ।।८१।।

आचारवृत्ति—भाषानुवृत्ति–जैसे वे बोलते हैं वैसे ही बोलना, **छन्दानुवर्तन**–उनके अभिप्राय के अनुकूल आचरण करना, देश के योग्य और काल के योग्य

---

१. अ. ब. यासणदाणं । २. अ. ब. सविभवेण ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वद्रव्योत्सर्गस्तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिविनयो लोकात्मीकरणार्थो यथाऽयं विनयोंजलिकरणादिकः प्रयुज्यते तथांऽजलिकरणादिको योऽर्थनि[1]मित्तं क्रियते सोऽर्थहेतुः ॥८१॥

तथा—

एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए ।
पंचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिमा होदि ।।८२।।

एवमेव कामतन्त्रे भयविनयः चैव आनुपूर्व्या ।
पञ्चमः खलु विनयः प्ररूपणा तस्येवं भवति ॥८२॥

यथा लोकानुवृत्तिविनयो व्याख्यातस्तथैवं कामतन्त्रो भयार्थश्च भवति आनुपूर्व्या विशेषाभावात्, यः पुनः पंचमो विनयस्तस्येयं प्ररूपणा भवतीति ॥८२॥

दंसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव ।
मोक्खह्मि एस विणओ पंचविहो होदि णायव्वो ।।८३।।

दर्शनज्ञानचारित्रे तपसि विनयः औपचारिकश्चैव ।
मोक्ष एष विनयः पञ्चविधो भवति ज्ञातव्यः ॥८३॥

दान देना, अपने द्रव्य का त्याग करना यह सब **लोकानुवृत्ति विनय** है, क्योंकि यह लोक को अपना करने के लिए अंजुलि जोड़ना आदि यथार्थ विनय किया जाता है । उसी प्रकार से जो अर्थ के निमित्त प्रयोजन के लिए अंजुलि जोड़ना उपर्युक्त विनय किया जाता है वह **अर्थनिमित्त विनय** है ॥८१॥

गाथार्थ—इसी प्रकार से कामतन्त्र में विनय करना **कामतन्त्र विनय** है और इसी क्रम से भय हेतु विनय करना **भय विनय** है । निश्चय ही पंचम जो विनय है उसकी यह-आगे प्ररूपणा होती है ॥८२॥

आचारवृत्ति—जैसे लोकानुवृत्ति विनय का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार से काम के निमित्त विनय **कामतन्त्र विनय** है तथा वैसे ही क्रम से भय निमित्त विनय **भयविनय** है । इसमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अभिप्राय मात्र का अन्तर है, क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है । अब जो पाँचवा **मोक्षविनय** है उसकी आगे प्ररूपण करते हैं ॥८२॥

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप-विनय तथा औपचारिक विनय—यह पाँच प्रकार का **मोक्षविनय** जानना चाहिए ॥८३॥

---

१. क ०र्थगतोनि० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनज्ञानचारित्रतप औपचारिकभेदेन मोक्षविनय एष पंचप्रकारो भवति ॥८३॥

स पंचाचारे यद्यपि विस्तरेणोक्तस्तथाऽपि विस्मरणशीलशिष्यानुग्रहार्थं संक्षेपतः पुनरुच्यत इति—

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ॥८४॥

ये द्रव्यपर्यायाः खलु उपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने ।
तान् तथा श्रद्दधाति नरः दर्शनविनय इति ज्ञातव्यः ॥८४॥

ये द्रव्यपर्यायाः खलूपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने तांस्तथैव श्रद्दधाति यो नरः दर्शनविनय इति ज्ञातव्यो भेदोपचारादिति ॥८४॥

अथ ज्ञाने किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ॥८५॥

ज्ञानी गच्छति ज्ञानी वञ्चति ज्ञानी नवं च नाददाति ।
ज्ञानेन करोति चरणं तस्मात् ज्ञानं भवेत् विनयः ॥८५॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार के भेद से **मोक्ष-विनय** के पाँच भेद होते हैं ॥८३॥ यद्यपि मोक्षविनय के इन पंचाचार का यह विस्तार से वर्णन है किन्तु विस्मरणशील शिष्यों के अनुग्रह के लिए संक्षेप में पुनः कहा जा रहा है—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेवों ने श्रुतज्ञान में निश्चय से जिन द्रव्य पर्यायों का उपदेश दिया है, मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है—वह दर्शनविनय है—ऐसा जानना चाहिए ॥८४॥

आचारवृत्ति—जिनवरों ने द्रव्यादिकों का जैसा उपदेश दिया है जो मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह मनुष्य ही **दर्शनविनय** है । यहाँ पर गुण-गुणी में अभेद का उपचार किया गया है ॥८४॥

अब ज्ञान की किसलिए विनय करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्माज्ज्ञानी **गच्छति** मोक्षं जानाति वा गतेर्ज्ञानगमनप्राप्त्यर्थकत्वात्, यस्माच्च ज्ञानी वंचति परिहरति पापं यस्माच्च ज्ञानी नवं कर्म नाददाति न कर्मभिरिति यस्माच्च ज्ञानेन करोति चरणं चारित्रं तस्माच्च ज्ञाने भवति विनयः कर्त्तव्य इति ॥८५॥

अथ चारित्रे विनयः किमर्थं क्रियत इत्याशंकायामाह—

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविणओत्ति णादव्वो ॥८६॥

पौराणं कर्मरजः चर्यया रिक्तं करोति यतमानः ।
नवकर्म न च बध्नानि चरित्रविनय इति ज्ञातव्यः ॥८६॥

चिरंतनकर्मरजश्चर्यया चारित्रेण रिक्तं तुच्छं करोति यतमानश्चेष्टमानो नवं कर्म च न बध्नाति यस्मात्, तस्माच्चारित्रे विनयो भवति कर्त्तव्य इति ज्ञातव्यः ॥८६॥

गाथार्थ—ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता अथवा जानता है, ज्ञानी छोड़ता है और ज्ञानी नवीन कर्म को नहीं ग्रहण करता है, ज्ञान से चारित्र का पालन करता है इसलिए ज्ञान में विनय होवे ॥८५॥

आचारवृत्ति—जिस हेतु से ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा जानता है । गति अर्थ वाले धातु ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थवाले होते हैं ऐसा व्याकरण का नियम है । अतः यहाँ गच्छति का जानना और प्राप्त करना अर्थ किया है । जिससे ज्ञानी पाप की वंचना-परिहार करता है और नवीन कर्मों से नहीं बँधता है तथा ज्ञान से चारित्र को धारण करता है इसलिए ज्ञान में विनय करना चाहिए ॥८५॥

चारित्र में विनय क्यों करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु चारित्र से पुराने कर्मरज को खाली करता है और नूतन कर्म नहीं बाँधता है इसलिए उसे चारित्रविनय जानना चाहिए ॥८६॥

आचारवृत्ति—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ मुनि अपने आचरण से चिरकालीन कर्मधूलि को तुच्छ (समाप्त या साफ) कर देता है तथा नूतन कर्मों का बन्ध नहीं करता है अतः चारित्र में विनय करना चाहिए ॥८६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा तपोविनयप्रयोजनमाह—

अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं ।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणओ त्ति णादव्वो ।।८७।।

अपनयति तपसा तमः उपनयति मोक्षमार्गमात्मानं ।
तपोविनयनियमितमतिः स तपोविनय इति ज्ञातव्यः ॥८७॥

इत्येवमादिगाथानां **'आयारजीदा'**[1]**'दि** गाथापर्यन्तानां तप आचारेर्थः इति कृत्वा नेह प्रतन्यते पुनरुक्तदोषभयादिति ॥८७॥

यतो विनयः शासनमूलं यतश्च विनयः शिक्षाफलम्—

तह्मा सव्वपयत्तेण विणयत्तं मा कदाइ[2] छंडिज्जो ।
अप्पसुदो वि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ।।८८।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन विनयत्वं मा कदापि त्यजेत् ।
अल्पश्रुतोपि च पुरुषः क्षपयति कर्माणि विनयेन ॥८८॥

अब तपोविनय का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—तप के द्वारा तम को दूर करता है और अपने को मोक्ष-मार्ग के समीप करता है । जो तप के विनय में बुद्धि को नियमित कर चुका है वह ही तपोविनय है—ऐसा जानना चाहिए ॥८७॥

आचारवृत्ति—गाथा का अर्थ स्पष्ट है । इसी प्रकार से पूर्व में 'आयार जीदा' आदि गाथा पर्यंत तप आचार में तप विनय का विस्तृत वर्णन किया गया है । इसलिए यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं, क्योंकि वैसा करने से पुनरुक्त दोष आ जाता है ॥८७॥ आगे कहते हैं चूँकि विनय शासन का मूल है इसलिए विनय शिक्षाफल है—

गाथार्थ—इसलिए सभी प्रयत्नों से विनय को कभी भी मत छोड़ो, क्योंकि अल्पश्रुत का धारक भी पुरुष विनय से कर्मों का क्षपण कर देता है ॥८८॥

---

१. मूलाचार के ही 'पंचाचार' नामक पंचम अधिकार में दंसणणाणे विणओ इत्यादि-गाथा सं. १६७ से लेकर "आयारजीदकुप्पगुणदीवणा" ..... इत्यादि गाथा सं. १९१ तक की गाथाओं में "विनय" का विस्तृत विवेचन किया गया है । इनमें भी उत्तरगुणउज्जोगो.....इत्यादि गाथा सं. १७३ से लेकर—आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्जंजा । अज्जवमद्दवलाहव-भत्तीपल्हादकरणं च-इस गाथा सं. १८९ तक की गाथाओं में तपोविनय का ही अच्छा विवेचन किया गया है । अतः इन सबकी जानकारी के लिए मूल ग्रन्थ **मूलाचार** के पूर्वोक्त प्रकरणों को देखना चाहिए ।

२. ब. कदाय ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्मात्सर्वप्रयत्नेन विनयत्व नो कदाचित्परिहरेत् भवान् यस्मादल्पश्रुतोऽपि पुरुषः क्षपयति कर्माणि विनयेन तस्माद्विनयो न त्याज्य इति ॥८८॥

कृतिकर्मणः प्रयोजनं तं दत्वा प्रस्तुतायाः प्रश्नमालायास्तावदसौ केन कर्तव्यं तत्कृतिकर्म यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

पंचमहव्वयगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य ।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ ॥८९॥

पञ्चमहाव्रतगुप्तः संविग्नः अनालसः अमानी च ।
कृतिकर्म निर्जरार्थी करोति सदा ऊनरात्रिकः ॥८९॥

पंचमहाव्रतैर्गुप्तः पंचमहाव्रतानुष्ठानपरः संविग्नो धर्मफलयोर्विषये हर्षोत्कंठितदेहोऽनालसः उद्योगवान् **अमाणी य** अमानी च परित्यक्तमानकषायो निर्जरार्थी ऊनरात्रिको दीक्षया लघुर्यः एवं स कृतिकर्म करोति सदा सर्वकालं, पंचमहाव्रतयुक्तेन परलोकार्थिना विनयकर्म कर्त्तव्यं भवतीति सम्बन्धः ॥८९॥

कस्य तत्कृतिकर्म कर्त्तव्यं यत्पृष्टं तस्योत्तरमाह—

आइरियउवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं ।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए ॥९०॥

आचारवृत्ति—अतः सर्व प्रयत्न करके विनय को कदाचित् भी मत छोड़ो, क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मों का नाश कर देता है । इसलिए विनय को सदा काल करते रहना चाहिए ॥८८॥

प्रसंग—कृतिकर्म का प्रयोजन कहकर जो प्रश्नमाला कही है, उसके प्रारम्भ में कौन पुरुष वह कृतिकर्म करता है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—

गाथार्थ—जो पाँच महाव्रतों से युक्त है, संवेगवान है, आलस्यरहित है और मान रहित है—ऐसा निर्जरा का इच्छुक हुआ एक रात्रि भी लघु मुनि हमेशा कृतिकर्म करे ॥८९॥

आचारवृत्ति—जो पाँच महाव्रतों के अनुष्ठान में तत्पर हैं, धर्म और धर्म के फल में जिनका शरीर हर्ष से रोमांचित हो रहा है, आलस्य रहित उद्यमवान हैं, मान कषाय से रहित है, कर्म निर्जरा के इच्छुक है, ऐसे मुनि दीक्षा में एक रात्रि भी यदि लघु है तो वे सर्वकाल गुरुओं की कृतिकर्मपूर्वक वन्दना करें । अर्थात् मुनियों को अपने से बड़े मुनियों की कृतिकर्म पूर्वक विनय करना चाहिए । यहाँ पर कृतिकर्म करनेवाले का वर्णन किया है ॥८९॥

कृतिकर्म किनका करने योग्य है ? इसे बतलाते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्योपाध्यायानां प्रवर्तकस्थविरगणधरादीनां ।
एतेषां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं ॥९०॥

तेषामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणधरादीना कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं न मन्त्रतन्त्रोपकरणायेति ॥९०॥

एते पुनः क्रियाकर्मायोग्या इति प्रतिपादयन्नाह—

णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व ।
देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा ॥९१॥

नो बन्देत अविरतं मातरं पितरं गुरुं नरेन्द्रं अन्यतीर्थवा ।
देशविरतं देवं वा विरतः पार्श्वस्थपञ्चकं वा ॥९१॥

णो वंदिज्ज न वंदेत् न स्तुयात् कं **अविरदमविरतमसंयतं** मातरं जननीं पितरं जनकं गुरु दीक्षागुरुं श्रुतगुरुमप्यसंयतं चरणादिशिथिलं नरेन्द्रं राजानं अन्यतीर्थिकं पाखंडिनं वा देशविरतं श्रावकं शास्त्रादि प्रौढमपि देवं वा नागयक्षचन्द्रसूर्येन्द्रादिकं वा विरतः संयतः सन् पार्श्वस्थपणकं वा ज्ञानदर्शनचारित्रशिथि-

---

गाथार्थ—निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का कृतिकर्म करना चाहिए ॥९०॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिकों का कृतिकर्म (विनयकर्म) कर्मों की निर्जरा के लिए करना चाहिए, मन्त्र-तन्त्र या उपकरण के लिए नहीं ॥९०॥

पुनः जो विनयकर्म के अयोग्य हैं उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अविरत माता पिता व गुरु की, राजा की, अन्य तीर्थ की, या देशविरत की, अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि की वह विरत-मुनि वन्दना न करें ॥९१॥

आचारवृत्ति—असंयत माता-पिता की, असंयत गुरु की अर्थात् दीक्षा-गुरु यदि चारित्र में शिथिल–भ्रष्ट हैं या श्रुतगुरु यदि असंगत हैं अथवा चारित्र में शिथिल हैं तो संयत मुनि इनकी वन्दना न करें। वह राजा की, पाखण्डी साधुओं की, शास्त्रादि से प्रौढ़ भी देशव्रती श्रावक की या नाग, यक्ष, चन्द्र, सूर्य, इन्द्रादि देवों की भी वन्दना न करें। तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि जो कि निर्ग्रंथ होते हुए भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र में शिथिल हैं, इनकी भी वन्दना न करें।

विरत मुनि मोहादि से असंयत माता-पिता आदि की, या अन्य किसी की स्तुति न करें। भय से या लोभ आदि से राजा की स्तुति न करें। ग्रहों की पीड़ा आदि के भय से सूर्य आदि की पूजा न करें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लान् पंचजनान्निर्ग्रन्थानपि संयतः स्नेहादिना पार्श्वस्थपणकं न वंदेत मातरमसंयतां पितरमसंयतं अन्यं च मोहादिना न स्तुयात् भयेन लोभादिना वा नरेन्द्रं न स्तुयात् ग्रहादिपीडाभयाद्देवं सूर्यादिकं न पूजयेत् ।

शास्त्रादिलोभेनान्यतीर्थिकं न स्तुयादाहारादिनिमित्तं श्रावकं न स्तुयात् । **आत्मगुरुमपि विनष्टं न वंदेत** तथा वा शब्दसूचितानन्यानपि स्वोपकारिणोऽसंयतान्न स्तुयादिति ॥९१॥

इति के ते पंच पार्श्वस्था इत्याशंकायामाह—

पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य ।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ।।९२।।

पार्श्वस्थश्च कुशीलः संसक्तोऽपसंज्ञो मृगचरित्रश्च ।
दर्शनज्ञानचारित्रे अनियुक्ता मन्दसंवेगाः ॥९२॥

संयतगुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः वसतिकादिप्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिंदिवमुपकरणानां कारकोऽसंयतजनसेवी संयतजनेभ्यो दूरीभूतः,

---

शास्त्रादि ज्ञान के लोभ से अन्य मतावलम्बी पाखंडी साधुओं की स्तुति न करें। आहार आदि के निमित्त श्रावक की स्तुति न करें, एवं स्नेह आदि से पार्श्वस्थ आदि मुनियों की स्तुति न करें। तथैव **अपने गुरु भी यदि हीनचारित्र हो गये हैं तो उनकी भी वन्दना न करें** तथा अन्य भी जो अपने उपकारी हैं किन्तु असंयत हैं उनकी वन्दना न करें ॥९१॥

वे पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ कौन हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त अपसंज्ञक और मृगचरित्र—ये पाँचों दर्शन, ज्ञान और चारित्र में नियुक्त नहीं हैं एवं मन्द संवेग वाले हैं ॥९२॥

आचारवृत्ति—जो संयमी के गुणों से 'पार्श्वे तिष्ठति' पास में, निकट में रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिबद्ध रहते हैं अर्थात् वसतिका आदि में अपनेपन की भावना रखकर उनमें आसक्त रहते हैं मोह की बहुलता रहती है, ये रात-दिन उपकरणों के बनाने में लगे रहते हैं, असंयतजनों की सेवा करते हैं और संयमीजनों से दूर रहते हैं। अतः ये **पार्श्वस्थ** इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

कुत्सितशील—आचरण या खोटा स्वभाव जिनका है वे 'कुशील' कहलाते हैं। ये क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत गुण और शीलों से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, अतः ये **कुशील** कहे जाते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीनः संघास्यापयशःकरणकुशलः, सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः, संशक्तः, आहारादिगृद्ध्या वैद्यमन्त्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवात्परः ।

ओसण्णोऽअपगतसंज्ञोऽपगता विनष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिकं यस्यासौ अपगतसंज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्टः करणालसः सांसारिक-सुखमानसः ।

मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपःसूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यनुष्ठानपरा मंदसंवेगास्तीर्थधर्माद्यकृतहर्षाः सर्वदा न वंदनीया इति ॥९२॥*

हैं । जो अच्छी तरह से असंयत गुणों में आसक्त हैं वे **'संसक्त'** कहलाते हैं । ये मुनि आहार आदि की लंपटता से वैद्य-चिकित्सा, मन्त्र, ज्योतिष आदि में कुशलता धारण करते हैं और राजा आदि की सेवा में तत्पर रहते हैं ।

जिनकी संज्ञा-सम्यग्ज्ञान आदि गुण अपगत-नष्ट हो चुके हैं वे **'अपसंज्ञक'** कहलाते हैं । ये चारित्र आदि से हीन हैं, जिनेन्द्रदेव के वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र आदि से परिभृष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं एवं जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है वे **अपसंज्ञक** इस सार्थक नामवाले हैं ।

मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चारित्र है वे **'मृगचरित्र'** कहलाते हैं । ये आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्दाचारी हैं, एकाकी विचरण करते हैं, जिन-सूत्र-(जिनागम) में दूषण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं, धैर्य रहित होते हैं अतः 'मृगचरित्र'–स्वैराचारी होते हैं ।

---

* ये गाथायें फलटन से प्रकाशित कृति में अधिक हैं—

पाँचों पार्श्वस्थ आदि का लक्षण गाथा द्वारा कहा गया है—

वसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ ।
पासत्थो समणणाणं पासत्थो णाम सो होई ।।

अर्थ—जो वसतिओं में आसक्त हैं, जो उपकरणों में बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं ।

कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो ।
संघस्स अयसकारी कुसीलसमणो त्ति णायव्वो ।।

अर्थ—जिसने क्रोधादिकों से अपने को कलुषित कर रखा है, व्रतगुम और शीलों से हीन है, संघ का अपयश करने वाला है वह कुशील श्रमण है ऐसा जानना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरपि स्पष्टमवन्दनायाः कारणमाह—

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था ।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ।।९३।।

दर्शनज्ञानचरित्रतपोविनयेभ्यः नित्यकालं पार्श्वस्थाः ।
एते अवन्दनीयाः छिद्रप्रेक्षिणो गुणधराणाम् ॥९३॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यो नित्यकालं पार्श्वस्थ दूरीभूता यतोऽत एते न वंदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधाराणां च छिद्रोन्वेषिणः संयतजनस्य दोषोद्भाविनो यतोऽतो न वंदनीया एतेऽन्ये चेति ॥९३॥

ये पाँचों प्रकार के मुनि 'पार्श्वस्थ' नाम से भी कहे जाते हैं । ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि के अनुष्ठान से शून्य रहते हैं, इन्हें तीर्थ और धर्म आदि में हर्ष रूप संवेग भाव नहीं होता है अतः ये हमेशा ही वन्दना करने योग्य नहीं हैं—ऐसा समझना ॥९२॥

पुनरपि इनको वन्दना न करने का स्पष्ट कारण कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये नित्य ही पार्श्वस्थ हैं । ये गुण धारियों के छिद्र देखने वाले हैं अतः ये वन्दनीय नहीं हैं ॥९३॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की विनय से ये नित्यकाल दूर रहते हैं, अतः ये वन्दनीय नहीं हैं । क्योंकि ये गुणों से युक्त संयमियों का दोष उद्भावन करते रहते हैं इसलिए इन पार्श्वस्थ आदि जैसे अन्यान्य मुनियों की वन्दना नहीं करना चाहिए ॥९३॥

वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो ।
राजादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ।।

अर्थ—वैद्यशास्त्र, मंत्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र में कुशल होने से उनमें आसक्ति रखते हैं अर्थात् हमेशा इन्हीं के प्रयोग में लगे रहते हैं, एवं राजा आदिकों की सेवा करते हैं उनको संसक्त मुनि कहते हैं ।

जिणवयण मयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरभट्ठो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ।।

अर्थ—जो जिन-वचनों को नहीं जानते हुए चारित्ररूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तेरहविध क्रियाओं में आलसी हैं, उनको अपसंज्ञक मुनि कहते हैं ।

आयरियकुलं मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो होइ मिगचारी ।।

अर्थ—आचार्य के संघ को छोड़कर जो एकाकी विहार करते हैं, जिन वचनों की निन्दा करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति रखते हैं, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के तर्हि वंद्यंत्तेऽत आह—

समणं वंदेज्ज मेधावी सजदं सुसमाहिदं ।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमदुगंछयं[1] धीरं ।।९४।।

श्रमणं वन्देत मेधाविन् संयतं सुसमाहितं ।
पञ्चमहाव्रतकलितं असंयमजुगुप्सकं धीरं ॥९४॥

हे मेधाविन् ! चारित्राद्यनुष्ठानतत्पर ! श्रमणं निर्ग्रन्थरूपं वंदेत पूजयेत् किंविशिष्टं संयतं चारित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठं । पुनरपि किंविशिष्टं ? सुसमहितं ध्यानाध्ययनतत्परं क्षमादिसहितं पंचमहाव्रतकलितं असंयमजुगुप्सकं प्राणेन्द्रियसंयमपरं धीरं धैर्योपेतं चागमप्रभावनाशीलं सर्वगुणोपेतमेवं विशिष्टं स्तूयादिति ॥९४॥

तथा—

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता ।
एदे खु वंदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं ।।९५।।

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनयेषु नित्यकालमुपयुक्ताः ।
एते खलु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥९५॥

कौन वन्दनीय है ? यह बताते हैं—

गाथार्थ—हे बुद्धिमान् ! पाँच महाव्रतों से सहित, असंयम से रहित, धीर एकाग्रचित्तवाले संयत ऐसे मुनि की वन्दना करो ॥९४॥

आचारवृत्ति—हे चारित्रादि अनुष्ठान में तत्पर विद्वन् मुने ! तुम ऐसे निर्ग्रन्थरूप श्रमण की वन्दना करो जो चारित्रादि के अनुष्ठान में निष्ठ हैं, ध्यान-अध्ययन में तत्पर रहते हैं, क्षमादि गुणों से सहित हैं, पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, असंयम के जुगुप्सक, प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम में परायण हैं, धैर्यगुण से सहित हैं, आगम की प्रभावना करने के स्वभावी हैं—इन सर्वगुणों से सहित मुनियों की वन्दना व स्तुति करो ॥९४॥

इसी प्रकार से और भी बताते हैं—

गाथार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके विनयों में हमेशा लगे रहते हैं, जो गुणधारी मुनियों के गुणों का बखान करते हैं, वास्तव में वे मुनि वन्दनीय हैं ॥९५॥

---

१. अ. ब. जुगंछयं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनज्ञानचारित्रपोविनयेषु नित्यकालमभीक्ष्णमुपयुक्ताः सुष्ठु निरता ये ते एते वंदनीया गुणधराणां शीलधराणां च गुणवादिनो ये च ते वंदनीया इति ॥९५॥

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वंदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो ।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ॥९६॥

व्याक्षिप्तपरावृत्तं तु प्रमत्तं मा कदाचित् बन्देत ।
आहारं च कुर्वन्तं नीहारं वा यदि करोति ॥९६॥

व्याक्षिप्तं [1]ध्यानादिनाकुलचित्तं परावृत्तं पराङ्मुखं पृष्ठदेशतः स्थितं प्रमत्तं निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् **वंदिज्ज** नो वंदेत संयतमिति संबंधस्तथाऽहारं च कुर्वन्तं भोजनक्रियां कुर्वाणं नीहारं वा मूत्रपुरीषादिकं यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वंदनां साधुरिति ॥९६॥

आचारवृत्ति—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय—इनमें भली प्रकार सदाकाल उपयुक्त अर्थात् संलग्न हैं, वे वंदना के योग्य हैं और जो गुणधरों एवं शीलगुण के धारी है, गुणानुवाद करने वाले हैं, वे वन्दनीय हैं ॥९५॥

संयत भी यदि इस तरह स्थित हैं तो उन स्थानों में उनकी भी वन्दना न करें, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित हैं, उनकी भी कभी उस समय वन्दना न करें और आहार कर रहे हैं अथवा नीहार (मल-मूत्रादि त्याग) कर रहे हैं, उस समय भी (मुनि आदि की) वन्दना न करें ॥९६॥

आचारवृत्ति—व्याक्षिप्त-ध्यान आदि से आकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, प्रमत्त, निन्द्रा या विकथा आदि में लगे हुए हैं, आहार कर रहे हैं या मल-मूत्रादि विसर्जन कर रहे हैं । संयमी मुनि भी यदि इस प्रकार की स्थिति में हैं तो साधु उस समय उनकी भी वन्दना न करें ॥९६॥

---

१. अ. ब. हु ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केन विधानेन वंद्यते इत्याशंकायामाह—

आसणे आसणत्थं च उवसंतं उवट्ठिदं ।
अणु[1] विण्णाय मेधावी किदियम्मं पउंजदे ।।९७।।

आसने आसनस्थं च उपशान्तं च उपस्थितं ।
अनुविज्ञाप्य मेधावी कृतिकर्म प्रयुंक्ते ॥९७॥

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थं पर्यंकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशांतं उपस्थितं वंदनां कुर्वीत इति स्थितं अनुविज्ञाप्य वंदनां करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थः ॥९७॥

कथमिव गतं सूत्रं वंदनायाः स्थानमित्याह—

आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे[2] य सज्झाए ।
अवराहे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ।।९८।।

आलोचनायाः करणे प्रतिपृच्छायां पूजने च स्वाध्याये ।
अपराधे च गुरूणां वन्दनमेतेषु स्थानेषु ॥९८॥

किस विधान से स्थित हों तो वन्दना करें ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो आसन पर बैठे हुए हैं,शांतचित्त हैं एवं सन्मुख मुख किए हुए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वन्दना विधि का प्रयोग करें ॥९७॥

आचारवृत्ति—एकांत भूमिप्रदेश में जो पर्यंक आदि आसन से बैठे हुए हैं अथवा आसन-पाटे आदि पर बैठे हुए हैं, जो शांत-निराकुल चित्त हैं, अपनी तरफ मुख करके बैठे हुए हैं, स्वस्थ चित्त हैं, उनके पास आकर—'हे भगवान् ! मैं वन्दना करूँगा' ऐसा सम्बोधन करके विद्वान् मुनि इस विधि से कृतिकर्मविधिपूर्वक वन्दना प्रारम्भ करें । इस प्रकार से वन्दना किनकी करना और कैसे करना इन दो प्रश्नों का उत्तर हो चुका है ॥९७॥

अब वन्दना कब करना ? यह बताते हैं—

गाथार्थ—आलोचना के करने में, प्रश्न पूछने में, पूजा करने में, स्वाध्याय के प्रारम्भ में और अपराध के हो जाने पर—इन स्थानों में गुरुओं की वन्दना करें ॥९८॥

---

१. अ. ब. क. अणुण्णचित्त मे । २. अ. ब. पूजणे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोचनायाः करणे आलोचनाकालेऽथवा करणे षडावश्यककाले परिप्रश्ने प्रश्नकाले पूजने पूजाकाले च स्वाध्याये स्वाध्यायकालेऽपराधे क्रोधाद्यपराधकाले च गुरूणामाचार्योपाध्यायादीनां वंदनैतेषु स्थानेषु कर्तव्येति ॥९८॥

"कस्मिन्स्थाने" यदेतत्सूत्रं स्थापितं तद्व्याख्यातमिदानीं कतिवारं कृतिकर्म कर्तव्यमिति यत्सूत्र स्थापितं तद्व्याख्यानायाह—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए ।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥९९॥

चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि त्रीणि स्वाध्याये ।
पूर्वाह्णे अपराह्णे कृतिकर्माणि चतुर्दश भवन्ति ॥९९॥

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तवपर्यन्तः [1]कृतिकर्मेत्युच्यते । प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंत्येवं पूर्वाह्णे क्रियाकर्माणि सप्त तथाऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि सप्तैवं पूर्वाह्णेऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवंतीति ।

आचारवृत्ति—आलोचना के समय, करण अर्थात् छह आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के समय, पूजन के समय, स्वाध्याय के समय और अपने से क्रोधादि रूप किसी अपराध के हो जाने पर गुरु-आचार्य, उपाध्याय आदिकों की वन्दना करें । अर्थात् इन-इन प्रकरणों में गुरुओं की वन्दना करनी होती है । 'किस स्थान में वन्दना करना' ? जो यह प्रश्न था उसका यह उत्तर है ॥९८॥

'कितनी बार कृतिकर्म करना चाहिए' ? इस प्रश्न का व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म, स्वाध्याय में तीन–ये पूर्वाह्न और अपराह्न से सम्बन्धित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं ॥९९॥

आचारवृत्ति—सामायिक-स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवपर्यंत जो क्रिया है उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं । प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्न सम्बन्धी क्रियाकर्म सात होते हैं तथा अपराह्न सम्बन्धी क्रियाकर्म भी सात होते हैं—ऐसे चौदह क्रियाकर्म हैं ।

---

१. क क्रियाकर्मे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कथं प्रतिक्रमणे चत्वारि क्रियाकर्माणि, आलोचनाभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथा प्रतिक्रमणभक्तिकरणे कायोत्सर्गः द्वितीयं क्रियाकर्म तथा[१] वीरभक्तिकरणे 'कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्म तथा चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणे शांतिहेतोः कायोत्सर्गश्चतुर्थं क्रियाकर्म ।

कथं च स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि, श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एकं क्रियाकर्म तथाऽऽचार्यभक्तिक्रियाकरणे द्वितीयं क्रियाकर्म तथा स्वाध्यायोपसंहारे श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीयं क्रियाकर्मैवं जातिमपेक्ष्य त्रीणि क्रियाकर्माणि भवंति स्वाध्याये शेषाणां वंदनादिक्रियाकर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । प्रधानपदोच्चारणं कृतं यतः पूर्वाह्णे दिवस इति एवमपराह्णे रात्रावपि द्रष्टव्यं भेदाभावात् ।

अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वंदनायां द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवंदनायां द्वे एवं पूर्वाह्णक्रिया-

---

प्रतिक्रमण में चार कृतिकर्म कैसे होते हैं ?—

आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करने में कायोत्सर्ग होता है—वह एक क्रियाकर्म हुआ । प्रतिक्रमण भक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है—वह दूसरा क्रियाकर्म हुआ । वीर भक्ति के करने में जो कायोत्सर्ग है—वह तृतीय क्रियाकर्म हुआ तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के करने में शान्ति के लिए जो कायोत्सर्ग है—वह चतुर्थ क्रियाकर्म है । इस तरह प्रतिक्रमण में चार क्रियाकर्म हुए ।

स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म कैसे हैं ?—

स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति के करने में कायोत्सर्ग होता है-वह एक कृतिकर्म है तथा आचार्य भक्ति की क्रिया करने में जो कायोत्सर्ग है, वह दूसरा कृतिकर्म है । तथा स्वाध्याय की समाप्ति में श्रुतभक्ति करने में जो कायोत्सर्ग है, वह तृतीय कृतिकर्म है । इस तरह जाति की अपेक्षा तीन क्रियाकर्म स्वाध्याय में होते हैं । शेष वन्दना आदि क्रियाओं का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है ।

यहाँ 'प्रधान' पद का ग्रहण किया है, जिससे पूर्वाह्न करने से दिवस का और अपराह्न करने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है । क्योंकि पूर्वाह्न से दिवस में और अपराह्न से रात्रि में कोई भेद नहीं है ।

अथवा **पश्चिम रात्रि** के प्रतिक्रमण में क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय में तीन और वन्दना में दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न वन्दना के दो—इस प्रकार से पूर्वाह्न सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते हैं । तथा **अपराह्न**

---

१. क तथा महावीर० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्माणि चतुर्दश भवन्ति; तथाऽपराह्णवेलायां स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वंदनायां द्वे योगभक्तिग्रहणोपसंहारकालयोः द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्राणि । एवमपराह्णक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवंति ।

प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यित्रैवान्तर्भवन्ति नाव्यापकत्वमिति सम्बन्धः । पूर्वाह्णसमीपकालः पूर्वाह्ण इत्युच्येतऽपराह्णसमीपकालोऽपराह्ण इत्युच्यते तस्मान्न दोष इति ॥९९॥

कत्यवनतिकरणमित्यादि यत्पृष्टं तदर्थमाह—

दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य[1] ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं[2] च किदियम्मं पउंजदे ।।१००।।

द्व्यवनतिस्तु यथाजातं द्वादशावर्तमेव च ।
चतुःशिरःत्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयुंजते ॥१००॥

दोणदं—द्वे अवनती पंचनमस्कारादावेकावनतिर्भूमिसंस्पर्शस्तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीयाऽवनतिः शरीरनमनं द्वे अवनती **जहाजादं**-यथाजातं जातरूपसदृशं क्रोधमानमायाऽसंगादिरहितं ।

बेला में स्वाध्याय में तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वन्दना में दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसंहार में दो एवं रात्रि में प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह **अपराह्ण** सम्बन्धों क्रियाकर्म चौदह होते हैं ।

गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षण रूप है, इससे अल्प भी क्रियाकर्म इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं । अतः अव्यापक दोष नहीं आता है । चूँकि पूर्वाह्ण के समीप का काल पूर्वाह्ण कहलाता है और अपराह्ण के समीप का काल अपराह्ण कहलाता है, इसलिए कोई दोष नहीं है ॥९९॥

कितनी अवनति करना चाहिए ? इस प्रश्न के पूछने पर कहते हैं ?

गाथार्थ—जातरूप सदृश दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करें ॥१००॥

आचारवृत्ति—दो अवनति-पंच नमस्कार के आदि में एक बार अवनति अर्थात् भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि में दूसरी बार अवनति शरीर का नमाना अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना—ये दो अवनति हैं । यथाजात अर्थात् जातरूप सदृश, क्रोध, मान, माया और संग (परिग्रह) या लोभ आदि रहित कृतिकर्म को मुनि करते हैं ।

---

१. अ-च । २. ग. तिसुद्धि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारसावत्तमेव य द्वादशावर्त्ता एवं च पंचनमस्कारोच्चारणादौ मनोवचनकायानां संयमनानि शुभयोगवृत्तयस्त्रय आवर्त्तास्तथा पंचनमस्कारसमाप्तौ मनोवचनकायानां शुभवृत्तयस्त्रीण्यन्यान्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ मनोवचनकायाः शुभवृत्तयस्त्रीण्य पराण्यावर्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ शुभमनोवचनकायवृत्तयस्त्रीण्यन्यान्यावर्तनानि द्वादशधा मनोवचनकायवृत्तयो द्वादशावर्त्ता भवंति, अथवा चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवंति ।

चतुस्सिरं चत्वारि शिरांसि पंचनमस्कारस्यादावंते च करमुकुलांकितशिरःकरणं तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादावंते च करमुकुलांकितशिरःकरणमेवं चत्वारि शिरांसि भवंति, त्रिशुद्धं मनोवचनकायशुद्धं क्रियाकर्म प्रयुंक्ते करोति । द्वे अवनती यस्मिन्तत् द्व्यवनति द्वादशावर्त्ताः यस्मिंस्तत् द्वादशवर्त्तं, मनोवचनकायशुद्ध्या चत्वारि शिरांसि यस्मिन् तत् चतुःशिरःक्रियाकर्मैवं विशिष्टं यथाजातं क्रियाकर्म प्रयुंजीतेति ॥१००॥[१]

द्वादश आवर्त—पंच नमस्कार के उच्चारण के आदि में मन वचन काय के संयमन रूप शुभयोगों को प्रवृत्ति होना में तीन आवर्त पंचनमस्कार की समाप्ति में मनवचनमय की शुभवृत्ति होना ये तीन आवर्त, तथा चतुर्विंशति स्तव की आदि में मन-वचन-काय की शुभप्रवृत्ति होना—ये तीन आवर्त एवं चतुर्विंशति स्तव की समाप्ति में शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त ऐसे मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति रूप बारह आवर्त होते हैं । अथवा चारों ही दिशाओं में चार प्रणाम एक भ्रमण में ऐसे ही तीन बार के भ्रमण में बारह हो जाते हैं ।

चतुःशिर—पंचनमस्कार के आदि और अन्त में कर-मुकुलित करके अंजलि जोड़कर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में कर-मुकुलित करके माथे से लगाना—ऐसे चार शिर-शिरोनति होती है ।

इस तरह इसे एक कृतिकर्म में दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं । मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक इस विधानयुक्त यथाजात कृतिकर्म का प्रयोग करें ।

कृतिकर्म की विधि—पूज्य गणिनी आर्यिका ज्ञानमतीमाताजी के भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से प्रकाशित मूलाचार टीका (पृष्ठ ४४३) में इस गाथा के विशेषार्थ में **इस सबकी विधि इस प्रकार बताई है**—

---

१. यह गाथा भगवती आराधना गाथा सं. ११६ की विजयोदया टीका में भी आयी है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरपि क्रियाकर्मप्रयुंजनविधानमाह—

तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाण पुणरुत्तं ।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ।।१०१।।

त्रिविधं त्रिकरणशुद्धं मदरहितं द्विविधस्थानं पुनरुक्तं ।
विनयेन क्रमविशुद्धं कृतिकर्म भवति कर्तव्यं ॥१०१॥

त्रिविधं ग्रंथार्थोभयभेदेन त्रिप्रकारं, अथवाऽवनतिद्वयमेकः प्रकारः द्वादशावर्त्त द्वितीयः प्रकारश्चतुःशिरस्तृतीयं विधानमेवं त्रिविधं, अथवा कृतकरितानुमति-

---

एक बार के कायोत्सर्ग में यह उपर्युक्त विधि की जाती है, उसी का नाम कृतिकर्म है । यह विधि देववन्दना, प्रतिक्रमण आदि सर्व क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारम्भ में की जाती है । जैसे देववन्दना में चैत्यभक्ति के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा हुई—

इसमें बोलकर भूमि स्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें । यह एक अवनति हुई । अनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके "णमो अरिहंताणं, चत्तारि-मंगलं अड्ढाइज्जदीव–इत्यादि पाठ बोलते हुए 'दुच्चरियं वोस्स-रामि' तक पाठ बोले । यह 'सामायिकस्तव' कहलाता है । पुनः तीन आवर्त और एक शिरोनति करें । इस तरह सामायिक दण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होने से छह आवर्त और दो शिरोनति हुई ।

पुनः नौ बार णमोकार मन्त्र को सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में जपकर भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करें । इस तरह प्रतिज्ञा के अनन्तर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो गयीं ।

बाद में तीन आवर्त, एक शिरोनति करके 'थोस्सामि-स्तव' पढ़कर अन्त में पुनः तीन आवर्त, एक शिरोनति करें । इस तरह चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त और दो शिरोनति हो गयीं ।

इस प्रकार एक कायोत्सर्ग के करने में दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति होती है ॥१००॥

गाथार्थ—अवनति, आवर्त और शिरोनति–ये तीन प्रकार, मन-वचन-काय से शुद्ध, मदरहित, पर्यंक और कायोत्सर्ग—इन दो स्थान युक्त, पुनरुक्ति युक्त विनय से क्रमानुसार कृतिकर्म करना होता है ॥१०१॥

आचारवृत्ति—त्रिविध–ग्रन्थ (शब्द), अर्थ और उभय (शब्दार्थ) के भेद से तीन प्रकार, अथवा दो अवनति यह एक प्रकार, बारह आवर्त यह दो प्रकार,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भेदेन त्रिविधं, अथवा प्रतिक्रमणस्वाध्यायवन्दनाभेदेन त्रिविधं, अथवा पंचनमस्कारध्यानचतुर्विंशतिस्तवभेदेन त्रिविधमिति ।

त्रिकरणशुद्धं मनोवचनकायाशुभपरिणामविमुक्तं, अथवाऽवनतिद्वयद्वादशावर्त्तचतुःशिरःक्रियाभिःशुद्धं । मदरहितं जात्यादिमदहीनं । द्विविधस्थानं द्वे पर्यंककायोत्सर्गौ स्थाने यस्य तत् द्विविधं स्थानं ।

पुनरुक्तं क्रियां क्रियां प्रति, तदेव क्रियत इति पुनरुक्तं, विनयेन विनययुक्त्या क्रमविशुद्धं [1]क्रममनतिलंघ्यागमानुसारेण कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यं । न पुनरुक्तो दोषो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणादिति ॥१०१॥

चार शिर—यह तृतीय प्रकार, ऐसे तीन प्रकार । अथवा कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से तीन प्रकार, अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दना के भेद से तीन प्रकार, अथवा पंचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि-स्तव—इन भेदों से तीन प्रकार होते हैं । अर्थात् यहाँ त्रिविध शब्द से पाँच तरह से तीन प्रकार को लिया है, जो कि सभी ग्राह्य हैं किन्तु फिर भी यहाँ कृतिकर्म द्वितीय प्रकार और पाँचवाँ प्रकार ही मुख्य है ।

त्रिकरणशुद्ध—मनवचनकाय के अशुभ परिणाम से रहित अथवा दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिर—इन क्रियाओं से शुद्ध, मदरहित-जाति, कुल आदि आठ मदों से रहित, **द्विविधस्थान**-पर्यंक आसन और खड़े होकर कायोत्सर्ग आसन—ये दो प्रकार के स्थान कृतिकर्म में होते हैं ।

पुनरक्त-क्रिया—क्रिया के प्रति अर्थात् प्रत्येक क्रियाओं के प्रति वही विधि की जाती है—यह पुनरक्त होता है । यहाँ यह दोष नहीं है । प्रत्युत्त करना ही चाहिए ।

इस तरह से त्रिविध, त्रिकरणशुद्ध, मदरहित, द्विविध-स्थान युक्त और पुनरुक्त—इतने विशेषणों से युक्त विनय से युक्त होकर, क्रम का उल्लंघन न करके, आगम के अनुसार कृतिकर्म करना चाहिए ।

पूर्वगाथा में यद्यपि कृतिकर्म का लक्षण बता दिया था, फिर भी इस गाथा में विशेष रूप से कहा गया है अतः पुनरुक्त दोष नहीं है । क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों के संग्रह के लिए ऐसा कहा गया है । अर्थात् संक्षेप से समझने की बुद्धि वाले शिष्य पहली गाथा से स्पष्ट समझ लेगें, किन्तु विस्तार से समझने की बुद्धि वाले शिष्यों के लिए दोनों गाथाओं के द्वारा समझना सरल होगा—ऐसा जानना ॥१०१॥

---

१. क ०शुद्धया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कति दोषविप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति यत्पृष्टं तदर्थमाह—

अणाठिदं[1] च थद्धं च पविट्ठंपरिपीडिदं ।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छपरिंगियं ।।१०२।।

अनादृतं च स्तब्धश्च प्रविष्टः परिपीडितं ।
दोलायितमंकुशितस्तथा कच्छपरिंगितं ॥१०२॥

अणाढिमनादृत्तं विनादरेण संभ्रममंतरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमितियुच्यते । अनादृतनामा[2] दोषः । **थद्धं च** स्तब्धश्च विद्यादिगर्वेणोद्धतः सन् यः करोति क्रियाकर्म तस्य स्तब्धनाम[3] दोषः **पविट्ठं** प्रविष्टः पंचपरमष्ठिनामत्यासन्नो भूत्वा यः करोति कृतिकर्म तस्य प्रविष्टदोषः, **परिपीडिदं** परिपीडितं करजानुप्रदेशैः परिपीड्य संस्पर्श्य यः करोति वंदनां तस्य परिपीडितदोषः । **दोलायिदं**—दोलायितं दोलामिवात्मानं चलाचलं कृत्वा शयित्वा वा यो विदधाति वन्दनां

कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं अर्थात् आगे कहे गये **बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म** करना चाहिए ।

गाथार्थ—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीड़ित, दोलायित, कच्छपपरिंगित ।

आचारवृत्ति—वन्दना के समय जो कृतिकर्म प्रयोग होता है उसके अर्थात् वन्दना के बत्तीस दोष होते हैं, उन्हीं का क्रम से स्पष्टीकरण करते हैं—

१. अनादृत—बिना आदर के, बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म किया जाता है वह अनादृत कहलाता है । यह अनादृत नाम का पहला दोष है ।

२. स्तब्ध—विद्या आदि के गर्व से उद्धत-उद्दंड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष है ।

३. प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है ।

४. परिपीड़ित—हाथ से घुटनों को पीड़ितस्पर्श करके जो वन्दना करता है वह उसके परिपीड़ित दोष होता है ।

५. दोलायित—झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सोते हुए (या नींद से झूमते हुए) जो वन्दना करता है वह उसके दोलायित दोष होता है ।

---

१. ख ढिदं । २. क नाम दोषरूपं ।
३. क स्तब्धो ०नाम० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्य दोलायितदोषः **अंकुसियं** अंकुशितमंकुशमिव करांगुष्ठं ललाटदेशे कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्यांकुशितदोषः, तथा **कच्छपरिंगियं** कच्छपरिंगितं चेष्टितं कटिभागेन कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य कच्छपरिंगितदोषः ॥१०२॥

तथा—

मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआवद्धमेव य ।
भयसा चेव भयत्तं इड्ढिगारव गारवं ।।१०३।।

मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध मेव च ।
भयेन च विभ्यत्त्वं ऋद्धिगौरवं गौरवं ॥१०३॥

मत्स्योद्वर्त्तः पार्श्वद्वयेन वन्दनाकारणमथवा मत्स्यस्य इव कटिभागेनोद्वर्त्तं कृत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्य मत्स्योद्वर्त्तदोषः, मनसाचार्यादीनां दुष्टो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य मनोदुष्टदोषः । संक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वन्दनाकरणं, **वेदियावद्धमेव** य वेदिकाबद्ध एव च वेदिकाकारेण हस्ताभ्यां बंधो हस्तपंजरेण वामदक्षिणस्तनप्रदेशं प्रपीड्य जानुद्वयं वा प्रबद्ध्य वंदनाकरणं वेदिकाबद्धदोषः,

---

६. अंकुशित—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे को ललाट पर रखकर जो वन्दना करता है उसके अंकुशित दोष होता है ।

७. कच्छपपरिंगित—कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वन्दना करता है उसके कच्छपपरिंगित दोष होता है ।

गाथार्थ—मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत्त्व, ऋद्धिगौरव, गौरव ॥१०३॥

८. मत्स्योद्वर्त—दो पसवाड़ों से वन्दना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त दोष होता है ।

९. मनोदुष्ट—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वन्दना करता है अथवा संक्लेशयुक्त मन से जो वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है ।

१०. वेदिकावद्ध—वेदिका के आकार रूप से दोनों हाथों को बाँधकर हाथ पंजर से वाम-दक्षिण स्तन प्रदेश को पीड़ित करके या दोनों घुटनों को बाँध करके वन्दना करना वेदिकावद्ध दोष है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भयसा चेव भयेन चैव मरणादिभीतस्य भयसंत्रस्तस्य यद्वन्दनाकारणं भयदोषः **भयतो** विभ्यतो गुर्वादिभ्यो विभ्यतो भयं प्राप्नुवतः परमार्थात्परस्य वालस्वरूपस्य वन्दनाभिधानं विभ्यद्दोषः, **इड्डिगारव** ऋद्धिगौरवं वन्दनामकुर्वतो महापरिकरश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघो भक्तो भवत्येवमभिप्राणेय यो वन्दनां विदधाति तस्य ऋद्धिगौरवदोषः । **गारवं** गौरवं आत्मनो महात्म्यासनादिभिराविः कृत्य रससुखहेतोर्वा यो वन्दनां करोति गौरववन्दनादोषः ॥१०३॥

तथा—

तेणिदं[1] पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तथा ।
सद्दं च हीलिदं चावि [2]तह तिवलिद[3] कुंचिदं ॥१०४॥

स्तेनितं प्रतिनीतं चापि प्रदुष्टस्तर्जितं तथा ।
शब्दश्च हीलितं चापि तथा त्रिवलितं कुंचितं ॥१०४॥

तेणिदं स्तेनितं चौरबुद्ध्या यथा गर्वादयो न जानन्ति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तरं प्रविश्य वा परेषां वन्दनां चोरयित्वा यः करोति वन्दनादिकं तस्य स्ते-

---

११. **भय**—भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबड़ाकर वन्दना करना, भय दोष है ।

१२. **विभ्यत्व**—गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे बालकस्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वन्दना करना विभ्यत्व दोष है ।

१३. **ऋद्धिगौरव**—वन्दना को करने से महापरिकर वाला चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ मेरा भक्त हो जावेगा—इस अभिप्राय से जो वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव दोष होता है ।

१४. **गौरव**—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रगट करके या इस के सुख के लिए जो वन्दना करता है उसके गौरव नाम का दोष होता है ।

गाथार्थ—स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित ॥१०४॥

१५. **स्तेनित**—जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सकें ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वन्दना करना या अन्य जनों से आँखें चुराकर अर्थात् नहीं देख सकें ऐसे स्थान में वन्दना करना सो स्तेनित दोष है ।

---

१. ब. तिणिदं । २. क तहा ।
३. क ०दं तु कुं० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नितदोषः, **पडिणिदं** प्रतिनीतं प्रतिनीतं देवगुर्वादीनां प्रतिकूलो भूत्वा यो वन्दनां विदधाति तस्य प्रतिनीतदोषः, **पदुट्ठं** प्रदुष्टोऽन्यैः सह प्रद्वेषं वैरं कलहादिकं विधाय क्षन्तव्यमकृत्वा यः करोति क्रियाकलापं तस्य प्रदुष्टदोषः । **तज्जिदं** तर्जितं तथा अन्यांस्तर्जयन्नन्येषां भयमुत्पादयन्यदि वन्दनां करोति तदा तर्जित-दोषस्तस्याथवाऽचार्यादिभिरङ्गुल्यादिना तर्जिताः शासितो यदि 'नियमादिकं न करोषि निर्वासयामो भवन्त' मिति तर्जितो यः करोति तस्य तर्जितदोषः । **सद्दं च** शब्दं ब्रुवाणो यो वन्दनादिकं करोति मौनं च परित्यज्य तस्य शब्ददोषोऽथवा **सट्ठं चेति** पाठस्तत एवं ग्राह्यं शाठ्येन मायाप्रपंचेन यो वन्दनां करोति तस्य शाठ्यदोषः । **हीलिदं** हीलितं वचनेनाचार्यादीनां परिभवं कृत्वा यः करोति वन्दनां तस्य हीलितदोषः, **तह तिवलिदं** तथा त्रिविलिते शरीरस्य त्रिषु कटि-हृदयग्रीवाप्रदेशेषु भंगं कृत्वा ललाटदेशे वा त्रिविलं कृत्वा यों विदधाति वन्दनां

---

१६. **प्रतिनीत**—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वन्दना करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है ।

१७. **प्रदुष्ट**—अन्य के साथ प्रद्वेष वैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमा-भाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट दोष होता है ।

१८. **तर्जित**—अन्यों की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वन्दना करता है । अथवा आचार्य आदि के द्वारा अंगुली आदि से तर्जित-शासित-दंडित होता हुआ यदि वन्दना करता है अर्थात् 'यदि तुम नियमादिक नहीं करोगे तो तुम्हें (संघ से) निकाल देंगे ।' ऐसी आचार्यों की फटकार सुनकर जो वन्दना करता है उसके तर्जित दोष होता है ।

१९. **शब्द**—मौन छोड़कर शब्द बोलते हुए जो वन्दना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है । अथवा 'सट्ठं च' ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपंच से जो वन्दना करता है—उसके शाठ्य दोष होता है ।

२०. **हीलित**—वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वन्दना करता है उसके हीलित दोष होता है ।

२१. **त्रिवलित**—शरीर के कटि, हृदय और ग्रीवा—इन तीन स्थानों में भंग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गरदन को मोड़कर वन्दना करना या ललाट में त्रिवली-तीन सिकुड़न डालकर वन्दना करना सो त्रिवलित दोष है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्य त्रिवलितदोषः, **कुंचिदं** कुचितं कुंचितहस्ताभ्यां शिरः परामर्शं कुर्वन् यो वन्दनां विदधाति जानुमध्ययोर्वा शिरः कृत्वा संकुचितो भूत्वा यो वन्दनां करोति तस्य कुंचितदोषः ॥१०४॥

दिट्ठमदिट्ठं चावि य संघस्स करमोयणं ।
आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ॥१०५॥

दृष्टः अदृष्टश्चापि च संघस्य करमोचनं ।
आलब्धः अनालब्धश्च हीनमुत्तरचूलिका ॥१०५॥

दिट्ठं दृष्टं आचार्यादिभिर्दृष्टः सन् सम्यग्विधानेन वन्दनादिकं करोत्यन्यथा स्वेच्छयाऽथवा दिगवलोकनं कुर्वन् वन्दनादिकं यदि विदधाति तदा तस्य दृष्टो दोषः । **अदिट्ठं** अदृष्टं आचार्यादीनां दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेशं शरीरं चाप्रतिलेख्यातद्गतमनाः पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दना[1]दिकं करोति तस्यादृष्टदोषः, अपि च **संघस्स करमोयणं** संघस्य करमोचनं संघस्य मायाकरो वृष्टिर्दातव्योऽन्यथा न ममोपरि संघः शोभनः स्यादिति ज्ञात्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्य संघकर-

---

२२. **कुंचित**—संकुचित किए हाथों से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है या घुटनों के मध्य शिर को रखकर संकुचित होकर जो वन्दना करता है उसके संकुचित दोष होता है ।

गाथार्थ—दृष्ट, अदृष्ट, संघकर-मोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर चूलिका ॥१०५॥

२३. **दृष्ट**—आचार्यादि यदि देख रहे हैं तो सम्यक् विधान से वन्दना आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वन्दना करता है तो उसके दृष्ट दोष होता है ।

२४. **अदृष्ट**—आचार्य आदि को पृथक्-पृथक् न देखकर भूमिप्रदेश और शरीर का पिच्छी से परिमार्जन न करके, वन्दना की क्रिया और पाठ में उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश में—उनके पीठ पीछे होकर जो वन्दना करता है उसके अदृष्ट दोष होता है ।

२५. **संघकरमोचन**—संघ को मायाकार-वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति संघ शुभ नहीं रहेगा अर्थात् संघ रुष्ट हो जावेगा ऐसा समझ कर जो वन्दना आदि करता है उसके संघकर-मोचन दोष होता है ।

---

१. ग. वन्दनां विदधाति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोचनदोषः । **आलब्धमणालब्धं** उपकरणादिकं लब्ध्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्य लब्धदोषः । **अणालब्धं**—अनालब्धं उपकरणादिकं लप्स्येऽहमिति बुद्ध्या यः करोति वन्दनादिकं तस्यानालब्धदोषः । **हीणं** हीनं ग्रन्थार्थकालप्रमाणरहितां वन्दनां यः करोति तस्य हीनदोषः । **उत्तरचूलियं** उत्तरचूलिकां वन्दना स्तोकेन निर्वर्त्यं वन्दनायाश्चूलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्त्तकं कृत्वां यो वन्दनां विदधाति तस्योत्तरचूलिकादोषः ॥१०५॥

मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं ।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे ।।१०६।।

मूकश्च दर्दुरं चापि चुलुलितमपश्चिमं ।
द्वात्रिंशद्दोषविशुद्धं कृतिकर्म प्रयुंक्ते ॥१०६॥

---

२६. **आलब्ध**—उपकरण आदि प्राप्त करके जो वन्दना करता है उसके आलब्ध दोष होता है ।

२७. **अनालब्ध**—'उपकरणादि मुझे मिलें'—ऐसी बुद्धि से यदि वन्दना आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है ।

२८. **हीन**—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वन्दना करता है उसके हीन दोष होता है । अर्थात् वन्दना सम्बन्धी पाठ के शब्द जितने हैं उतने पढ़ना चाहिए, उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल में उनको पढ़ना है उतने काल में ही पढ़ना चाहिए । इनसे अतिरिक्त जो इन प्रमाणों को कम कर देता है या जल्दी-जल्दी पाठ पढ़ लेता है, उसके हीन दोष होता है ।

२९. **उत्तरचूलिका**—वन्दना का पाठ थोड़े ही काल में पढ़कर, वन्दना की चूलिका भूत की आलोचना आदि को बहुत काल तक पढ़ते हुए जो वन्दना करता है उसके उत्तरचूलिका दोष होता है । अर्थात् **'जयतु भगवान् हेमाम्भोज'** इत्यादि भक्तिपाठ जल्दी पढ़कर **'इच्छामि भंत्ते चेइय भत्ति'** इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंदगति से पढ़ना आदि उत्तरचूलिका दोष है ।

गाथार्थ—मूक, दर्दुर और चुलुलित—इस प्रकार साधु **इन बत्तीस दोषों** से विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं ॥१०६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूगं च मूकश्च मूक इव मुखमध्ये यः करोति वन्दनामथवा वन्दनां कुर्वन् हुंकारांगुल्यादिभिः संज्ञा च यः करोति तस्य मूकदोषः, **ददुरं** दर्दुरं आत्मीय-शब्देनान्येषां शब्दानभिभूय महाकलकलं वृहद्गलेन कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्य दर्दुरदोषः, **अवि चुलुलिदमपच्छिमं** अपि चुरुलितमपश्चिमं एकस्मिन्प्रदेशे स्थित्वा करमुकुलं संभ्राम्य सर्वेषां यो वन्दनां करोत्यथवा पञ्चमादिस्वरेण यो वन्दनां करोति तस्य चुरुलितदोषो भवत्यपश्चिमः ।

एतैर्द्वात्रिंशद्दोषैः परिशुद्धं विमुक्तं यदि कृतिकर्म प्रयुंक्ते करोति साधुस्ततो विपुलनिर्जराभागी भवति ॥१०६॥

यदि पुनरेवं करोति तदा—

किदियम्मं पि करंतो ण होदि किदियम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो[1] ॥१०७॥

कृतिकर्मापि कुर्वन् न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी ।
द्वात्रिंशतामन्यतरं साधुः स्थानं विराधयन् ॥१०७॥

---

३०. **मूक**—गूंगे के समान मुख में ही जो वन्दना का पाठ बोलता है अथवा वन्दना करने में 'हुंकार' आदि शब्द करते हुए या अंगुली आदि से इशारा करते हुए जो वन्दना करता है उसके मूक दोष है ।

३१. **दर्दुर**—अपने शब्दों से दूसरों के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वन्दना करता है उसके दर्दुर दोष होता है ।

३२. **चुलुलित**—एक प्रदेश में खड़े होकर मुकुलित अंगुलि को घुमाकर जो सभी की वन्दना कर लेता है या जो पंचम आदि स्वर से वन्दना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है ।

यदि साधु इन **बत्तीस दोषों** से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता है–वन्दना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा का भागी बनता है ॥१०२-१०६॥

यदि पुनः ऐसा करता है तो—

गाथार्थ—इन बत्तीस स्थानों में से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म को करते हुए भी कृतिकर्म से होने वाली निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है ॥१०७॥

---

१. अ. ब. विराधंतो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृतिकर्म कुर्वन्नपि न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी कृतिकर्मणा या कर्मनिर्जरा तस्याः स्वामी न स्यात्, यदि द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरं स्थानं दोष[१] निवारयन्नाचरन् क्रियाकर्म कुर्यात्साधुरिति । अथवा द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्तरेण दोषेण स्थानं कायोत्सर्गादिवन्दनां विराधयन्कुर्वीतेति ॥१०७॥

कथं तर्हि वन्दना कुर्वीत साधुरित्याह—

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो ।
जाचेंतो[२] वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू ॥१०८॥

हस्तांतरे अनावाधे संस्पर्शप्रमार्जनं प्रयुंजानः ।
याचमानो वंदनां इच्छाकारं करोति भिक्षुः ॥१०८॥

हस्तान्तरेण हस्तमात्रान्तरेण यश्च करोति तयोरन्तरं हस्तमात्रं भवेत् तस्मिन् हस्तान्तरे स्थित्वा **अणावाधेऽनाबाधे** बाधामन्तरेण **संफासपमज्जणं** स्वस्य देहस्य

आचारवृत्ति—इन बत्तीस दोषों में से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करता है तो कृतिकर्म को करते हुए भी उस कृतिकर्म के द्वारा होने वाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है । अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग आदि क्रियारूप वन्दना की विराधना कर देता है ॥१०७॥

तो फिर साधु किस प्रकार वन्दना करे ?

गाथार्थ—बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वन्दना की याचना करके वन्दना करता है ॥१०८॥

आचारवृत्ति—जिसकी वन्दना की है और जो वन्दना करता है—उन दोनों में से एक हाथ का अन्तर रखकर (गुरु या देव आदि की) अर्थात् वन्दना के समय उनसे एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर उनको बाधा न करते हुए वन्दना करे । अपने शरीर का स्पर्श और प्रमार्जन अर्थात् कटि, गुह्य आदि प्रदेशों का पिच्छिका से स्पर्श व प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि को करता हुआ प्रकर्ष रीति से वन्दना की याचना करे । अर्थात् 'हे भगवान् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' इस प्रकार याचना-प्रार्थना करके साधु इच्छाकार-वन्दना और प्रणाम करता है ।

साधु को इन बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं । उन गुणों सहित, यत्न में तत्पर हुआ मुनि वन्दना करे ।

---

१. क. ग. ०दोषं विराधयन्० । २. ब. जाएंतो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्शः संस्पर्शनं कटिगुह्यादिकं च तस्य प्रमार्जनं प्रतिलेखनं शुद्धिं **पउंजंतो** प्रयुंजानः प्रकर्षेण कुर्वन् **जाचेंतो वंदणयं** वन्दनां च याचमानो **'भवद्भ्यो वन्दनां विदधामि'** इति याञ्चां कुर्वन्निच्छाकारं वन्दना प्रमाणं करोति भिक्षुः साधुरेवं द्वात्रिंशद्दोषपरिहारेण तावत् द्वात्रिंशद् गुणा भवंति ।

तस्माद्यत्नपरेण हास्यभयासादनारागद्वेषगौरवालस्यमदलोभस्तेनभावप्रातिकूल्यवालत्वोपरोधहीनाधिकभावशरीरपरामर्शवचनभृकुटिकरणषाट्करणादिवर्जनपरेण देवतादिगतमानसेन विवर्जितकार्यान्तरेण विशुद्धमनोवचनकाययोगेन मौनपरेण वन्दना, करणीया वन्दनाकारकेणेति ॥१०८॥

यस्य क्रियते वन्दना तेन कथं प्रत्येषितव्येत्याह—

तेण च पडिच्छिदव्वं गारवरहिएण सुद्धभावेण ।
किदियम्मकारकस्सवि संवेगं संजणंतेण ।।१०९।।

तेन च प्रत्येषितव्यं गर्वरहितेन शुद्धभावेन ।
कृतिकर्मकारकस्यापि संवेगं संजनयता ॥१०९॥

तेण च तेनाचार्येण **पडिच्छिदव्वं** प्रत्येषितव्यमभ्युगन्तव्यं गौरवरहितेन [1]ऋद्धिवीर्यादिगारवरहितेन कृतिकर्मकारकस्य वन्दनायाः कर्तुरपि संवेगधर्मेधर्मफले[2] च हर्षं संजनयता सम्यग्विधानेन कारयता शुद्धपरिणामवता वन्दनाऽभ्युपगन्तव्येति ॥१०९॥

हास्य, भय, आसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्यभाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध—दूसरों को रोकना, हीन या अधिक पाठ बोलना, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढ़ाना, खात्कार-खांसना, खखारना इत्यादि दोषों को छोड़कर वन्दना करे । जिनकी वन्दना कर रहे हैं ऐसे देव या गुरु आदि में अपने मन को लगा-कर अर्थात् उनके गुणों में अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य कार्यों को छोड़कर वन्दना करने वाले को विशुद्ध मन-वचन-काय के द्वारा मौनपूर्वक वन्दना करना चाहिए ॥१०८॥

जिनकी वन्दना की जाती है, वे वन्दना को किस प्रकार से स्वीकार करें ? इस सम्बन्ध में कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करने वाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्वरहित शुद्ध भाव से वन्दना स्वीकार करें ॥१०९॥

---

१. ग. ऋद्धिरससात । २. ग. धर्मेऽधर्मफले ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वन्दनानिर्युक्तिं संक्षेपयन् प्रतिक्रमणे निर्युक्तिं सूचयन्नाह—

वंदणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण ।
पडिक्कमणणिज्जुत्ती पुणो एतो उड्डं पवक्खामि ।।११०।।

वंदनानिर्युक्तिः पुनः एषा कथिता मया समासेन ।
प्रतिक्रमणनिर्युक्तिं पुनः इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥११०॥

वन्दनानिर्युक्तिरेषा पुनः कथिता मया संक्षेपेण प्रतिक्रमणनिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं वक्ष्य इति ॥११०॥

तां निक्षेपस्वरूपेणाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।।१११।।

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालस्तथैव भावश्च ।
एष प्रतिक्रमणके निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥१११॥

नामप्रतिक्रमणं पापहेतु[१] नामातीचारान्निवर्त्तनं प्रतिक्रमणदंडकगत-शब्दोच्चारणं वा, सरागस्थापनाभ्यः परिणामनिवर्त्तनं स्थापनाप्रतिक्रमणम् ।

आचारवृत्ति—शुद्ध परिणाम वाले ये आचार्य ऋद्धि और वीर्य आदि के गर्व से रहित होकर वन्दना करने वाले मुनि को धर्म और धर्म के फल में हर्ष उत्पन्न करते हुए उसके द्वारा की गई वन्दना को स्वीकार करें ॥१०९॥

वन्दना-निर्युक्ति को संक्षिप्त करके अब आचार्य **प्रतिक्रमण-निर्युक्ति** को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह वन्दना-निर्युक्ति कही है अब इसके बाद प्रतिक्रमण निर्युक्ति को कहूँगा ॥११०॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार मेरे द्वारा वन्दना निर्युक्ति का संक्षेप में कथन किया गया है । अब आगे प्रतिक्रमण निर्युक्ति कहता हूँ ॥११०॥

उस **प्रतिक्रमण निर्युक्ति** को निक्षेप स्वरूप से कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिक्रमण में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥१११॥

आचारवृत्ति—पाप के कारणभूत नामों से हुए अतिचारों से दूर होना या प्रतिक्रमण के दण्डकरूप *शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है ।*

---

१. क ०तु अतीचारनाम्नो निव० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सावद्यद्रव्यसेवाया: परिणामस्य निवर्त्तनं द्रव्यप्रतिक्रमणम् । क्षेत्राश्रितातिचारान्निवर्त्तनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं, कालमाश्रितातीचारान्निवृत्ति: कालप्रतिक्रमणं, रागद्वेषाद्याश्रितातीचारान्निवर्त्तनं भावप्रतिक्रमणमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारनिवृत्तिविषय: प्रतिक्रमणे निक्षेप: षड्विधो ज्ञातव्य इति ।

अथवा नाम प्रतिक्रमणं नाममात्रं, प्रतिक्रमणपरिणतस्य प्रतिविंबस्थापना स्थापनाप्रतिक्रमणं, प्रतिक्रमणप्राभृतज्ञोप्यनुपयुक्त[1] आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं, तच्छरीरादिकं नोआगमद्रव्यप्रतिक्रमणमित्येवमादि पूर्ववद् द्रष्टव्यमिति ॥१११॥

प्रतिक्रमणभेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं ।
पक्खियं चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥११२॥

प्रतिक्रमणं दैवसिकं रात्रिकं ऐर्यापथिकं च बोद्धव्यं ।
पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरमुत्तमार्थम् ॥११२॥

सराग स्थापना से (सराग मूर्तियों से या अन्य आकारों से) परिणाम का हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है । सावद्य–पाप कारक द्रव्यों के सेवन से परिणाम को निवृत्त करना द्रव्य प्रतिक्रमण है । क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारों से दूर होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है । काल के आश्रय से हुए अतिचारों से दूर होना काल प्रतिक्रमण है । राग-द्वेष आदि भावों के आश्रय से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है । इस तरह प्रतिक्रमण में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ।

अथवा नाममात्र को नाम-प्रतिक्रमण कहते हैं । प्रतिक्रमण में परिणत हुए के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना स्थापना-प्रतिक्रमण है । प्रतिक्रमण शास्त्र का जानने वाला तो है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है तो वह आगम-द्रव्य-प्रतिक्रमण है, उसके शरीर आदि नो-आगम द्रव्य प्रतिक्रमण हैं । इत्यादि रूप से अन्य और भेद पूर्ववत् समझने चाहिए ॥१११॥

प्रतिक्रमण के भेद कहते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ—इन सात भेद रूप प्रतिक्रमण जानना चाहिए ॥११२॥

---

१. ग. प्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमणं कृतकारितानुमतातिचारान्निवर्त्तनं, दिवसे भवं दैवसिकं दिवसमध्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः शोधनं, तथा रात्रौ भवं रात्रिकं रात्रिविषयस्य षड्विधातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य त्रिविधेन निरसनं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं षड्जीवनिकायविषयातीचारस्य निरसनं ज्ञातव्यं ।

पक्षे भवं पाक्षिकं पञ्चदशाहोरात्रविषयस्य षड्विधनामादिकारणस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः परिशोधनं, चतुर्मासेषुभवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकम् ।

आचारवृत्ति—कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतीचार को दूर करना प्रतिक्रमण है । इसके सात भेद हैं । उन्हीं को क्रम से दिखाते हैं ।

१. **दैवसिक**—दिवस में हुए दोषों का प्रतिक्रमण दैवसिक है । दिवस के मध्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से कृत, कारित और अनुमोदना रूप जो अतिचार हुए हैं उनका मन-वचन-काय से शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है ।

२. **रात्रिक**—रात्रि सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण रात्रिक है अर्थात् रात्रि विषयक अतीचार, जो कि कृत, कारित व अनुमोदना से किए गये हैं एवं नाम स्थापना आदि छह निमित्तों से हुए हैं, उनका मन-वचन-काय से निरसन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है ।

३. **ऐर्यापथिक**—ईर्यापथ सम्बन्धी प्रतिक्रमण अर्थात् ईर्यापथ से चलते हुए मार्ग में छह जीव निकाय के विषय में जो अतिचार हुआ है उसको दूर करना ऐर्यापथिक है ।

४. **पाक्षिक**—पक्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण, पन्द्रह अहोरात्र विषयक जो दोष हुए हैं, जो कि कृत, कारित और अनुमोदना से एवं नाम आदि छह के आश्रय से हुए हैं उनका मन-वचन-काय से शोधन करना सो पाक्षिक प्रतिक्रमण है ।

५. **चातुर्मासिक**—चार महीने सम्बन्धी प्रतिक्रमण ।

६. **सांवत्सरिक**—एक वर्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण ।

चातुर्मास के मध्य और संवत्सर के मध्य हुए अतीचार जो कि नाम, स्थापना आदि छह कारणों से अथवा बहुत से भेदों से सहित और कृत, कारित और अनुमोदना से होते हैं उनको मन वचन काय से दूर करना सो चातुर्मासिक और वार्षिक कहलाते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्मासमध्ये संवत्सरमध्ये नामादिभेदेन षड्विधस्यातीचारस्य बहुभेद-भिन्नस्य वा, कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः निरसनं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं यावज्जीवं चतुर्विधाहारस्य परित्यागः सर्वातिचारप्रतिक्रमणस्यात्रान्तर्भावो द्रष्टव्यः, [1]एवं प्रतिक्रमणसप्तकं द्रष्टव्यम् ॥११२॥

पुनरप्यन्येन प्रकारेण भेदं प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि [2]तिण्हंपि ॥११३॥

प्रतिक्रामकः प्रतिक्रमणं प्रतिक्रमितव्यं च भवति ज्ञातव्यं ।
एतेषां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति त्रयाणामपि ॥११३॥

प्रतिक्रामति कृतदोषाद्विरमतीति प्रतिक्रामकः, अथवा दोषनिर्हरणे प्रवर्तते अविघ्नेन प्रतिक्रमत इति प्रतिक्रामकः, पञ्चमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरण-

---

७. **उत्तमार्थ**—उत्तम-अर्थ-प्रयोजन (सल्लेखना) से सम्बन्धित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरणान्त समय जो सल्लेखना ली जाती है उसी में चार प्रकार के आहार का त्याग करके दीक्षित जीवन के सर्वदोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है ।

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । इस तरह प्रतिक्रमण के सात भेद जानना चाहिए ॥११२॥

पुनरपि अन्य प्रकार से भेदपूर्वक प्रतिक्रमण कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण (त्याग) करने योग्य वस्तु को जानना चाहिए । इन तीनों में प्रत्येक की भी अलग-अलग प्ररूपणा करते हैं ॥११३॥

आचारवृत्ति—जो प्रतिक्रमण करता है अर्थात् किए हुए दोषों से विरत होता है—उनसे अपने को हटाता है वह प्रतिक्रामक है । अथवा जो दोषों को दूर करने में प्रवृत्त होता है, निर्विघ्नरूप से प्रतिक्रमण करता है वह प्रतिक्रामक है, वह साधु पाँच महाव्रत आदि को श्रवण करने, उनको धारण करने और उनके दोषों

---

१. क एवं सप्त प्रकारं प्रतिक्रमणं द्रष्टव्यम्० ।
२. क ०होदि कादव्वा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्पर:,प्रतिक्रमणं पञ्चमहाव्रताद्यतीचारविरतिर्व्रतशुद्धिनिमित्ताक्षरमाला वा, प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं च परित्याज्यं मिथ्यात्वाद्यतीचाररूपं भवति ज्ञातव्यं, एतेषां त्रयाणां प्रत्येकमेकमेकं प्रति प्ररूपणाप्रतिपादनं भवति ॥११३॥

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
पडिगच्छदि जेण [1]जह्मि तं तस्स भवे पडिक्कमणं ।।११४।।

जीवस्तु प्रतिक्रामक: द्रव्ये क्षेत्रे च काल-भावे च ।
प्रतिगच्छति येन यस्मिन् तत्तस्य भवेत् प्रतिक्रमणं ॥११४॥

जीवस्तु प्रतिक्रामक: दोषद्वारागतकर्मविक्षपणशीलो जीवश्चेतनालक्षण: । क प्रतिक्रामक: ? द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये, द्रव्यमाहारपुस्तकभेषजोपकरणादिकं, क्षेत्रं शयनासनस्थानचंक्रमणादिविषयो भूभागोऽगुलवितस्तिहस्तधनु: क्रोशयोजनादिप्रमित:, काल: घटिकामुहूर्तसमयलवदिवसरात्रिपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरसंध्यापर्वादि:, भाव: परिणामरागद्वेषादिमदादिलक्षण: ।

को दूर करने में तत्पर रहता है, वह प्रतिक्रामक है । पाँच महाव्रत आदि में हुए अतीचारों से विरति अथवा व्रतशुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह (अक्षरमाला) अर्थात् प्रतिक्रमण-पाठ, प्रतिक्रमण है । मिथ्यात्व, असंयम आदि अतीचाररूप **द्रव्य** त्याग करने योग्य हैं इन्हें ही प्रतिक्रमितव्य कहते हैं । आगे इन तीनों का पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं ॥११३॥

उन्हीं तीनों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जीव प्रतिक्रामक होता है । जिसके द्वारा, जिसमें वापस आता है उसका प्रतिक्रमण है ॥११४॥

आचारवृत्ति—जीव चेतना लक्षण वाला है । जो दोषों द्वारा आए हुए कर्म को दूर करने के स्वभाव वाला है वह प्रतिक्रामक है ।

किस विषय में प्रतिक्रमण करने वाला होता है ? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में प्रतिक्रमण करने वाला है । आहार, पुस्तक, औषध और उपकरण आदि **द्रव्य** हैं । सोने, बैठने, खड़े होने, गमन करने आदि विषयक भूमिप्रदेश **क्षेत्र** है । जो कि अंगुल, वितस्ति, हाथ, कोश, योजन आदि से परिमित होता है । घड़ी, मुहूर्त, समय, लव, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, संध्या और पर्वादि दिवस—ये सब **काल** हैं । राग, द्वेष, मद आदि लक्षण परिणाम **भाव** हैं ।

---

१. क जाहिं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एतद्विषयादतिचारान्निवर्त्तनपरो जीवः प्रतिक्रामक इत्युच्यते ज्ञेयाकारवहिर्व्यावृत्तरूपः, अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयादतिचारात्प्रतिगच्छति निवर्त्तते स प्रतिक्रामकोऽथवा येन परिणामेनाक्षरकदंबकेन वा प्रतिगच्छति पुनर्याति यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वस्वरूपे यस्मिन् वा जीवे पूर्वव्रतशुद्धिपरिणतेऽतीचारं परिभूतं स परिणामोऽक्षरसमूहो[१] वा तस्य व्रतस्य तस्य वा व्रतशुद्धिपरिणतस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमणम् ।

व्रतविषयमतीचारं येन परिणामेन प्रक्षाल्य प्रतिगच्छति पूर्वव्रतशुद्धौ स परिणामस्तस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमणमिति । मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं द्रव्यक्षेत्रकालभावमाश्रित्य प्रतिक्रमणमिति वा ॥११४॥

प्रतिक्रमितव्यं तस्य स्वरूपमाह—

पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं तिविहं ।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालह्मि ।।११५।।

इन द्रव्य आदि विषयक अतिचार से निवृत्त होने वाला जीव प्रतिक्रामक कहलाता है । अर्थात् ज्ञेयाकार से परिणत होकर बाह्य द्रव्य, क्षेत्रादि से पृथक् रहने वाला अतिचारों से हटने वाला आत्मा प्रतिक्रामक है । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निमित्तक अतिचारों से जो वापस आता है वह प्रतिक्रामक है ।

जिन परिणामों से या जिन अक्षर समूहों से यह जीव जिस व्रतशुद्धि पूर्वक अपने स्वरूप में वापस आ जाता है, अथवा पूर्व के व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव में वापस आ जाता है, अतीचार को तिरस्कृत करने रूप वह परिणाम अथवा वह अक्षर समूह उस व्रत के अथवा व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव का प्रतिक्रमण है । अर्थात् व्रतशुद्धि के परिणाम या प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक प्रतिक्रमण कहलाते हैं ।

यह जीव जिन परिणामों से व्रतों में हुए अतिचारों का प्रक्षालन करके पुनः पूर्व के व्रत की शुद्धि में वापस आ जाता है अर्थात् उसके व्रत पूर्ववत् निर्दोष हो जाते हैं वह परिणाम उस जीव का प्रतिक्रमण है । अथवा **'मिथ्या मे दुष्कृतं'** इस शब्द से अभिव्यक्त है प्रतिक्रिया जिसकी ऐसा वह प्रतिक्रमण होता है, जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होता है ॥११४॥

प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र—ये तीन प्रकार का द्रव्य, गृह आदि क्षेत्र, दिवस आदि समय रूप काल प्रतिक्रमण करने योग्य है ॥११५॥

---

१. क ०हो वा तस्य वा व्रतशुद्धि० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमितव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं त्रिविधं ।
क्षेत्रं च गृहादिकं कालः दिवसादिकाले ॥११५॥

प्रतिक्रमितव्यं परित्यजनीयं । किं तत् ? द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिविधं । सह चित्तेन वर्तत[1] इति सचित्तं द्विपदचतुष्पदाद्यचित्तं सुवर्णरूप्यलोहादि-मिश्रं वस्त्रादियुक्तद्विपदादि । तथा क्षेत्रं गृहपत्तनकूपवाप्यादिकं प्रतिक्रमितव्यं तथा कालो दिवसमुहूर्तरात्रिवर्षाकालादिः प्रतिक्रमितव्यः । येन द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन वा पापागमो भवति तत् द्रव्यं तत् क्षेत्रं स कालः परिहरणीयः. द्रव्यक्षेत्रकालाश्रितदोषाभाव इत्यर्थः ।

काले च प्रतिक्रमितव्यं यस्मिन् काले च प्रतिक्रमणमुक्तं तस्मिन् काले कर्तव्यमिति, अथवा कालेऽष्टमीचतुर्दशीनंदीश्वरादिके द्रव्यं क्षेत्रं प्रतिक्रमितव्यं कालश्च दिवसादिः प्रतिक्रमितव्य उपवासादिरूपेण, अथवा 'भावो हि' पाठान्तरं भावश्च प्रतिक्रमितव्य इति । अप्रासुकद्रव्यक्षेत्रकालभावास्त्याज्यास्तद्द्वारेणातीचाराश्च परिहरणीया इति ॥११५॥

आचारवृत्ति—त्याग करने योग्य को प्रतिक्रमितव्य कहते हैं । वह क्या है ? सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का जो द्रव्य है, वह त्याग करने योग्य है । द्विपद-दास-दासी आदि और चतुष्पद, गाय, भैंस आदि ये सचेतन पदार्थ सचित्त हैं । सोना, चाँदी, लोहा आदि पदार्थ अचित्त हैं, और वस्त्रादि युक्त मनुष्य, नौकर, चाकर आदि मिश्र हैं । ये तीनों प्रकार के द्रव्य त्याग करने योग्य हैं ।

गृह, पत्तन, कूप, बावड़ी आदि क्षेत्र त्यागने योग्य हैं । मुहूर्त, दिन, रात, वर्षाकाल आदि काल त्यागने योग्य हैं । अर्थात् जिन द्रव्यों से जिन क्षेत्रों और जिन कालों से पाप का आगमन होता है वे द्रव्य, क्षेत्र, काल छोड़ने योग्य हैं । अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रित होने वाले दोषों का निराकरण करना चाहिए ।

काल में प्रतिक्रमण का अभिप्राय यह है कि जिस काल में प्रतिक्रमण करना आगम में कहा गया है उस काल में करना । अथवा काल में–अष्टमी, चतुर्दशी, नंदीश्वर आदि काल में द्रव्य का, क्षेत्र का प्रतिक्रमण करना और दिवस आदि काल का भी उपवास आदि रूप से प्रतिक्रमण करना अथवा 'भावो हि' ऐसा पाठान्तर भी है । उसके आधार से 'भाव का प्रतिक्रमण करना चाहिए' ऐसा अर्थ होता है । तात्पर्य यह हुआ कि अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव त्याग करने योग्य हैं और उनके द्वारा होने वाले अतिचार भी त्याग करने योग्य है ॥११५॥

---

१. ग. चित्तेन चैतन्येन वर्त्तत ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावप्रतिक्रमणमाह—

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ।।११६।।

मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं तथा चैव असंयमे प्रतिक्रमणं ।
कषायेषु प्रतिक्रमणं योगेषु च अप्रशस्तेषु ॥११६॥

मिथ्यात्वस्य प्रतिक्रमणं त्यागस्तद्विषयदोषनिर्हरणं तथैवासंयमस्य प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारपरिहारः । कषायाणां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारशुद्धिकरणं । योगानामप्रशस्तानां प्रतिक्रमणं मनोवाक्कायविषयाव्रतातीचारनिवर्त्तनमित्येवं भावप्रतिक्रमणमिति ॥११६॥

आलोचनापूर्वकं यतोऽत आलोचनास्वरूपमाह—

काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो ।
आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण ।।११७।।

कृत्वा च कृतिकर्म प्रतिलेख्य अंजलीकरणशुद्धः ।
आलोचयेत् सुविहितः गौरवं मानं च मुक्त्वा ॥११७॥

भावप्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण तथा असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण—यह भावप्रतिक्रमण है ॥११६॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व सम्बन्धी दोष का प्रतिक्रमण (त्याग) करना अर्थात् उस विषयक दोष को दूर करना, उसी प्रकार के असंयम का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचार का परिहार करना, क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचारों को शुद्ध करना, अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण अर्थात् मनवचनकाय रूप योग से हुए अतीचारों से निवृत्त होना, इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग सम्बन्धी अतिचारों का त्याग—यह सब भावप्रतिक्रमण है ।११६॥

आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण होता है अतः आलोचना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करके, तथा पिच्छी से परिमार्जना कर, अंजली जोड़कर शुद्ध हुआ गारव और मान को छोड़कर समाधान चित्त हुआ साधु आलोचना करें ॥११७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृतिकर्म विनयं सिद्धभक्तिश्रुतभक्त्यादिकं कृत्वा पूर्वापरशरीरभागं स्वोपवेशनस्थानं च प्रतिलेख्य सम्मार्ज्य पिच्छिकया चक्षुषा चाथवा चारित्रातीचारान् सम्यङ्निरूप्याञ्जलिकरणशुद्धललाटपट्टविन्यस्तकरकुड्मलक्रियाशुद्ध एवमालोचयेत् गुरवेऽपराधान्निवेदयेत् सुविहितः सुचरितः स्वच्छवृत्तिः ऋद्धिगौरवं रसगौरवं मानं[1] च जात्यादिमदं मुक्त्वा परित्यज्यैवं गुरवे स्वव्रतातीचारान्निवेदयेदिति ॥११७॥

आलोचनाप्रकारमाह—

आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियापथं[2] च बोद्धव्वं ।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥११८॥

आलोचनं दैवसिकं रात्रिकं ईर्यापथं च बोधव्यं ।
पाक्षिकं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकमुत्तमार्थं च ॥११८॥

आलोचनं गुरुवेऽपराधनिवेदनं अर्हद्भट्टारकस्याग्रतः स्वापराधाविष्करणं वा स्वचित्तेऽपराधानामनवगूहनं, दिवसे भवं दैवसिकं, रात्रौ भवं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं बोद्धव्यं । पक्षे भवं पाक्षिकं, चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं च दिवसरात्रीर्यापथपक्षचतुर्मास-

---

आचारवृत्ति—कृतिकर्म पूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति आदि विनय करके अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देखकर और पिच्छी से परिमार्जित (प्रतिलेख्य) करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अंजलि जोड़े ललाट पट्ट पर अंजलि जोड़कर रखे, पुनः ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातगौरव और मान अर्थात् जाति आदि आठ प्रकार के मद को छोड़कर स्वच्छवृत्ति होता हुआ गुरु के पास अपने व्रतों के अतिचारों को निवेदित करे ॥११७॥

आलोचना के सात भेद कहते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ—यह सात तरह की आलोचना जाननी चाहिए ॥११८॥

आचारवृत्ति—गुरु के पास अपने अपराध का निवेदन करना अथवा अर्हंत भट्टारक के आगे अपने अपराधों से प्रकट करना अर्थात् अपने चित्त में अपराधों को नहीं छिपाना यह आलोचना है । यह भी दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ—ऐसी सात भेदरूप है ।

---

१. ग. रसगारवं सातगारवं मानं च । २. क ०यवाहं च ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवत्सरोत्तमार्थविषयजातापराधानां गुर्वादिभ्यो निवेदनं सप्तप्रकारमालोचनं वेदितव्यमिति ॥११८॥*

आलोचनीयमाह—

अणाभोगकिदं[1] कम्मं जं किंवि मणसा कदं ।
तं सव्वं आलोचेज्जहु[2] अव्वाखित्तेण चेदसा ।।११९।।

अनाभोगकृतं कर्म यत् किमपि मनसा कृतं ।
तत् सर्वं आलोचयेत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥११९॥

आभोग: सर्वजनपरिज्ञातव्रतातीचारोऽनाभोगो न परैर्ज्ञातस्तस्मादनाभोगकृतं कर्माऽऽभोगमन्तरेण कृतातीचारस्तथाभोगकृतश्चातीचारश्च तथा यत्किञ्चिन्मनसा च कृतं कर्म तथा कायवचनकृतं च तत्सर्वमालोचयेत् यत्किञ्चिदनाभोगकृतं कर्माभोगकृतं कायवाङ्मनोभि: कृतं च पापं तत्सर्वमव्याक्षिप्तचेतसाऽनाकु[3]लितचेतसाऽऽलोचयेदिति ॥११९॥

अर्थात् दिवस, रात्रिक, ईर्यापथ, चातुर्मास, वर्ष और उत्तमार्थ—इनके, इन विषयक हुए अपराधों को गुरु आदि के समक्ष सात प्रकार की निवेदन रूप आलोचना होती है ॥११८॥

आलोचना करने योग्य क्या है ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मन के द्वारा कृत अनाभोगकर्म है, मुनि विक्षेप रहित चित्त से उन सबकी आलोचना करें ॥११९॥

आचारवृत्ति—सभी जनों के द्वारा जाने गए व्रतों के अतीचार आभोग हैं और जो अतीचार पर (दूसरे) के द्वारा अज्ञात हैं वह अनाभोग हैं । यह अनाभोगवृत कर्म और आभोगवृत्त भी कर्म तथा मन से किया गया दोष, वचन, और काय से भी किया गया दोष—ऐसा जो कुछ भी दोष है, अर्थात् अपने व्रतों के अतिचारों के चाहे दूसरे जान चुके हों या नहीं जानते हों ऐसे आभोगकृत

---

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार की प्रति में अधिक है—
आलोचिय अवराहं ठिदिओ सुद्धो तुट्ठमणो ।
पुणरवि तमेव जुज्जइ तोसत्थं होइ पुणरुत्तं ।।
अर्थ—खड़े होकर गुरु के समीप अपराधों का निवेदन करके मैं शुद्ध हुआ—ऐसा समझकर जो आनन्दित हुआ है, ऐसा वह आलोचक यदि पुन: आनन्द के लिए उसी दोष की आलोचना करता है तो वह आलोचना पुनरुक्त होती है ।

---

१. अ. ब. कदं । २. क ०आलोचज्जाहु ।
३. क ०कुलचित्तेनवालो० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोचनापर्यायनामान्याह—

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु ।
आलोचदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ।।१२०।।

आलोचनमालुंचनं विकृतिकरणं च भावशुद्धिस्तु ।
आलोचिते आराधना अनालोचने भाज्या ॥१२०॥

आलोचनमालुंचनमपनयनं विकृतीकरणमाविष्करणं भावशुद्धिश्चेत्येकोऽर्थः ।

अथ किमर्थमालोचनं क्रियत इत्याशंकायामाह—यस्मादालोचिते चरित्राचारपूर्वकेण गुरवे निवेदिते चेति आराधना सम्यग्यदर्शनज्ञानचारित्रशुद्धिरनालोचने पुनर्दोषाणामनाविष्करणे पुनर्भाज्याऽऽराधना तस्मादालोचयितव्यमिति ॥१२०॥

आलोचने कालहरणं न कर्त्तव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

उप्पण्णो उप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा ।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं ।।१२१।।

दोष और अनाभोग दोष तथा मन-वचन-काय से हुए जो भी दोष हुए हैं, साधु अनाकुल चित्त होकर उन सबकी आलोचना करें ॥११९॥

आलोचना के पर्यायवाची नाम को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, आलुंचन, विकृतिकरण और भावशुद्धि—ये एकार्थवाची हैं । आलोचना करने पर आराधना होती है और आलोचना नहीं करने पर विकल्प है ॥१२०॥

आचारवृत्ति—आलोचना और आलुंचन इन दो शब्दों का अर्थ अपनयन अर्थात् दूर करना है, विकृतीकरण का अर्थ दोष प्रकट करना है तथा भावशुद्धि—ये चारों ही शब्द एक अर्थ को कहने वाले हैं ।

किसलिए आलोचना की जाती है ? गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों की आलोचना कर देने पर सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है । तथा दोषों को प्रकट न करने से पुनः वह आराधना वैकल्पिक है अर्थात् हो भी, न भी हो, इसलिए आलोचना करनी चाहिए ॥१२०॥

आलोचना करने में काल क्षेप नहीं करना चाहिए, इस बात को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे उत्पन्न हुई माया अर्थात् व्रतादिक में अतिचार है उसको उसी क्रम से उसी काल में नष्ट कर देना चाहिए । आलोचना, निंदन और गर्हण करने में पुनः तीसरा या दूसरा दिन नहीं करना चाहिए ॥१२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न उत्पन्ना माया अनुपूर्व्वशो निहंतव्या ।
आलोचननिंदनगर्हणे न पुनः तृतीयं द्वितीयं ॥१२१॥

उत्पन्नोत्पन्ना यथा संजाता माया व्रतद्यतीचारोऽनुपूर्वशोनुक्रमेण यस्मिन् काले यस्मिन् क्षेत्रे यद् द्रव्यमाश्रित्य येन भावेन तेनैव क्रमेण कौटिल्यं परित्यज्य निहन्तव्या परिशोध्या यस्मादालोचने गुरवे दोषनिवेदने निंदने परेष्वाविष्करणे गर्हणे आत्मजुगुप्सने कर्त्तव्ये पुनर्द्वितीयं पुनर्न करिष्यामीत्यथवा न पुनस्तृतीयं दिनं द्वितीयं वा द्वितीयदिवसे तृतीयदिवसे आलोचयिष्यामीति न चिंतनीयं यस्माद्-**गतमपि कालं न जानंतीति** भावार्थस्तस्माच्छीघ्रमालोचयितव्यमिति ॥१२१॥

यस्मात्—

आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाए ।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदो भणिअं ।।१२२।।

आलोचननिंदनगर्हणैः अभ्युत्थितश्च करणे ।
तत् भावप्रतिक्रमणं शेषं पुनः द्रव्यतो भणितं ॥१२२॥

आचारवृत्ति—जिस-जिस प्रकार से माया अर्थात् व्रतों में जो-जो अतिचार उत्पन्न हुए हैं, अनुक्रम से उनको दूर करना चाहिए । अर्थात् जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस द्रव्य का आश्रय लेकर और जिस भाव से व्रतों में अतीचार उत्पन्न हुए हैं, मायाचारी अर्थात् कुटिलता को छोड़कर उसी क्रम से उनका परिशोधन करना चाहिए ।

गुरु के सामने दोषों का निवेदन करना **आलोचना** है, पर के सामने दोषों को प्रकट करना **निन्दा** है और अपनी निन्दा करना **गर्हा** है । इन आलोचना, निन्दा और गर्हा के करने में "मैं दूसरे दिन आलोचना करूँगा अथवा तीसरे दिन कर लूँगा' इस तरह से नहीं सोचना चाहिए । क्योंकि **बीतता हुआ काल जानने में नहीं आता है**—ऐसा अभिप्राय है । इसलिए शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए ॥१२१॥

भाव और द्रव्य-प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा जो प्रतिक्रमण क्रिया में उद्यत हुआ, उसका वह भाव प्रतिक्रमण है । पुनः शेष प्रतिक्रमण द्रव्य से कहा गया है ॥१२२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरवेऽपराधनिवेदनमालोचनं वचनेनात्मजुगुप्सनं परेभ्यो निवेदनं च निन्दा चित्तेनात्मनो जुगुप्सनं शासनविराधनभयं च गर्हणमेतैः क्रियायां प्रतिक्रमणेऽथवा पुनरतीचाराकरणेऽभ्युत्थित उद्यतो यतस्तस्माद्भावप्रतिक्रमणं परमार्थभूतो दोषपरिहारः शेषं पुनरेवमन्तरेण द्रव्यतोऽपरमार्थरूपं पुनः भणितमिति ॥१२२॥

द्रव्यप्रतिक्रमणे दोषमाह—

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु ।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि ॥१२३॥

भावेन अनुपयुक्तः द्रव्यीभूतः प्रतिक्रमते यस्तु ।
यस्यार्थं प्रतिक्रमते तं पुनः अर्थं न साधयति ॥१२३॥

भावेनानुपयुक्तः शुद्धपरिणामरहितः द्रव्यीभूतेभ्यो । दोषेभ्यो न[1] निर्गतमना रागद्वेषाद्युपहतचेताः प्रतिक्रमते दोषनिर्हरणाय प्रतिक्रमणं शृणोति करोति चेतिः यः स यस्यार्थं यस्मै दोषाय प्रतिक्रमते तं पुनरर्थं न साधयति तं दोषं न[2] परित्यजतीत्यर्थः ॥१२३॥

आचारवृत्ति—गुरु के सामने अपराध का निवेदन करना आलोचना है, वचनों से अपनी जुगुप्सा करना और पर (दूसरे) के सामने निवेदन करना निन्दा है तथा मन से अपनी जुगुप्सा करने में अथवा पुनः अतीचारों के नहीं करने में जो उद्यत होता है उसके वह भाव प्रतिक्रमण होता है, जो कि परमार्थ-भूत दोषों के परिहाररूप है । शेष पुनः इन आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है । वह अपरमार्थ रूप कहा गया है ॥१२२॥

द्रव्य प्रतिक्रमण में दोष कहते हैं—

गाथार्थ—जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस लिए प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है ॥१२३॥

आचारवृत्ति—जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोनों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है । ऐसा साधु दोष को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष के लिए प्रतिक्रमण करता है उस दोष को छोड़ नहीं पाता है । अर्थात् यदि साधु का मन प्रतिक्रमण करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा आदि रूप नहीं है तो वह प्रतिक्रमण दण्डकों को सुन लेने या पढ़ लेने मात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है । अतः जिस लिए प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है—ऐसा समझकर भावरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए ॥१२३॥

१-२. 'न' नास्ति क-प्रतौ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावप्रतिक्रमणमाह—

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू ।।१२४।।

भावेन संप्रयुक्तः यदर्थयोगश्च जल्पति सूत्रं ।
स कर्मनिर्जरायां विपुलायां वर्तते साधुः ॥१२४॥

भावेन संप्रयुक्तो यदर्थं योगश्च यन्निमित्तं शुभानुष्ठानं यस्मै अर्थायाभ्युद्यतो जल्पति सूत्रं प्रतिक्रमणपदान्युच्चरति शृणोति वा स साधुः कर्मनिर्जरायां विपुलायां प्रवर्त्तते सर्वापराधान् परिहरतीत्यर्थः ॥१२४॥

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
अवराहे[१] पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ।।१२५।।

सप्रतिक्रमणो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य ।
अपराधे प्रतिक्रमणं मध्यमानां जिनवराणां ॥१२५॥

सह प्रतिक्रमणेन वर्तत इति सप्रतिक्रमणो धर्मो दोषपरिहारेण चारित्रं पूर्वस्य प्राक्तनस्य वृषभतीर्थंकरस्य पश्चिमस्य पाश्चात्यस्य सन्मतिस्वामिनो जिनस्य

भाव प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है वह साधु उस विपुल कर्म-निर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥१२४॥

आचारवृत्ति—जो साधु भाव से संयुक्त हुआ जिस अर्थ के लिए उद्यत हुआ प्रतिक्रमण पदों का उच्चारण करता है अथवा सुनता है वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अर्थात् सभी अपराधों का परिहार कर देता है ॥१२४॥

प्रतिक्रमण करने का उद्देश क्या है ? इसे बताते हैं—

गाथार्थ—प्रथम और अन्तिम जिनवरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है तथा मध्यम जिनवरों का अपराध होने पर प्रतिक्रमण करना धर्म है ॥१२५॥

आचारवृत्ति—प्रतिक्रमण सहित धर्म अर्थात् दोष परिहार पूर्वक चारित्र । प्रथम जिन वृषभ तीर्थंकर और अन्तिम जिन सन्मति अर्थात् महावीर-स्वामी— इन दोनों तीर्थंकरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है । अपराध हों अथवा न हों किन्तु इनके तीर्थ में शिष्यों को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए । किन्तु मध्यम अर्थात्

---

१. अ. ब. अवराधे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तयोस्तीर्थंकरयोर्धर्म्मः प्रतिक्रमणसमन्वितः अपराधो भवतु मा वा, पुनर्जिनवराणामजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तानामपराधे सति प्रतिक्रमणं तेषां यतोऽपराधबाहुल्याभावादिति ॥१२५॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
तावेदु पडिक्कमणं मच्छिमयाणं जिणवराणं ।।१२६।।

यस्मिन् आत्मनो वा अन्यतरस्य वा भवेदतीचारः ।
तस्मिन् प्रतिक्रमणं मध्यमानां जिनवराणां ॥१२६॥

यस्मिन् व्रत आत्मनोऽन्यस्य वा भवेदतीचारस्तस्मिन् विषये भवेत्प्रतिक्रमणं मध्यमजिनवराणामाद्यपश्चिमयोः पुनस्तीर्थंकरयोरेकस्मिन्नपराधे सर्वान् प्रतिक्रमणदण्डकान् भणति ॥१२६॥

इत्याह—

इरिया[1]गोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमंदि ।।१२७।।

ईर्यागोचरस्वप्नादिसर्वं आचरतु मा वा आचरतु ।
पूर्वे चरमे तु सर्वे सर्वान् नियमान् प्रतिक्रमंते ॥१२७॥

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर्यन्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म, अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण करने रूप है, क्योंकि उनके शिष्यों में अपराध की बहुलता का अभाव है ॥१२५॥

गाथार्थ—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी को अतिचार होवे, मध्यम जिनवरों के काल में उसका ही प्रतिक्रमण करना होता है ॥१२६॥

आचारवृत्ति—जिस व्रत में अपने को या अन्य किसी साधु को अतीचार लगता है उसी विषय में प्रतिक्रमण होता है—ऐसा मध्यम के बाईस तीर्थंकरों के शासन का नियम था । किन्तु प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के शासन काल में पुनः एक अपराध के होने पर प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों को बोलना होता है ॥१२६॥

इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथ सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें किन्तु पूर्व और चरम अर्थात् आद्यन्त (प्रथम और अन्तिम) तीर्थंकरों के काल में सभी साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं ॥१२७॥

---

१. अ. ब. ग. इरियं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ईर्यागोचरस्वप्नादिभवं सर्वमतीचारमाचरतु मा वाऽऽचरतु पूर्वे ऋषभनाथ-शिष्याश्चरमा वर्द्धमानशिष्याः सर्वे सर्वान्नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान् प्रतिक्रमन्त उच्चारयन्ति ॥१२७॥

किमित्याद्याः पश्चिमाश्च सर्वान्नियमा[1]दुच्चारयंति किमित्यजितादिपार्श्वनाथ-पर्यन्तशिष्योनोच्चारयन्ति इत्याशंकायामाह—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य ।
तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥१२८॥

मध्यमा दृढबुद्धय एकाग्रमनसः अमोहलक्षाश्च ।
तस्मात् हि यमाचरंति तं गर्हंतोपि शुध्यंति ॥१२८॥

यस्मान्मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयोऽविस्मरणशीला एकाग्रमनसः स्थिरचित्ता अमोहलक्षा अमूढमनसः प्रेक्षापूर्वकारिणः तस्मात्स्फुटं यं दोषं आचरंति तस्माद्दोषाद् गर्हन्तोऽप्यात्मानं जुगुप्समानाः शुद्ध्यन्ते[2] शुद्धचारित्रा भवन्तीति ॥१२८॥

आचारवृत्ति—ईर्यापथ, गोचरी, स्वप्न आदि में अतीचार होवें या न होंवे, किन्तु ऋषभनाथ के शिष्य और वर्धमान भगवान् के सभी शिष्य नियम से सभी प्रतिक्रमण दंडकों का उच्चारण करते हैं ॥१२७॥

शंका—आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य किसलिए सर्व प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करते हैं ? और अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत के शिष्य क्यों नहीं सभी का उच्चारण करते हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मध्य तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले, एकाग्र मन सहित और मूढ़ मन रहित होते हैं । इसलिए जिस दोष का आचरण करते हैं उसकी गर्हा करके ही शुद्ध हो जाते हैं ॥१२८॥

आचारवृत्ति—मध्यम बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले होते थे अर्थात् वे विस्मरण स्वभाव वाले नहीं थे, उनकी स्मरण शक्ति विशेष थी, उनका चित्त स्थिर रहता था और वे विवेक पूर्वक कार्य करते थे । इसलिए जो दोष उनसे होता था उस दोष से अपनी आत्मा की गर्हा करते हुए शुद्ध चारित्र वाले हो जाते थे ॥१२८॥

---

१. ग नु । २. ग. शुद्धयन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य ।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ।।१२९।।

पूर्वचरमास्तु यस्मात् चलचित्ताश्चैव मोहलक्षाश्च ।
तस्मात् सर्वप्रतिक्रमणं अंधलकघोटकः दृष्टांतः ॥१२९॥

पूर्वचरमतीर्थंकरशिष्यास्तु यस्माच्चलचित्ताश्चैव दृढ़मनसो नैव, मोहलक्षाश्च मूढमनसो बहून् वारान् प्रतिपादितमपि शास्त्रं न जानंति ऋजुजडा वक्रजडाश्च यस्मात्तस्मात्सर्वप्रतिक्रमणं दण्डकोच्चारणं । तेषामन्धलकघोटकदृष्टान्तः ।

कस्यचिद्राज्ञोऽश्वोऽन्धस्तेन च वैद्यपुत्रं प्रति अश्वायौषधं पृष्टं स च वैद्यकं न जानाति, वैद्यश्च ग्रामं गतस्तेन च वैद्यपुत्रेणाश्वाक्षिनिमित्तानि सर्वाण्यौषधानि प्रयुक्तानि तैः सोऽश्वः स्वस्थीभूतः एवं साधुरपि यदि एकस्मिन्प्रतिक्रमणदण्डके स्थिरमना न भवति अन्यस्मिन् भविष्यति । अन्यस्मिन् वा न भवत्यन्यस्मिन्

गाथार्थ—पूर्व और चरम के अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकर के शिष्य तो जिस हेतु से चल चित्त और मूढ़ मन वाले होते हैं इसलिए उनके सर्वप्रतिक्रमण है, इसमें अंधलक द्योतक उदाहरण समझना ॥१२९॥

आचारवृत्ति—प्रथम और चरम तीर्थंकर के शिष्य जिस कारण से चंचल चित्त होते हैं अर्थात् उनका मन स्थिर नहीं रहता है । तथा मूढ़ चित्त वाले हैं- उनको बहुत बार शास्त्रों को प्रतिपादन करने पर भी वे नहीं समझते हैं । वे ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभावी होते हैं । अर्थात् प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शासन के शिष्यों में अति सरलता और अति जड़ता रहती थी और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों में कुटिलता और जड़ता रहती है, अतः ये ऋजुजड़ और वक्रजड़ कहलाते हैं । इसी कारण से इन्हें सर्वदण्डकों के उच्चारण का विधान है । इनके लिए **अन्धलक घोटक दृष्टान्त** दिया गया है ।

यथा—किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया, उसने उस घोड़े के लिए वैद्य के पुत्र से औषधि पूछी । वह वैद्यक-शास्त्र नहीं जानता था और उसका पिता वैद्य अन्य ग्राम को चला गया था । तब उस वैद्यपुत्र ने घोड़े की आँख के निमित्त सभी औषधियों का प्रयोग कर दिया अर्थात् सभी औषध उस घोड़े की आँख में लगाया गया । उन औषधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औषधि थी, उसी में वह भी आ गयी । उसके लगते ही घोड़े की आँख खुल गयी । वैसे ही साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिरचित्त नहीं होता तो अन्य दण्डक में हो जावेगा; अथवा यदि अन्य दण्डक में भी स्थिरमना नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भविष्यतीति सर्वदण्डकोच्चारणं न्याय्यमिति, न चात्र विरोधः, सर्वेपि कर्मक्षय-करणसमर्था यतः इति ॥१२९॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमुपसंहरन् प्रत्याख्याननिर्युक्तिं प्रपञ्चयन्नाह—

पडिकमणणिजुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण ।
पच्चक्खाणणिजुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ॥१३०॥

प्रतिक्रमणानिर्युक्तिः पुन एषा कथिता मया समासेन ।
प्रत्याख्याननिर्युक्तिं इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥१३०॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन पुनः प्रत्याख्याननिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामीति ॥१३०॥

तामेव प्रतिज्ञां निर्वहन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो पच्चक्खाणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥१३१॥

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भवति भावश्च ।
एषः प्रत्याख्याने निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥१३१॥

अयोग्यानि नामानि पापहेतूनि विरोधकारणानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमंतव्यानीति नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा ।

होगा तो अन्य किसी दण्डक में स्थिरचित्त हो जावेगा, इसलिए सर्वदण्डकों का उच्चारण करना न्याय ही है, और इसमें विरोध भी नहीं है । क्योंकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डकसूत्र कर्मक्षय करने में समर्थ हैं ॥१२९॥

प्रतिक्रमण निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए प्रत्याख्यान निर्युक्ति कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप में यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति कही है । इसके आगे प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहूँगा ॥१३०॥

आचारवृत्ति—इस तरह मेरे द्वारा यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति संक्षेप में कही गयी । अब आगे प्रत्याख्यान निर्युक्ति कहूँगा ॥१३०॥

उसी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप प्रत्याख्यान में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥१३१॥

आचारवृत्ति—अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं ऐसे नाम न रखना चाहिए, न रखवाना चाहिए और न रखते हुए को अनुमोदना ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अयोग्याः स्थापनाः पापबंधहेतुभूताः मिथ्यात्वादिप्रवर्त्तका अपरमार्थरूप-देवतादिप्रतिबिम्बानि पापकारणद्रव्यरूपाणि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानि इति स्थापनाप्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिबिम्बं च सद्भावासद्भावरूपं स्थापनाप्रत्याख्यानमिति ।

पापबन्धकारणद्रव्यं सावद्यं निरवद्यमपि तपोनिमित्तं त्यक्तं न भोक्तव्यं न भोजयितव्यं नानुमन्तव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानं प्राभृतज्ञायकोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भावी जीवस्तद् व्यतिरिक्तं च द्रव्यप्रत्याख्यानम् । असंयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य परिहारः क्षेत्रप्रत्याख्यानं, प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितप्रदेशे[1] प्रवेशो वा क्षेत्रप्रत्याख्यानम् ।

असंयमादिनिमित्तभूतस्य[2] कालस्य त्रिधा परिहारः कालप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितकालो वा ।

देनी चाहिए—यह **नाम प्रत्याख्यान** है । अथवा प्रत्याख्यान नाम मात्र किसी का रख देना नाम प्रत्याख्यान है ।

अयोग्य स्थापना–मूर्तियाँ पापबन्ध के लिए कारण हैं, मिथ्यात्व आदि की प्रवर्तक हैं, और अवास्तविक रूप देवता आदि के जो प्रतिबिम्ब हैं वे भी पाप के कारण रूप द्रव्य हैं ऐसी अयोग्य स्थापना को न करना चाहिए, न कराना चाहिए और करते हुए को अनुमोदना देना चाहिए—यह **स्थापना प्रत्याख्यान** है । अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि आदि का प्रतिबिम्ब जो कि तदाकार हो या अतदाकार, वह भी स्थापना प्रत्याख्यान है ।

पापबन्ध के कारणभूत सावद्य, सदोष द्रव्य तथा तप के निमित्त त्याग किए गये जो निरवद्य–निर्दोष द्रव्य भी हैं ऐसे सदोष और त्यक्त रूप निर्दोष द्रव्य को भी न ग्रहण करना चाहिए, न कराना चाहिए और न अनुमोदना देनी चाहिए । यहाँ आहार सम्बन्धी तो खाने में अर्थात् भोग में आयेगा और उसके अतिरिक्त भी द्रव्य उपकरण आदि उपभोग में आयेंगे । किन्तु 'भोक्तव्यं' क्रिया से यहाँ पर मुख्यतया भोजन सम्बन्धी द्रव्य की विवक्षा है, इस तरह यह द्रव्य प्रत्याख्यान है अथवा प्रत्याख्यान शास्त्र का ज्ञाता और उसके उपयोग से रहित जीव, उसका शरीर, भावी जीव और उससे व्यतिरिक्त ये सब **द्रव्य प्रत्याख्यान** हैं ।

असंयम आदि के लिए कारण भूत क्षेत्र का परिहार करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है, अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित प्रदेश में प्रवेश करना **क्षेत्र प्रत्याख्यान** है ।

---

१. क ०देशो वा । २. क ०दिहेतुभूतस्य ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्वासंयमकषायादीनां त्रिविधेन परिहारो भावप्रत्याख्यानं भाव-प्रत्याख्यानप्राभृतज्ञायकस्तद्विज्ञानं प्रदेशादित्येवमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभाव-विषयः प्रत्याख्याने निक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति ।

प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयोः को विशेष ? इति चेन्नैष दोषोऽतीतकाल-विषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्त्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसचित्ताचित्त-मिश्रद्रव्यविनिवृत्तिस्तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानं यस्मादिति ॥१३१॥

प्रत्याख्यायक-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यातव्य-स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु ।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥१३२॥

प्रत्याख्यापकः प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्यमेवं तु ।
अतीते प्रत्युत्पन्ने अनागते चैव काले ॥१३२॥

असंयम आदि के कारणभूत काल का मन-वचन-काय से परिहार करना काल-प्रत्याख्यान है । अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित **काल-प्रत्याख्यान** है ।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि का मन-वचन-काय से परिहार-त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है । अथवा भाव प्रत्याख्यान के शास्त्र के ज्ञाता जीव को या उसके ज्ञान को या उसके आत्मप्रदेशों को भी **भाव प्रत्याख्यान** कहते हैं । इस प्रकार से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक छह प्रकार का निक्षेप प्रत्याख्यान में घटित किया गया है ।

शंका—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?

भूतकाल विषयक अतीचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है, और भूत भविष्यत् तथा वर्तमान—इन तीनों काल विषयक अतीचारों का निरसन करना प्रत्याख्यान है । अथवा व्रत आदि के अतिचारों का शोधन प्रतिक्रमण है तथा अतीचार के लिए कारणभूत ऐसे सचित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों का त्याग करना तथा तप के लिए प्रासुकद्रव्य का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है ॥१३१॥

गाथार्थ—प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य—ये तीनों ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल में होते हैं ॥१३२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यायको जीवः संयमोपेतः प्रत्याख्यानं परित्यागपरिणामः प्रत्याख्यातव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं सावद्यं निरवद्यं वा । एवं त्रिप्रकार[3] प्रत्याख्यानस्वरूपोऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । तत्त्रिविधमप्यतीते काले प्रत्युत्पन्ने कालेऽनागते च काले भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालेष्वपि ज्ञातव्यमिति ॥१३२॥

प्रत्याख्यायकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आणाय जाणणावि य उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे ।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ।।१३३।।

आज्ञया ज्ञापकेनापि च उपयुक्तो मूलमध्यनिर्देशे ।
सागारमनागारं अनुपालयन् दृढधृतिकः ॥१३३॥

आणावि य आज्ञया गुरूपदेशेनार्हदाद्याज्ञया चारित्रश्रद्धया, **जाणणावि य** ज्ञापकेन गुरुनिवेदनेनाथवा परमार्थतो ज्ञात्वा दोषस्वरूपं तपोहेतुं बाह्याभ्यन्तरं प्रविश्य ज्ञात्वाऽपि चोपयुक्तः षट्प्रकारसमन्वितः मूले आदौ ग्रहणकाले मध्ये

आचारवृत्ति—संयम से युक्त जीव (मुनि) प्रत्याख्यायक हैं, अर्थात् प्रत्याख्यान करने वाले हैं । त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है । सावद्य हों या निरवद्य, सचित्त, अचित्त तथा मिश्र—ये तीन प्रकार के द्रव्य प्रत्याख्यातव्य हैं अर्थात् प्रत्याख्यान के योग्य हैं । इन तीन प्रकार से प्रत्याख्यान के स्वरूप की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् इन प्रत्याख्यायक आदि तीन प्रकार के सिवाय प्रत्याख्यान का कोई स्वरूप नहीं है । ये तीनों ही भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यतकाल की अपेक्षा से तीन-तीन भेदरूप हो जाते हैं । अर्थात् भूतप्रत्याख्यायक, वर्तमान प्रत्याख्यायक और भविष्यत् प्रत्याख्यायक । भूत प्रत्याख्यान, वर्तमान प्रत्याख्यान और भविष्यत् प्रत्याख्यान । भूतप्रत्याख्यातव्य, वर्तमान प्रत्याख्यातव्य और भविष्यत् प्रत्याख्यातव्य ॥१३२॥

प्रत्याख्यायक का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—आज्ञा से और गुरु के निवेदन से उपयुक्त हुआ क्रिया के आदि, मध्य और अन्त में अविकल्प (सागार) और निर्विकल्प (अनगार) संयम का पालन करता हुआ दृढ़ धैर्यवान् साधु प्रत्याख्यायक होता है ॥१३३॥

आचारवृत्ति—आज्ञा—गुरु का उपदेश, अर्हंत आदि की आज्ञा और चारित्र की श्रद्धा—ये आज्ञा शब्द से ग्राह्य हैं । ज्ञापक बतलाने वाले गुरु । इस तरह गुरु

---

१. क. त्रिप्रकार एवं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मध्यकाले निर्देशे समाप्तौ सागारं गार्हस्थ्यं संयतासंयतयोग्यमथवा सागारं सविकल्पं भेदसहितं अनागारं संयमसमेतोद्भवं यतिप्रतिबद्धमथवाऽनाकारं निर्विकल्पं सर्वथा परित्यागमनुपालयन् रक्षयन् दृढधृतिकः सदृढधैर्यः ।

मूलमध्यनिर्देशे साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानमुपयुक्तः सन् आज्ञया सम्यग्विवेकेन वाऽनुपालयन् दृढधृतिको यो भवति स एष प्रत्याख्यायको नामेति सम्बन्धः । उत्तरेणाथवा मूलमध्यनिर्देशे आज्ञयोपयुक्तः साकारमनाकारं च प्रत्याख्यानं च गुरुं ज्ञापयन् प्रतिपादयन् अनुपालयंश्च दृढधृतिकः प्रत्याख्यायको भवेदिति ॥१३३॥

शेषं प्रतिपादयन्नाह—

एसो पच्चक्खाओ पच्चक्खाणिति वुच्चदे चाओ ।
पच्चक्खिदव्वमुवहिं आहारो चेव बोधव्वो ।।१३४।।

एष प्रत्याख्यायकः प्रत्याख्यानमिति उच्यते त्यागः ।
प्रत्याख्यातव्यमुपधिराहारश्चैव बोद्धव्यः ॥१३४॥

के उपदेश आदि रूप आज्ञा से और गुरु के कथन से पाप रूप अन्धकार के हेतुक दोष के स्वरूप को परमार्थ से जानकर और उसके बाह्य-आभ्यन्तर कारणों में प्रवेश करके जो मुनि नाम, स्थापना आदि छह भेद रूप प्रत्याख्यानों से समन्वित हैं, वह साधु प्रत्याख्यान के मूल-ग्रहण के समय, उसके मध्यकाल में और निर्देश–उसकी समाप्ति में सागार-संयतासंयत गृहस्थ के योग्य और अनगार–संयमयुक्त यति से सम्बन्धित **अथवा** साकार-सविकल्प-भेद सहित और अनाकार-निर्विकल्प अर्थात् सर्वथा परित्याग रूप प्रत्याख्यान की रक्षा करता हुआ दृढ़ धैर्यसहित होने से प्रत्याख्यायक है ।

अर्थात् जो साधु त्याग के आदि, मध्य और अन्त में साकार व अनाकार प्रत्याख्यान में उद्यमशील होता हुआ गुरुओं की आज्ञा या सम्यक् विवेक से उसका पालन करता हुआ दृढ़धैर्यवान् है वह प्रत्याख्यायक कहलाता है—ऐसा अगली गाथा से सम्बन्ध कर लेना चाहिए । अथवा मूल, मध्य और अन्त में प्रत्याख्यान का पालन करने वाला, गुरु की आज्ञा को धारण करने वाला साधु भेद सहित और भेद रहित प्रत्याख्यान को गुरु को बतलाकर उसको पालता हुआ, धैर्यगुणयुक्त है—वह प्रत्याख्यायक है ॥१३३॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त, गाथा कथित साधु प्रत्याख्यायक है । त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं और उपधि तथा आहार—यह प्रत्याख्यान करने योग्य पदार्थ हैं—ऐसा जानना ॥१३४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एष प्रत्याख्यायकः पूर्वेण सम्बन्धः प्रत्याख्यानमित्युच्यते । त्यागः सावद्यस्य द्रव्यस्य निरवद्यस्य वा तपोनिमित्तं परित्यागः प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्यः परित्यजनीय उपधिः परिग्रहः सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नः क्रोधादिभेदभिन्नश्चाहारश्चाभक्ष्यभोज्यादिभेदभिन्नो बोद्धव्य इति ॥१३४॥

प्रस्तुतं प्रत्याख्यानं प्रपञ्चयन्नाह—

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणादि होदि णेयविहं ।
तेणवि अ एत्थ पयदं तंपि य इणमो दसविहं तु ॥१३५॥

प्रत्याख्यानं उत्तरगुणेषु क्षमणादि भवति अनेकविधं ।
तेनापि च अत्र प्रयतं तदपि च इदं दशविधं तु ॥१३५॥

प्रत्याख्यानं मूलगुणविषयमुत्तरगुणविषयं वक्ष्यमाणादिभेदेनाशनपरित्यागादिभेदेनानेकविधमनेकप्रकारं । तेनापि चात्र प्रकृतं प्रस्तुतं अथवा तेन प्रत्याख्यायकेनात्र यत्नः कर्त्तव्यस्तदेतदपि च दशविधं तदपि चैतत् क्षमणादि दशप्रकारं भवतीति वेदितव्यम् ॥१३५॥

आचारवृत्ति—पूर्व गाथा में कहा गया साधु प्रत्याख्यायक है । सावद्य द्रव्य का त्याग करना या तपोनिमित्त निर्दोष द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है । सचित्त, अचित्त तथा मिश्र रूप बाह्य परिग्रह एवं क्रोध आदि रूप आभ्यन्तर परिग्रह—ये उपधि हैं । भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थ आहार कहलाते हैं । ये उपधि और आहार प्रत्याख्यातव्य हैं ॥१३४॥

प्रस्तुत प्रत्याख्यान का विस्तार से वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—उत्तरगुणों में जो अनेक प्रकार के उपवास आदि हैं वे प्रत्याख्यान हैं । उसमें प्रत्याख्यायक प्रयत्न करें सो यह प्रत्याख्यान दश प्रकार का भी है ॥१३५॥

आचारवृत्ति—मूलगुण विषयक प्रत्याख्यान और उत्तरगुण विषयक प्रत्याख्यान होता है जो कि आगे कहे जाने वाले भोजन के परित्याग रूप अनशन आदि के भेद से अनेक प्रकार का है । उन भेदों से भी यहाँ पर प्रकृत (प्रकरण) है, उसे कहा गया है । अथवा उस प्रत्याख्यायक साधु के इन त्याग रूप उपवास आदिकों में प्रयत्न करना चाहिए । यही प्रत्याख्यान क्षमणादि दस प्रकार का जानने योग्य है । ॥१३५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तान् दशभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव ।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं ।।१३६।।

अनागतमतिक्रांतं कोटीसहितं निखंडितं चैव ।
साकारमनाकारं परिमाणगतं अपरिशेषं ॥१३६॥

अणागदं अनागतं भविष्यत्कालविषयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिषु तत्त्रयोदश्यादिषु यत् क्रियते तदनागतं प्रत्याख्यानं, **अदिकंतं** अतिक्रान्तं अतीतकालविषयोपवासादिकरणं चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्यमुपवासादिकं तत्प्रतिपदादिषु क्रियतेऽतिक्रान्तं प्रत्याख्यानं । **कोडीसहिदं** कोटिसहितं सङ्कल्पसमन्वितं शक्त्यपेक्षयोपवासादिकं श्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्यत्युपवासादिकं करिष्यामि नो चेन्न करिष्यामीत्येवं यत् क्रियते प्रत्याख्यानं तत्कोटिसहितमिति ।

णिक्खंडिदं निखंडितं अवश्यकर्त्तव्यं पाक्षिकादिषूपवासकरणं निखंडितं प्रत्याख्यानं, **साकारं** सभेदं सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिर्नक्षत्रादिभेदेन करणं तत्साकारप्रत्याख्यानं, **अनाकारं** स्वेच्छयोपवासविधिर्नक्षत्रादिकमन्तरेणोपवासादिकरणमनाकारं प्रत्याख्यानं, **परिमाणगतं** प्रमाणसहितं षष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षार्द्धपक्षमासादिकालादिपरिमाणेनोपवासादिकरणं परिमाणगतं प्रत्याख्यानं, **अपरिसेसं** यावज्जीवं चतुर्विधाऽऽहारादित्यागोऽपरिशेषं प्रत्याख्यानम् ॥१३६॥

उन दस भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—१.अनागत, २. अतिक्रान्त, ३. कोटिसहित, ४. निखंडित, ५. साकार, ६. अनाकार, ७. परिमाणगत, ८. अपरिशेष ॥१३६॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के प्रत्याख्यान को पृथक्-पृथक् कहते हैं—

१. भविष्यत् काल में किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना **अनागत प्रत्याख्यान** हैं ।

२. अतीतकाल में किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना **अतिक्रान्त प्रत्याख्यान** है । जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास आदि करना है उसे प्रतिपदा आदि में करना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि ।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि ।।१३७।।

अध्वानगतं नवमं दशमं तु सहेतुकं विजानीहि ।
प्रत्याख्यानविकल्पा निरुक्तियुक्ता जिनमते ॥१३७॥

अद्धाणगदं अध्वानं गतमध्वगतं मार्गविषयाटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणं । अध्वगतं नाम प्रत्याख्यानं नवमं, सहहेतुना वर्त्तत इति सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणं सहेतुकं नाम प्रत्याख्यानं दशमं विजानीहि,

---

३. शक्ति आदि की अपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है । जैसे कल प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नहीं रही तो नहीं करूँगा, इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है वह **कोटिसहित** है ।

४. पाक्षिक आदि में अवश्य किए जाने वाले उपवास का करना **निखण्डित प्रत्याख्यान** है ।

५. भेद सहित उपवास करने से **साकार प्रत्याख्यान** कहते हैं । जैसे सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना ।

६. स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरुचि से कभी भी कर लेना **अनाकार प्रत्याख्यान** हैं ।

७. प्रमाण सहित उपवास को परिमाणगत कहते हैं । जैसे बेला, तेला, चार उपवास, पाँच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण उपवास आदि करना **परिमाणगत प्रत्याख्यान है** ।

८. जीवन पर्यन्त के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना **अपरिशेष प्रत्याख्यान है** ॥१३६॥

गाथार्थ—९. अध्वानगत और १०. सहेतुक—ये दस भेद जानो । प्रत्याख्यान के ये दस भेद जिनमत में निरुक्ति सहित हैं ॥१३७॥

९. मार्ग विषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है । जैसे जंगल या नदी आदि से निकलने के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है—ऐसा उपवास करना सो **अध्वानगत प्रत्याख्यान है** ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवमेतान्प्रत्याख्यानकरणविकल्पान्विभक्तियुक्तान्तथानुगतान्[१] परमार्थरूपाञ्जिनमते विजानीहीति ॥१३७॥

पुनरपि प्रत्याख्यानकरणविधिमाह—

विणएण तहणु[१]भासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे ।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ॥१३८॥

विनयेन तथानुभाषया भवति च अनुपालनेन परिणामेन ।
एतत् प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यं ॥१३८॥

विनयेन शुद्धं तथाऽनुभाषयाऽनुपालनेन परिणामेन च यच्छुद्धं भवति तदेतत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यमिति यस्मिन् प्रत्याख्याने विनयेन सार्द्धमनुभाषाप्रतिपालनेन सह परिणामशुद्धिस्तत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यमिति ॥१३८॥

विनयप्रत्याख्यानं तावदाह—

किदियम्मं उवचारिय-विणओ तह णाणदंसणचरित्ते ।
पञ्चविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ॥१३९॥

---

१०. हेतु सहित उपवास सहेतुक हैं । यथा उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना **सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान** है ।

विभक्ति से युक्त अन्वर्थ, नाम से सहित तथा परमार्थरूप प्रत्याख्यान करने के ये दश भेद जिनमत में कहे गए हैं—ऐसा जानो ॥१३७॥

पुनरपि प्रत्याख्यान करने की विधि बतलाते हैं—

गाथार्थ—विनय, अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम—इनसे प्रत्याख्यान होता है । यह प्रत्याख्यान इन्हीं के भेदों से चार प्रकार का जानना चाहिए ॥१३८॥

आचारवृत्ति—विनय से शुद्ध तथैव अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम से शुद्ध प्रत्याख्यान चार भेद रूप हो जाता है । अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालना के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहार आदि का त्याग होता है, वह प्रत्याख्यान उन विनय आदि की अपेक्षा से चार प्रकार का हो जाता है ॥१३८॥

---

१. ग. भक्तियुक्तान् अर्थानुगतान् । १. अ. ब. तहाणु ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कृतिकर्म औपचारिकः विनयः तथा ज्ञानदर्शनचारित्रे ।
पंचविधविनययुक्तं विनयशुद्धं भवति तत्तु ॥१३९॥

कृतिकर्म सिद्धभक्तियोगभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गकरणं, पूर्वोक्तः औपचारिकविनयः कृतकरमुकुललललाटपट्टविनतोत्तमांगः प्रशांततनुः पिच्छिकया विभूषितवक्ष इत्याद्युपचारविनयः, तथा ज्ञानदर्शनचारित्रविषयो विनयः, एवं क्रियाकर्मादिपञ्चप्रकारेण विनयेन युक्तं विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं भवत्येवेति ॥१३९॥

अनुभाषायुक्तं प्रत्याख्यानमाह—

अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं ।
घोसविसुद्धी सुद्धं एदं अणुभासणासुद्धं ॥१४०॥

अनुभाषते गुरुवचनं अक्षरपदव्यंजनं क्रमविशुद्धं ।
घोषविशुद्धया शुद्धमेतत् अनुभाषणाशुद्धं ॥१४०॥

अणुभासदि अनुभाषते अनुवदति गुरुवचनं गुरुणा यथोच्चारिता प्रत्याख्यानाक्षरपद्धतिस्तथैव तामुच्चरतीति, अक्षरमेकस्वरयुक्तं व्यञ्जनं, इच्छामीत्यादिकं

इनमें से प्रथम **विनय प्रत्याख्यान** कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, औपचारिक-विनय, तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में विनय, जो इन पंच-विध विनय से युक्त है वह **विनय-शुद्ध प्रत्याख्यान** है ॥१३९॥

आचारवृत्ति—सिद्ध-भक्ति, योग-भक्ति और गुरु-भक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्म विनय है । औपचारिक विनय का लक्षण पहले कह चुके हैं अर्थात् हाथों को मुकुलित कर ललाट पट्ट पर रख मस्तक को झुकाना, प्रशांत शरीर होना, पिच्छिका से वक्षस्थल भूषित करना, पिच्छिका सहित अंजुली जोड़कर हृदय के पास रखना, प्रार्थना करना आदि उपचार विनय है एवं दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक विनय करना–इस तरह कृतिकर्म आदि पाँच प्रकार के विनय से युक्त प्रत्याख्यान **विनयशुद्ध प्रत्याख्यान** कहलाता है ॥१३९॥

अनुभाषा युक्त प्रत्याख्यान कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु के वचन के अनुरूप बोलना, अक्षर, पद, व्यञ्जन क्रम से विशुद्ध और घोष की विशुद्धि से शुद्ध बोलना–यह **अनुभाषणाशुद्धि** है ॥१४०॥

आचारवृत्ति—प्रत्याख्यान के अक्षरों को गुरु ने जैसा उच्चारण किया है वैसा ही उन अक्षरों का उच्चारण करता है । एक स्वरयुक्त व्यंजन को अक्षर कहते हैं, सुबंत और मिङ्त अक्षरों के समुदाय को पद कहते हैं अर्थात् 'इच्छामि'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पदं सुबन्तं तिङन्तं चाक्षरसमुदायरूपं, व्यञ्जनमनक्षरवर्णरूपं खण्डाक्षरानुस्वार-विसर्जनीयादिकं क्रमविशुद्धं येनैव क्रमेण स्थितानि वर्णपदव्यञ्जनवाक्यादीनि ग्रन्थार्थोभयशुद्धानि, तेनैव पाठः, घोषविशुद्ध्या च शुद्धं गुर्वादिकवर्णविषयोच्चारेण सहितं मुख्यमध्योच्चारेण रहितं महाकलकलेन विहीनं स्वरविशुद्धमिति, एवमेतत्प्रत्याख्यानमनुभाषणशुद्धं वेदितव्यमिति ॥१४०॥

अनुपालनसहितं प्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे ।
जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं ।।१४१।।

आतंके उपसर्गे श्रमे च दुर्भिक्षवृत्तौ कांतारे ।
यत् पालितं न भग्नं एतत् अनुपालनाशुद्धं ॥१४१॥

आतंकः सहसोत्थितो व्याधिः, उपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्कृतपीडा, श्रम उपवासालाभमार्गादिकृतः परिश्रमः ज्वररोगादिकृतश्च, दुर्भिक्षवृत्तिर्वर्षाकालराज्यभंगविड्वरचौराद्युपद्रवभयेन शस्याद्यभावेन[१] भिक्षायाः प्राप्त्यभावः, कान्तारे महा-

---

इत्यादि प्रकार से जो अक्षर समुदाय रूप है, वह पद कहलाता है । अक्षर रहित अव्यक्त वर्ण को व्यंजन कहते हैं जो कि खण्डाक्षर, अनुस्वार और विसर्ग आदि रूप हैं । जिस क्रम से वर्ण, पद, व्यंजन और वाक्य आदि, ग्रन्थ-(शब्द)-शुद्ध, अर्थशुद्ध और शब्दार्थ अर्थात् उभयशुद्ध हैं, उनकी उसी पद्धति से पाठ करना सो क्रमविशुद्ध कहलाता है तथा ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्णों का यथायोग्य उच्चारण करना घोष विशुद्धि है । मुख के मध्य में ही शब्द का उच्चारण नहीं होना चाहिए, और न महाकलकल शब्द करना चाहिए । स्वरशुद्ध रहना चाहिए सो यह सब घोषशुद्धि है । इस प्रकार का जो प्रत्याख्यान है वह **अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान** कहलाता है ॥१४०॥

अनुपालन सहित-प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—आतंक अर्थात् आकस्मिक पीड़ा-व्याधि, उपसर्ग, श्रम, भिक्षा का अलाभ और गहनवन—इनमें जो ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान भंग नहीं होता है, वह अनु-पालना शुद्ध है ॥१४१॥

आचारवृत्ति—सहसा उत्पन्न हुई व्याधि (पीड़ा) आतंक है । देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत पीड़ा को उपसर्ग कहते हैं । उपवास, अलाभ, या मार्ग में चलने आदि से हुआ परिश्रम या ज्वर आदि रोगों के निमित्त से हुआ खेद श्रम कहलाता है । दुर्भिक्षवृत्ति–वर्षा का अभाव, राज्यभंग, बदमाश-लुटेरे, चोर इत्यादि के

---

१. ग. शस्यादिनिष्पत्य भावेन ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

टवीविंध्यारण्यादिकभयानकप्रदेशः एतेषूपस्थितेष्वातंकोपसर्गदुर्भिक्षवृत्तिकान्तारेषु यत्प्रतिपालितं रक्षितं न भग्नं न मनागपि विपरिणामरूपं जातं तदेतत्प्रत्याख्यानमनुपालनविशुद्धं नाम ॥१४१॥

परिणामविशुद्धप्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

रागेण व दोसेण व मणपरिणामे ण दूसिदं जं तु ।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥१४२॥

रागेण वा द्वेषेण वा मनःपरिणामेण न दूषितं यत्तु ।
तत् पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यम् ॥१४२॥

रागपरिणामेन द्वेषपरिणामेन च न दूषितं न प्रतिहतं विपरिणामेन यत्प्रत्याख्यानं तत्पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यमिति । सम्यग्दर्शनादियुक्तस्य निःकांक्षस्य वीतरागस्य समभावयुक्तस्याहिंसादिव्रतसहितस्य शुद्धभावस्य प्रत्याख्यानं परिणामशुद्धं भवेदिति ॥१४२॥

उपद्रव के भय से या धान्य की उत्पत्ति के अभाव से भिक्षा का लाभ न होना दुर्भिक्ष वृत्ति है । महावन, विन्ध्याचल, अरण्य आदि भयानक प्रदेशों में पहुँच जाना अर्थात् आतंक के आ जाने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, श्रम से थकान हो जाने पर, भिक्षा न मिलने पर या महान् भयानक वन (कान्तार) आदि में पहुँच जाने पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया हुआ है उसकी रक्षा करना, उससे तिलमात्र भी विचलित नहीं होना, यह **अनुपालन विशुद्ध प्रत्याख्यान** है ॥१४१॥

परिणाम विशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—राग से अथवा द्वेष रूप मन के परिणामों से जो दूषित नहीं होता है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है, ऐसा जानना ॥१४२॥

आचारवृत्ति—राग परिणाम से या द्वेष परिणाम से जो प्रत्याख्यान दूषित नहीं होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि से युक्त, कांक्षा रहित, वीतराग, समभावयुक्त और अहिंसादिव्रतों से सहित शुद्ध भाव वाले मुनि का प्रत्याख्यान **परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता** है ॥१४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विधाहारस्वरूपमाह—

असणं खुहप्पसमणं पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं ।
खादंति खादियं पुण सादंति य सादियं भणियं ।।१४३।।

अशनं क्षुधाप्रशमनं प्राणानामनुग्रहं तथा पानं ।
खाद्यते खाद्यं पुनः स्वाद्यते च स्वाद्यं भणितं ॥१४३॥

अशनं क्षुदुपशमनं बुभुक्षोपरतिः प्राणानां दशप्रकाराणामनुग्रहो येन तत्तथा पानं खाद्यत इति खाद्यं रसविशुद्धं लड्डुकादि पुनरास्वाद्यत इति आस्वाद्यमेलाकक्कोलादिकमिति भणितमेवंविधस्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानमुत्तमार्थप्रत्याख्यानमिति ॥१४३॥

चतुर्विधस्याहारस्य भेदं प्रतिपाद्याभेदार्थमाह—

सव्वोवि य आहारो असणं सव्वोवि वुच्चदे पाणं ।
सव्वोवि खादियं पुण सव्वोवि य सादियं भणियं ।।१४४।।

सर्वोपि च आहारः अशनं सर्वोपि उच्यते पानं ।
सर्वोपि खाद्यं पुनः सर्वोपि च स्वाद्यं भणितं ॥१४४॥

सर्वोऽप्याहारोऽशनं तथा सर्वोऽप्याहारः पानमित्युच्यते तथा सर्वोऽप्याहारः

चार प्रकार के आहार का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—क्षुधा को शांत करने वाला **अशन,** प्राणों पर अनुग्रह करने वाला **पान** है । जो खाया जाय वह **खाद्य** एवं जिसका स्वाद लिया जाय वह **स्वाद्य** कहलाता है ॥१४३॥

आचारवृत्ति—जिससे भूख की उपरति-शान्ति हो जाती है वह अशन है । जिसके द्वारा दश प्रकार के प्राणों का उपकार होता है वह पान है । जो खाये जाते हैं वे खाद्य हैं । रस सहित लड्डू आदि पदार्थ खाद्य हैं । जिनका आस्वाद लिया जाता है वे इलायची, कक्कोल आदि स्वाद्य हैं । इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उत्तमार्थ प्रत्याख्यान कहलाता है ॥१४३॥

चार प्रकार के आहारों का भेद बताकर अब उनका अभेद दिखाते हैं-

गाथार्थ—सभी आहार अशन कहलाता है सभी आहार पान कहलाता है । सभी आहार खाद्य और सभी ही आहार स्वाद्य कहा जाता है ॥१४४॥

आचारवृत्ति—सभी आहार अशन हैं, सभी आहार पान हैं, सभी आहार खाद्य हैं एवं सभी आहार स्वाद्य हैं । इस तरह सभी अशन हैं, सभी आहार पान हैं, सभी आहार खाद्य हैं एवं सभी आहार स्वाद्य हैं । इस तरह चारों प्रकार का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खाद्यं तथा सर्वोऽप्याहारः स्वाद्यमिति भणितं एवं चतुर्विधस्याप्याहारस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षयैक्यं आहारत्वेनाभेदादिति ॥१४४॥

पर्यायार्थिकनयापेक्षया पुनश्चतुर्विधस्तथैव प्राह—

असणं पाणं तह खादियं चउत्थं च सादियं भणियं ।
एवं परूविदं दु सद्दहिदुं जे सुही होदि ॥१४५॥

अशनं पानं तथा खाद्यं चतुर्थं च स्वाद्यं भणितं ।
एवं प्ररूपितं तु श्रद्धाय सुखी भवति ॥१४५॥

एवमशनपानखाद्यस्वाद्यभेदेनाहारं चतुर्विधं प्ररूपितं श्रद्धाय सुखी भवतीति फलं व्याख्यातं भवतीति ॥१४५॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिं व्याख्याय कायोत्सर्गनिर्युक्तिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पच्चक्खाणणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
काओसग्गणिजुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ॥१४६॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
कायोत्सर्गनिर्युक्तिं इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥१४६॥

आहार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एकरूप हैं क्योंकि आहारत्व की अपेक्षा से सभी में अभेद है ॥१४४॥

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पुनः आहार चार भेदरूप है—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य तथा चौथा स्वाद्य कहा गया है । इन कहे हुए उपदेश का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है ॥१४५॥

आचारवृत्ति—इन अशन आदि चार भेद रूप कहे गए आहार का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है यह इसका फल बताया गया है । अर्थात् उत्तमार्थी इन सब का त्यागकर सुखी होता है—यह इसका फल है ॥१४५॥

प्रत्याख्यान निर्युक्ति का व्याख्यान करके अब **कायोत्सर्ग निर्युक्ति** का स्वरूप बताते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह प्रत्याख्यान निर्युक्ति कही है । इसके बाद कायोत्सर्ग निर्युक्ति कहूँगा ॥१४६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्याननिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन कायोत्सर्गनिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्य इति[१] । स्पष्टोर्थः ॥१४६॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो काउस्सग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ।।१४७।।

नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः च भवति भावश्च ।
एषः कायोत्सर्गे निक्षेपः षड्विधो ज्ञेयः ॥१४७॥

खरपरुषादिसावद्यनामकरणद्वारेणागतातीचारशोधनाय कायोत्सर्गो नाममात्रः, कायोत्सर्गो वा नामकायोत्सर्गः, पापस्थापनाद्वारेणा[२]गतातीचारशोधननिमित्त-कायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बता[३] स्थापनाकायोत्सर्गः सावद्यद्रव्यसेवाद्वारेणागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं वा द्रव्यकायोत्सर्गः, सावद्यक्षेत्रसेवनादागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा क्षेत्रकायोत्सर्गः ।

आचारवृत्ति—इस प्रकार मेरे द्वारा संक्षेप में यह प्रत्याख्यान निर्युक्ति कही गयी । अब आगे **कायोत्सर्ग निर्युक्ति** का कथन करूँगा । यह स्पष्ट अर्थ है ॥१४६॥

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह निक्षेप हैं । कायोत्सर्ग में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥१४७॥

आचारवृत्ति—तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त (सावद्य) नामकरण के द्वारा उत्पन्न हुए अतीचारों का शोधन करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह **नाम कायोत्सर्ग** है अथवा कायोत्सर्ग यह नामकरण करना नाम कायोत्सर्ग है । पापरूप स्थापना–अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतीचारों के शोधननिमित्त कायोत्सर्ग करना **स्थापना कायोत्सर्ग** है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत मुनि की प्रतिमा आदि स्थापना कायोत्सर्ग है । सदोष (सावद्य) द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतीचारों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह **द्रव्य कायोत्सर्ग** है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता किन्तु उसके उपयोग से रहित जीव और उसका शरीर ये द्रव्य कायोत्सर्ग हैं । सदोष क्षेत्र के सेवन से होने वाले अतीचारों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग **क्षेत्र कायोत्सर्ग** है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सेवित स्थान क्षेत्र कायोत्सर्ग है ।

---

१. क इति । नामादिभिः कायोत्सर्गं निरूपयितुमाह–१ ।
२. क ०णातीचार । ३. क० बिबंस्था०, ग. बिम्बस्थापना ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणत-सहितकालो वा कालकायोत्सर्गः, मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तसंज्ञानं जीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः, एवं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषय एष कायोत्सर्गनिक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति ॥१४७॥

कायोत्सर्गकारणमन्तरेण कायोत्सर्गः प्रतिपादयितुं न शक्यत इति तत्स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥१४८॥

कायोत्सर्गः कायोत्सर्गी कायोत्सर्गस्य कारणं चैव ।
एतेषां प्रत्येकं प्ररूपणा भवति त्रयाणामपि ॥१४८॥

कायस्य शरीरस्योत्सर्गः परित्यागः कायोत्सर्गः स्थितस्यासीनस्य सर्वांग-चलनरहितस्य शुभध्यानस्य वृत्ति कायोत्सर्गोऽस्यास्तीति कायोत्सर्गी असंयत-सम्यग्दृष्ट्यादिभव्यः कायोत्सर्गस्य कारणं हेतुरेव मे तेषां त्रयाणामपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ज्ञातव्येति ॥१४८॥

सावद्य काल के आचरण द्वारा उत्पन्न हुए दोषों का परिहार करने के लिए कायोत्सर्ग **काल-कायोत्सर्ग** है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सहित काल काल-कायोत्सर्ग है । मिथ्यात्व आदि अतीचारों के शोधन करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता तथा उसमें उपयोग सहित और उसके ज्ञान सहित जीवों के प्रदेश भी **भाव कायोत्सर्ग** है । इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक यह कायोत्सर्ग का निक्षेप छह प्रकार जानना चाहिए ॥१४७॥

कायोत्सर्ग के कारण बिना बताए कायोत्सर्ग का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है इसलिए उनके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारण—इन तीनों की भी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करते हैं ॥१४८॥

आचारवृत्ति—काय-शरीर का उत्सर्ग–त्याग कायोत्सर्ग है अर्थात् खड़े होकर या बैठकर सर्वांग के हलन-चलन रहित शुभ ध्यान की जो वृत्ति है वह कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्ग जिसके हैं वह कायोत्सर्गी है अर्थात् असंयत सम्यग्-दृष्टि संयतासंयत मुनि आदि भव्य जीव कायोत्सर्ग करने वाले हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तावत्कायोत्सर्गस्वरूपमाह—

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो ।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ।।१४९।।

व्युत्सृष्टबाहुयुगलश्चतुरंगुलांतरं समपादः ।
सर्वांगचलनरहितः कायोत्सर्गो विशुद्धस्तु ॥१४९॥

व्युत्सृष्टं त्यक्तं बाहुयुगलं यस्मिन्नवस्थाविशेषे सो व्युत्सृष्टबाहुयुगलः प्रलंबितभुजश्चतुरंगुलमन्तरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ । चतुरंगुलान्तरौ समौ पादौ यस्मिन्स चतुरंगुलान्तरसमपादः । सर्वेषामंगानां करचरणशिरोग्रीवाक्षिभ्रू विकारादीनां चलनं तेन रहितः सर्वांगचलनरहितः सर्वाक्षेपविमुक्तः, एवंविधस्तु विशुद्धः कायोत्सर्गो भवतीति ॥१४९॥

कायोत्सर्गिकस्वरूपनिरूपणायाह—

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो ।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ।।१५०।।

मोक्षार्थी जितनिद्रः सूत्रार्थविशारदः करणशुद्धः ।
आत्मबलवीर्ययुक्तः कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा ॥१५०॥

तथा कायोत्सर्ग के हेतु निमित्त को कारण कहते हैं । इन तीनों की प्ररूपणा आचार्य स्वयं करते हैं ॥१४८॥

पहले कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जो चार अंगुल के अन्तर से समपाद रूप है, जिसमें दोनों बाहु लटका दी गई हैं जो सर्वांग के चलन से रहित, विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग कहलाता है ॥१४९॥

आचारवृत्ति—जिस अवस्था विशेष में दोनों भुजाओं को लम्बित कर दिया है, पैरों में चार अंगुल अन्तर रखकर दोनों पैर समान किये हैं; जिसमें हाथ, पैर, मस्तक, ग्रीवा, नेत्र और भौंह आदि का विकार-हलन-चलन नहीं है, एवं जो आक्षेप से रहित है, इस प्रकार से जो विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग होता है ॥१४९॥

कायोत्सर्ग का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—मोक्ष का इच्छुक, निद्रा विजयी, सूत्र और उसके अर्थ में प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करने वाला होता है ॥१५०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमर्थयत इति मोक्षार्थी कर्मक्षयप्रयोजनः, जिता निद्रा येनासौ जागरणशीलः सूत्रञ्चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोर्विशारदो निपुणः सूत्रार्थविशारदः, करणेन क्रियाया परिणामेन शुद्धः करणशुद्धः आत्माहारशक्तिक्षयोपशमशक्तिसहितः कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा भवति ज्ञातव्य इति ॥१५०॥

कायोत्सर्गमधिष्ठातुकामः प्राह—

काउस्सग्गं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं ।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥१५१॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशकं घातिकर्म अतिचारं ।
इच्छामि अधिष्ठातुं जिनसेवितं देशितस्तस्मात् ॥१५१॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपकारकं घातिकर्मणां ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मणामतीचारं विनाशनं[१] घातिकर्मविध्वंसकमिच्छाम्याहमधिष्ठातुं यतः कायोत्सर्गो [२]जिनैर्देशितः सेवितश्च तस्मात्तमधिष्ठातुमिच्छामीति ॥१५१॥

आचारवृत्ति—जो मोक्ष को चाहता है वह मोक्षार्थी है अर्थात् कर्म क्षय करने के प्रयोजन वाला है । जिसने निद्रा को जीत लिया है वह जागरणशील है । जो सूत्र और उनके अर्थ तथा इन दोनों में निपुण है, जो तेरह प्रकार की क्रिया, करण और परिणाम से शुद्ध-निर्मल है, जो आत्मा की आहार से होने वाली शक्ति और कर्मों के क्षयोपशम की शक्ति से सहित है ऐसा विशुद्ध आत्मा है जिसका वह **कायोत्सर्गी** होता है ॥१५०॥

कायोत्सर्ग के अनुष्ठान की इच्छा करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जो मोक्षमार्ग का उपदेशक है, घातिकर्म का नाशक है, जिनेन्द्रदेव द्वारा सेवित है और उपदिष्ट है—ऐसे कायोत्सर्ग को मैं धारण करता हूँ ॥१५१॥

आचारवृत्ति—जो मोक्षमार्ग का उपदेश अर्थात् सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का उपकारक है, घातियाकर्मों का अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इनका नाश करने वाला है, ऐसे कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करना चाहता हूँ क्योंकि वह जिनेन्द्रदेवों द्वारा अनुभूत रहा है और उन्हीं के द्वारा कहा गया है ॥१५१॥

---

१. ग. विनाशकं । २. क जिनेन्द्रैर्देशितः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गस्य कारणमाह—

एगपदमस्सिदस्सवि जो अदिचारो तु रागदोसेहिं ।
गुत्तीहिं[१] वदिकमो[२] वा चदुहिं कसाएहिं व[३]वदेहिं ।।१५२।।

एकपदमाश्रितस्यापि यः अतिचारस्तु रागद्वेषाभ्यां ।
गुप्तीनां व्यतिक्रमो वा चतुर्भिः कषायैः वा व्रतेषु ॥१५२॥

एकपदमाश्रितस्यैकपदेन स्थितस्य योऽतीचारो भवति रागद्वेषाभ्यां तथा गुप्तीनां यो व्यतिक्रमः कषायैश्चतुर्भिः स्यात् व्रतविषये वा यो व्यतिक्रमः स्यात् ॥१५२॥

तथा—

छज्जीवणिकाएहिं भयमयठाणेहिं बंभधम्मेहिं[४] ।
काउस्सग्गं ठामिय तं कम्मणिघादणट्ठाए ।।१५३।।

षड्जीवनिकायैः भयमदस्थानैः ब्रह्मधर्मे ।
कायोत्सर्गं अधितिष्ठामि तत्कर्मनिघातनार्थं ॥१५३॥

षट्जीवनिकायैः[५] पृथिव्यादिकायविराधनद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा भयमदस्थानैः सप्तभयाष्टमदद्वारेण[५] यो व्यतिक्रमस्तथा ब्रह्मचर्यविषये यो व्यतिक्रमस्तेनाऽऽगतं यत्कर्मैकपदाद्याश्रितस्य गुप्त्यादिव्यतिक्रमेण च यत्कर्म तस्य कर्मणो

कायोत्सर्ग का कारण कहते हैं—

गाथार्थ—एक पद का आश्रय लेने वाले के जो अतिचार हुआ है, राग-द्वेष इन दो से तीन गुप्तियों में अथवा चार कषायों द्वारा वा पाँच व्रतों में जो व्यतिक्रम हुआ है (॥१५२॥) छह जीव निकायों से, सात भयों से, आठ मद स्थानों से, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति में और दशधर्मों में जो व्यतिक्रम हुआ है, इन सभी कर्मों का घात करने के लिए मैं कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करता हूँ ॥१५३॥

आचारवृत्ति—एक पैर से खड़े हुए जीव के जो अतिचार होता है, राग और द्वेष से जो व्यतिक्रम हुआ है, तीन गुप्तियों (मन, वचन, काय) का जो व्यतिक्रम हुआ है, चार कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के द्वारा पाँच व्रतों (अहिंसा, अस्तेय, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य) के पालने में जो व्यतिक्रम हुआ है (॥१५२॥) षट्काय (पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति, अग्नि और त्रस—इन)

---

१. क गुत्तीवदिक्कमो । २. अ. ब. वदिक्कमो ।
३. क. वदएहिं । ४. क ०भकम्पे० ।
५. ग. मदस्थानद्वारेण ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्घातनाय कायोत्सर्गमधितिष्ठामि कायोत्सर्गेण तिष्ठामीति सम्बन्धः, अथवैकपदस्थितस्यापि रागद्वेषाभ्यामतीचारो भवति यतः किं पुनर्भ्रमति ततो घातनार्थं कर्मणां तिष्ठामीति ॥१५३॥

पुनरपि कायोत्सर्गकारणमाह—

जे केई उवसग्गा देवमाणुसतिरिक्खचेदणिया ।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ।।१५४।।

ये केचन उपसर्गा देवमानुषतिर्यगचेतनिकाः ।
तान् सर्वान् अध्यासे कायोत्सर्गे स्थितः सन् ॥१५४॥

ये केचनोपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता अचेतना विद्युदशन्यादयस्तान् सर्वानध्यासे सम्यग्विधानेन सहेऽहं कायोत्सर्गे स्थितः सन्, उपसर्गेष्वागतेषु कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः कायोत्सर्गेण वा स्थितस्य यद्युपसर्गाः समुपस्थिताः भवन्ति तेऽपि सहनीया इति ॥१५४॥

कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ।।१५५।।

जीवों की विराधना के द्वारा जो व्यतिक्रम (अतिचार) हुआ है तथा सात भय, आठ मद के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, ब्रह्मचर्य के विषय में जो व्यतिक्रम हुआ है अर्थात् अतिचार हुआ है । अर्थात् इन अतिचारों से जो कर्माश्रव हुआ है, उन कर्मों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग को स्वीकार करता हूँ ॥१५३॥

कायोत्सर्ग के और भी कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत जो कोई भी उपसर्ग है, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मैं उन सबको सहन करता हूँ ॥१५४॥

आचारवृत्ति—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत—बिजली-वज्रपतादि, जो कोई भी उपसर्ग आने पर मैं समताभाव से सहन करता हुआ कायोत्सर्ग को करता हूँ, अथवा कायोत्सर्ग में स्थित रहने पर उपर्युक्त उपसर्गों के आने पर भी उन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करता हूँ । दोनों परिस्थितियों में कायोत्सर्ग की दृढ़ता निश्चित है ॥१५४॥

कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—एक वर्ष तक कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहुर्त का जघन्य होता है । शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में होते हैं ॥१५५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवत्सरमुत्कृष्टं भिन्नमुहूर्तं जघन्यं भवति ।
शेषाः कायोत्सर्गा भवंति अनेकेषु स्थानेषु ॥१५५॥

संवत्सरं द्वादशमासमात्रं उत्कृष्टं प्रमाणं कायोत्सर्गस्य । जघन्येन प्रमाणं कायोत्सर्गस्यान्तर्मुहूर्तमात्रं । संवत्सरान्तर्मुहूर्त्तमध्येऽनेकविकल्पा दिवसरात्र्यहोत्रादिभेदभिन्नाः शेषाः कायोत्सर्गा अनेकेषु स्थानेषु बहुस्थानविशेषेषु शक्त्यपक्षेया कार्याः, कालद्रव्यक्षेत्रभावकायोत्सर्गविकल्पा भवन्तीति ॥१५५॥

दैवसिकादिप्रतिक्रमणे कायोत्सर्गस्य प्रमाणमाह—

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया ।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥१५६॥

अष्टाशतं दैवसिकं कल्येर्धं पाक्षिकं च त्रीणि शतानि ।
उच्छ्वासाः कर्तव्या नियमांते अप्रमत्तेन ॥१५६॥

अष्टभिरधिकं शतमष्टोत्तरशतं[1] दैवसिके प्रतिक्रमणे दैवसिकप्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे उच्छ्वासानामष्टोत्तरशतं कर्त्तव्यं । **कल्लद्धं** रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपञ्चाशदुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये

आचारवृत्ति—बारह माह या संवत्सर अर्थात् एक वर्ष कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण है, अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य प्रमाण है । इन दोनों अर्थात् संवत्सर एवं अन्तर्मुहूर्त के बीच (मध्य) में दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि भेद रूप से ये सभी मध्यमकाल वाले कहलाते हैं । काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के अनेक भेद हो जाते हैं । अतः अपनी शक्ति की अपेक्षा से बहुत से स्थान विशेषों में ये कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१५५॥

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—अप्रमत्त साधु को वीर भक्ति में दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे-चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए ॥१५६॥

आचारवृत्ति—दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् छत्तीस बार (३६) णमोकार मंत्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग में चौवन (५४) उच्छ्वास अर्थात् अट्ठारह बार णमोकार मंत्र करना चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमांत–अर्थात् वीर

---

१. क ०अष्टशतं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि विधेयानि। नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[१] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या इति ॥१५६॥

चातुर्मासिकसांवत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[२] य पञ्चसदा।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥१५७॥

चातुर्मासिके चत्वारि शतानि संवत्सरे च पंचशतानि।
कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥१५७॥

भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को ये प्रमाद रहित होकर करना चाहिए, तथा विशेष में अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग में सत्ताईस (२७) उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ बार णमोकार मंत्र जपना चाहिए।

भावार्थ[३]—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में **चार भक्तियाँ** की जाती हैं- १. सिद्ध, २. प्रतिक्रमण, ३. वीर और ४. चतुर्विंशति तीर्थंकर। इनमें से तीन भक्तियों के कायोत्सर्ग में तो २७-२७ उच्छ्वास करने होते हैं, और वीर भक्ति में उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण में **ग्यारह भक्तियाँ** होती हैं। यथा—सिद्ध, चारित्र, सिद्ध, योगि, आचार्य, प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य। इनमें से नव भक्ति में सत्ताईस उच्छ्वास ही होते हैं तथा वीर भक्ति में तीन सौ उच्छ्वास होते हैं। एक बार णमोकार मंत्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं।

कायोत्सर्ग की विधि—'णमो अरिहंताणं' श्वास लेते हुए, श्वास छोड़ते हुए 'णमो सिद्धाणं'। अतः दो पदों के उच्चारण में एक श्वासोच्छ्वास, इसी तरह 'णमो आइरियाणं' एवं 'णमो उवज्झायाणं' इन दो पदों में एक श्वासोच्छ्वास और अन्त में पद, 'णमो लोए', श्वास लेते हुए, 'सव्वसाहूणं' श्वास छोड़ते हुए, एक श्वासोच्छ्वास में—इस तरह तीन श्वासोच्छ्वास में एक बार जप होता है ॥१५६॥

चातुर्मासिक और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ और सांवत्सरिक में पाँच सौ इस तरह इन पाँच स्थानों में कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥१५७॥

---

१. क ०विशेषेषु। २. क संवच्छराय।
३. मूलाचार (भा० ज्ञानपीठ संस्करण) भाग १, पृष्ठ ४८०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि । सांवत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासानां चिन्तनीयानि स्थातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्यः ॥१५७॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय ।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गम्मि कादव्वा ॥१५८॥

प्राणिवधे मृषावादे अदत्ते मैथुने परिग्रहे चैव ।
अष्टशतं उच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥१५८॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे चोच्छ्वासानामष्ठोत्तरशतं कर्त्तव्यं नियमान्ते[3] सर्वत्र द्रष्टव्यं शेषेषु पूर्ववदिति ॥१५८॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में पाँच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त-वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में होता है । शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए । इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का वर्णन पाँच स्थानों में किया गया है ॥१५७॥

शेष स्थानों में उच्छ्वास का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—प्राणिवध-हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह—इन दोषों-अतिचारों (पाँच पापों) के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् णमोकार मंत्र की एक माला फेरकर जप करना चाहिए ॥१५८॥

आचारवृत्ति—प्राणिवध के अतीचार में, असत्य भाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतिचार में, और परिग्रह के अतीचार में, कायोत्सर्ग करने में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए । नियमान्त में सर्वत्र कायोत्सर्ग जानना चाहिए । यहाँ भी वीर-भक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए ॥१५८॥

---

१. क पाण० । २. क प्राण० ।
३. ०न्तेषु ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु ।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ।।१५९।।

भक्ते पाने ग्रामांतरे च अर्हत् श्रमणशय्यायाम् ।
उच्चारे प्रस्रवणे पंचविंशतिः भवंति उच्छ्वासाः ॥१५९॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात् ग्रामादन्यग्रामो ग्रामान्तरे ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः तथार्हच्छय्यायां जिनेन्द्रनिर्वाणसमवसृतिकेवलज्ञानोत्पत्तिनिष्क्रामणजन्मभूमिस्थानेषु वन्दनाभक्तिहेतोर्गतेन पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्याः । तथा श्रमणशय्यायां निषद्यिकास्थानं गत्वाऽऽगतेन पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्यास्तथोच्चारे वहिर्भूमिगमनं कृत्वा प्रस्रवणे प्रस्रवणं च कृत्वा[१] यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र नियमेनेति ॥१५९॥

पुनः और भी कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन में, पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥१५९॥

आचारवृत्ति—भक्त में, पान में, गोचर में, प्रतिक्रमण के विषय में अर्थात् क्रमशः आहार चर्या से आने के बाद पच्चीस उच्छ्वासों के साथ कायोत्सर्ग करने होते हैं । एक गाँव से दूसरे गाँव (नगर) में जाने पर कायोत्सर्ग में पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए । इसी तरह पच्चीस उच्छ्वासों के साथ कायोत्सर्ग जिनेन्द्रदेव की निर्वाण, समवशरण, केवलज्ञान, निष्क्रमण और जन्मस्थान—ऐसी सभी पवित्र पञ्चकल्याणक भूमियों पर वन्दना, भक्ति आदि के साथ करना चाहिए । श्रमणशय्या अर्थात् मुनियों के निषद्या स्थान में जाकर आने से कायोत्सर्ग के पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए । तथा बहिर्भूमिगमन अर्थात् मल-मूत्र-विसर्जन के बाद नियम से पच्चीस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१५९॥

---

१. क कृत्वा यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र गतेन पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे नियमेन कर्तव्या इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे ।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ।।१६०।।

उद्देशे निर्देशे स्वाध्याये वंदनायां प्रणिधाने ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥१६०॥

उद्देशे ग्रन्थादिप्रारम्भकाले निर्देशे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ च कायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । तथा स्वाध्याये स्वाध्यायविषये कायोत्सर्गास्तेषु च सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्याः । तथा वन्दनायां ये कायोत्सर्गास्तेषु च प्रणिधाने च मनोविकारे चाशुभपरिमाणे तत्क्षणोत्पन्ने सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्त्तव्या इति ॥१६०॥

एवं प्रतिपादितक्रमं कायोत्सर्गं किमर्थमधितिष्ठन्तीत्याह—

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि ।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ।।१६१।।

कायोत्सर्गं ईर्यापथातिचारस्य मोक्षमार्गे ।
व्युत्सृष्टत्यक्तदेहाः कुर्वन्ति दुःखक्षयार्थं ॥१६१॥

ईर्यापथातीचारनिमित्तं कायोत्सर्ग मोक्षमार्गे स्थित्वा व्युत्सृष्टत्यक्तदेहाः सन्तः कुर्वन्ति दुःखक्षयार्थमिति ॥१६१॥

उसी तरह और भी बताते हैं—

गाथार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, वन्दना में और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए ॥१६०॥

आचारवृत्ति—उद्देश्य-ग्रन्थादि के प्रारम्भ करते समय, निर्देश-प्रारम्भ किए ग्रन्थादि की समाप्ति के समय सत्ताईस उच्छ्वासों के साथ कायोत्सर्ग करना चाहिए । स्वाध्याय के तथा वन्दना के कायोत्सर्गों में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए । इसी तरह प्रणिधान–मन के विकार के होने पर और अशुभ परिणाम के तत्क्षण उत्पन्न होने पर सत्ताईस उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१६०॥

इस प्रतिपादित क्रम से कायोत्सर्ग किसलिए करते हैं ? सो कहते हैं–

गाथार्थ—मोक्षमार्ग में स्थित होकर ईर्यापथ के अतीचार, शोधन हेतु शरीर से ममत्त्व छोड़कर साधु दुःखों के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥१६१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

भत्ते पाणे गामंतरे य [1]चदुमासियवरिसचरिमेसु ।
[2]णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ।।१६२।।*

भक्तं पानं ग्रामांतरं च चातुर्मासिकवार्षिकचरमान् ।
ज्ञात्वा तिष्ठंति धीरा अत्यर्थं दुःखक्षयार्थम् ॥१६२॥

भक्तपानग्रामान्तर चातुर्मासिकसांवत्सरिकचरमोत्तमार्थविषयं ज्ञात्वा कायोत्सर्गे तिष्ठति दैवसिकादिषु च धीरा अत्यर्थं दुःखक्षयार्थं नान्येन कार्येणेति ॥१६२॥

यदर्थं कायोत्सर्गं करोति तमेवार्थं चिन्तयतीत्याह—

काओसग्गह्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अदिचारं ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ।।१६३।।

और भी हेतु बताते हुए कहते हैं—

भोजन, पान, ग्रामान्तर गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इनको जानकर धीर मुनि अत्यर्थ रूप से दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ॥१६१-१६२॥

आचारवृत्ति—आहार, विहार, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन विषयों को जानकर धैर्यवान् साधु अतिशय रूप से दुःखक्षय के लिए दैवसिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाओं के कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं । अन्य कोई प्रयोजन (लौकिक) के लिए नहीं ॥१६१-१६२॥

साधु जिस लिए कायोत्सर्ग करते हैं उसी अर्थ का चिन्तवन करते हैं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग में स्थित हुआ साधु ईर्यापथ के अतिचार के विनाश का चिन्तवन करता हुआ उन सबको समाप्त करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तवन करें ॥१६३॥

---

* फलटन प्रति की गाथा में इससे यह अन्तर है—
एवं दिवसियराइयपक्खिय चादुम्मासियवरिसचरिमेसु ।
णादूण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ।।
अर्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ—इन सम्बन्धी प्रतिक्रमणों के विषय को जानकर धीर साधु दुःखों का अत्यन्त क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग धारण करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं ।

---

१. ग० चादु । २. क० काऊण वंति वीरा सणिदं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गे स्थितः चिंतयन् ईर्यापथस्य अतीचारं ।
तं सर्वं समानीय धर्मं शुक्लं च चिंतयतु ॥१६३॥

कायोत्सर्गे स्थितः सन् ईर्यापथस्यातीचारं विनाशं चिन्तयन् तं नियमं सर्वं निरवशेषं समाप्य समाप्तिं नीत्वा पश्चाद्धर्मध्यानं शुक्लध्यानं च चिन्तयत्विति ॥१६३॥

तथा—

तह दिवसयरादियपक्खियचादुम्मासियवरिसचरिमेसु ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥१६४॥

तथा दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचतुर्मासवर्षचरमान् ।
तं सर्वं समाप्य धर्मं शुक्लं च ध्यायेत् ॥१६४॥

एवं तथा ईर्यापथातीचारार्थं दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकोत्तमार्थान् नियमान् तान्[1] समाप्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं ध्यायेत्, न तावन्मात्रेण तिष्ठेदित्यनेनालस्याद्यभावः कथितो भवतीति ॥१६४॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में स्थित हुआ साधु ईर्यापथ के अतीचार के विनाश का चिन्तवन करते हुए उन सब नियमों को समाप्त करके पुनः धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अवलंबन लेवें ॥१६३॥

तथा—

गाथार्थ—उसी प्रकार से दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ—इन सब नियमों को समाप्त करके धर्म और शुक्लध्यान का चिन्तवन करें ॥१६४॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व की गाथा में ईर्यापथ के अतीचार के लिए बताया है वैसे ही दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ इन नियम प्रतिक्रमणों को समाप्त करके अर्थात् पूर्ण करके पुनः वह साधु धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्यावे, उतने मात्र से ही संतोष नहीं कर लेवे, इस कथन से आलस्य आदि का अभाव कहा गया है ॥१६४॥

---

१. ग० तान् सर्वान् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गस्य दृष्टं फलमाह—

काओसग्गह्मि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउस्सग्गस्स करणेण ।।१६५।।

कायोत्सर्गे कृते यथा भिद्यंते अंगोपांगसंधयः ।
तथा भिद्यते कर्मरजः कायोत्सर्गस्य करणेन ॥१६५॥

कायोत्सर्गे हि स्फुटं कृते यथा भिद्यन्तेंऽगोपांगसंधयः शरीरावयवास्तथा भिद्यते कर्मरजः कायोत्सर्गकरणेनेति ॥१६५॥

द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षमाह—

बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं ।
काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ।।१६६।।

बलवीर्यमासाद्य च क्षेत्रं कालं शरीरसंहननं ।
कायोत्सर्गं कुर्यात् इमांस्तु दोषान् परिहरन् ॥१६६॥

बलं वीर्यं चौषधाद्याहारशक्तिं वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वाऽऽश्रित्य क्षेत्रबलं कालबलं चाश्रित्य शरीरं व्याध्याद्यनमुपहतसंहननवज्रर्षभनाराचादिकमपेक्ष्य कायोत्सर्गं कुर्यात्, इमांस्तु कथ्यमानान् दोषान्परिहरन्निति ॥१६६॥

कायोत्सर्ग के प्रत्यक्ष फल को कहते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंग-उपांगों की संधियाँ मिट जाती हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मरज अलग हो जाता है ॥१६५॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग में हलन-चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं, वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है ॥१६५॥

गाथार्थ—बल, वीर्य, क्षेत्र, काल और शरीर के संहनन का आश्रय लेकर इन दोषों का परिहार करते हुए साधु कायोत्सर्ग करे ॥१६६॥

आचारवृत्ति—औषधि और आहार आदि से हुई शक्ति को **बल** कहते हैं तथा वीर्यान्तराय की क्षयोपशम की शक्ति को **वीर्य** कहते हैं। इन बल और वीर्य को देखकर तथा क्षेत्रबल और कालबल का भी आश्रय लेकर व्याधि से रहित शरीर एवं वज्रवृषभनाराच आदि संहनन की भी अपेक्षा करके साधु कायोत्सर्ग करें। तथा आगे कहे जाने वाले दोषों का परिहार करते हुए कायोत्सर्ग धारण करें। अर्थात् अपनी शरीर-शक्ति, क्षेत्र, काल आदि को देखकर उनके अनुरूप कायोत्सर्ग करें। अधिक शक्ति होने से अधिक समय तक कायोत्सर्ग में स्थिति रह सकती है। अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर कायोत्सर्ग करें ॥१६६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तान् दोषानाह—

घोडय लदा य खंभे कुड्डे माले य सबरवधू णिगले ।
लंबुत्तरथणदिट्ठी वायस खलिणे जुग कविट्ठे ।।१६७।।

घोटको लता च स्तंभः कुड्यं माला च शबरवधूर्निगडः ।
लंबोत्तरः स्तनदृष्टिः वायसः खलिनं युगं कपित्थं ।।१६७।।

घोडय घोटकस्तुरगः स यथा एकं पादमुत्क्षिप्य विनम्य वा तिष्ठति तथा यः कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य घोटकसदृशो **घोटकदोषः**, तथा लता इवांगानि चालयन्यः तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य **लतादोषः** । स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य **स्तंभदोषः** । स्तंभवत् शून्यहृदयो वा तत्साहचर्येण स एवोच्यते । तथा कुड्यमाश्रित्य कायोत्सर्गेण यस्तिष्ठिति तस्य **कुड्यदोषः** ।

साहचार्यादुपलक्षणमात्रमेतदन्यदप्याश्रित्य न स्थातव्यमिति ज्ञापयति, तथा मालापीठाद्युपरि स्थानं अथवा मस्तकादूर्ध्वं यत्तदाश्रित्य मस्तकस्योपरि यदि किञ्चिल्लगतिस्तथापि यदि कायोत्सर्गः क्रियते स **मालदोषः** ।

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष कहे जा रहे हैं—

गाथार्थ—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माला, शबरवधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलिन, युग और कपित्थ—ये कायोत्सर्ग के दोष हैं ।।१६७।। (शेष दोष आगे कहे जायेंगे—)

आचारवृत्ति—१. घोटक—घोड़ा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खड़ा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके 'घोटक' सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है ।

२. **लता**—लता के समान अंगों को हिलाते हुए जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह 'लता' दोष होता है ।

३. **स्तम्भ**—जो खम्भे का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं अथवा स्तंभ के समान शून्य हृदय होकर करते हैं उसके साहचर्य से यह वही दोष हो जाता है ।

४. **कुड्य**—भित्ती (दीवाल) का सहारा लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह 'कुड्य' दोष होता है । अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नहीं खड़ा होना चाहिए—ऐसा सूचित होता है ।

५. **माला**—माला-पीठ-आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जु वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह 'माला' दोष है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा शवरबधूरिव जंघाभ्यां जघनं निपीड्य कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य **शवरबधू-दोषः**, तथा निगडपीडित इव पादयोर्महदन्तरालं कृत्वा यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य **निगडदोषः**, तथा लम्बमानो नाभेरूर्ध्वभागो भवति वा कायोत्सर्गस्थ-स्योन्नमनमधोनमनं वा च भवति तस्य **लम्बोत्तरदोषो** भवति । तथा यस्य कायोत्सर्गस्थस्य स्तनयोर्दृष्टिरात्मीयौ स्तनौ यः पश्यति तस्य **स्तनदृष्टिनामा दोषः** । तथा यः कायोत्सर्गस्थो वायस इव काक इव पार्श्वं पश्यति तस्य **वायसदोषः** । तथा यः खलीनपीडितोऽश्व इव दन्तकटकटं मस्तकं कृत्वा कायोत्सर्गं करोति तस्य **खलीनदोषः** । तथा यो युगनिपीडितवलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य **युगदोषः** । तथा यः कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य **कपित्थदोषः** ॥१६७॥

---

६. **शबरबधू**—भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं से जंघाओं को पीड़ित करके जो कायोत्सर्ग से खड़े होते हैं उनके यह 'शबरबधू' नाम का दोष है ।

७. **निगड**—बेड़ी से पीड़ित हुए के समान पैरों में बहुत सा अन्तराल करके जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं, उनके यह 'निगड' दोष होता है ।

८. **लम्बोत्तर**—नाभि के ऊपर का भाग लम्बा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग में स्थित होकर शरीर को अधिक ऊँचा करना या अधिक झुकाना सो 'लम्बोत्तर' दोष है ।

९. **स्तनदृष्टि**—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके 'स्तनदृष्टि' नाम का दोष होता है ।

१०. **वायस**—कायोत्सर्ग में स्थित होकर कौवे के समान जो पार्श्वभाग को देखते हैं उनके 'वायस' दोष होता है ।

११. **खलीन**—लगाम से पीड़ित हुए घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते हैं उनको 'खलीन' दोष होता है ।

१२. **युग**—जूआ से पीड़ित हुए बैल की तरह गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह 'युग' नाम का दोष होता है ।

१३. **कपित्थ**—जो कपित्थ (कैथे) के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है ॥१६७॥ आगे और दोष कहते हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

सीसपकंपिय मुइयंह अंगुलि भूविकार वारुणीपेयी ।
काओसग्गेण ठिदो एदे दोसे परिहरेज्जो ।।१६८।।

शिरःप्रकंपितं मूकत्वं अंगुलिभ्रूविकारः वारुणीपायी ।
कायोत्सर्गेण स्थितः एतान् दोषान् परिहरेत् ॥१६८॥

शिरःप्रकंपितं कायोत्सर्गेण स्थितो यः शिरः प्रकंपयति चालयति तस्य **शिरःप्रकंपितदोषः, मुइयं** मूकत्वं मूक इव यः कायोत्सर्गेण स्थितो मुखविकारं नासिकाविकारं च करोति तस्य **मूकितदोषः,** तथा यः कायोत्सर्गेण स्थितोंऽगुलि-गणनां करोति **तस्यांगुलिदोषः,** तथा भूविकार भ्रूविकारः कायोत्सर्गेण स्थितो यो भ्रूविक्षेपं करोति तस्य **भ्रूविकारदोषः** पादांगुलिनर्त्तनं वा, तथा यो वारुणीपायीव-सुरापायीवेति घूर्णमानः कायोत्सर्गं करोति तस्य **वारुणीपायीदोषः,** तस्मादेतान् दोषान् कायोत्सर्गेण स्थितः सन् परिहरेद्वर्जयेदिति ॥१६८॥

तथेमांश्च दोषान् परहरेदित्याह—

आलोगणं दिसाणं गीवाउण्णामणं पणमणं च ।
णिट्ठीवणंगमरिसो काउसग्गह्मि वज्जिज्जो ।।१६९।।

गाथार्थ—शिरःप्रकम्पित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रूविकार और वारुणीपायी—ये दोष इस प्रकार हैं ॥१६८॥

आचारवृत्ति—१४. शिरःप्रकम्पित—कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कंपाते है उनके 'शिरःप्रकम्पित' दोष होता है ।

१५. मूकत्व—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविकार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके 'मूकत्व' दोष होता है ।

१६. अंगुलि—जो कायोत्सर्ग से स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है ।

१७. भ्रूविकार—जो कायोत्सर्ग से खड़े हुए भौहों को चलाते हैं या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हैं उनके 'भ्रूविकार' दोष होता है ।

१८. वारुणीपायी—मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके वारुणीपायी दोष होता है ॥१६८॥

गाथार्थ—दश दिशाओं का अवलोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन और अंगामर्श कायोत्सर्ग में दोष ॥१६९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोकनं दिशानां ग्रीवोन्नमनं प्रणमनं च ।
निष्ठीवनमंगामर्शं कायोत्सर्गे वर्जयेत् ॥१६९॥

कायोत्सर्गेण स्थितो दिशामालोकनं वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो ग्रीवोन्नमनं वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितः सन् प्रणमनं च वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो निष्ठीवनं षाट्करणं च वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितोंऽगामर्शं शरीरपरामर्शं वर्जयेदेतेऽपि दोषाः सन्त्यतो वर्जनीयाः । दशानां दिशामवलोकनानि दश दोषाः शेषा एकैका इति ॥१६९॥

यथा यथोक्तं कायोत्सर्गं[1] कुर्वन्ति तथाह—

णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च ।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥१७०॥

निःकूटं सविशेषं बलानुरूपं वयोनुरूपं च ।
कायोत्सर्गं धीराः कुर्वंति दुःखक्षयार्थम् ॥१७०॥

आचारवृत्ति—१९-२८. दिशा अवलोकन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना । पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः—इन **दस दशाओं के निमित्त से दस दोष** हो जाते हैं । ये दिशावलोकन दोष है ।

२९. ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर गरदन को अधिक ऊँची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है ।

३०. प्रणमन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए गरदन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना प्रणमन दोष है ।

३१. निष्ठीवन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर खखारना, थूकना यह निष्ठीवन दोष है ।

३२. अंगामर्श—कायोत्सर्ग में स्थित हुए शरीर का स्पर्श करना यह अंगामर्श' दोष है ॥१६९॥ इस प्रकार **कायोत्सर्ग के ये बत्तीस दोष** हैं ।

जिन विशेषताओं के कारण मुनि यथोक्त कायोत्सर्ग करते हैं, उन्हें बतलाते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल और उम्र के अनुरूप दुःखों के क्षय हेतु कायोत्सर्ग करते हैं ॥१७०॥

---

१. क० करोति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निःकूटं मायाप्रपंचान्निर्गतं, सह विशेषेण वर्त्तत इति सविशेषस्तं सविशेषं विशेषतासमन्वितं बलानुरूपं स्वशक्त्यनुरूपं, वयोऽनुरूपं च, बाल्ययौवनयार्द्ध-क्यानुरूपं तथा वीर्यानुरूपं कालानुरूपं च कायोत्सर्गं धीरा दुःखक्षयार्थं कुर्वन्ति तिष्ठन्तीति ॥१७०॥

मायां प्रदर्शयन्नाह—

जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाय समो ।
विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सो य जडो ॥१७१॥

यःपुनः त्रिंशद्वर्षः सप्ततिवर्षेण पारणेन समः ।
विषमश्च कूटवादी निर्विज्ञानी च स च जडः ॥१७१॥

यः पुनस्त्रिंशद्वर्षप्रमाणो यौवनस्थः शक्तः सप्ततिसंवत्सरेण सप्ततिसंवत्सरायुः-प्रमाणेन वृद्धेन निःशक्तिकेन पारणेनानुष्ठानेन कायोत्सर्गादिसमाप्त्या समः सदृश-शक्तिको निःशक्तिकेन सह यः स्पर्द्धां करोति सः साधुर्विषमश्च शान्तरुपो न भवति कूटवादी मायाप्रपंचतत्परो निर्विज्ञानी विज्ञानरहितश्चारित्रमुक्तश्च जडश्च मूर्खो, न तस्येहलोको नाऽपि परलोक इति ॥१७१॥

आचारवृत्ति—धीर मुनि दुःखों का क्षय करने के लिए माया प्रपंच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था के अनुरूप तथा अपने वीर्य के अनुरूप एवं काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं ॥१७०॥

कायोत्सर्ग में माया कैसे ? यह दिखलाते हैं—

गाथार्थ—जो साधु तीस वर्ष की वय वाला है पुनः सत्तर वर्ष वाले के कायोत्सर्ग से समानता करता है वह विषम (अशान्त), कूटवादी, अज्ञानी और मूढ़ है ॥१७१॥

आचारवृत्ति—जो मुनि तीस वर्ष की उम्र वाला है–युवावस्था में स्थित है, शक्तिमान है, फिर भी यदि वह सत्तर वर्ष वाले वृद्ध ऐसे अशक्त मुनि के कायोत्सर्ग आदि की समाप्ति रूप अनुष्ठान के साथ बराबरी करता है, अर्थात् आप शक्तिमान होते हुए भी अशक्त मुनि के साथ स्पर्द्धा करता है, वह साधु विषम-शान्तरूप नहीं है । जो साधु माया प्रपंच में तत्पर है, निर्विज्ञानी (विज्ञान रहित) और चारित्र रहित तथा मूर्ख है, उसका न इहलोक ही सुधरता है और न परलोक ही सुधरता है ॥१७१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्गस्य भेदानाह—

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव ।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ।।१७२।।

उत्थितोत्थित उत्थितनिविष्ट उपविष्टोत्थितश्चैव ।
उपविष्टनिविष्टोपि च कायोत्सर्गः चतुःस्थानः ॥१७२॥

उत्थितश्चासावुत्थितश्चोत्थितोत्थितो महतोऽपि महान्, तथोत्थितनिविष्टः पूर्वमुत्थितः पश्चान्निविष्ट उत्थितनिविष्टः, कायोत्सर्गेण, स्थितोप्यसावासीनो द्रष्टव्यः । उत्थितः, उपविष्टो भूत्वा स्थितो आसीनोऽप्यसौ कायोत्सर्गस्थश्चैव । तथोपविष्टो[1]ऽपि चासावासीनः । एवं कायोत्सर्गः चत्वारि स्थानानि यस्यासौ चतुःस्थानश्चतुर्विकल्प इति ॥१७२॥

उक्तं च (अमितगतिश्रावकाचारे-उपासकाचारे ८/५७-६१)—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता । उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥१॥
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते । उपविष्टोपवष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥२॥
[2]धर्मशुक्लद्वयं यत्रोपविष्टेन विधीयते । तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः ॥३॥

कायोत्सर्ग के चार भेद कहते हैं—

गाथार्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट-निविष्ट—ऐसे चार भेदरूप कायोत्सर्ग होता है ॥१७२॥

आचारवृत्ति—१. उत्थितोत्थित—दोनों प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अर्थात् जिसमें शरीर से भी खड़े हुए हैं और परिणाम (भाव) भी धर्म या शुक्ल ध्यान रूप हैं, यह कायोत्सर्ग महान् से भी महान् है । **२.** पूर्व में अत्थित और पश्चात् निविष्ट अर्थात् कायोत्सर्ग में शरीर से तो खड़े है फिर भी भावों से बैठे हुए हैं । (अर्थात् आर्त या रौद्रध्यान रूप भाव कर रहे हैं) इनका कायोत्सर्ग **उत्थित-निविष्ट** कहलाता है । **३.** जो बैठे हुए भी खड़े हुए हैं, (अर्थात् बैठकर पद्मासन से कायोत्सर्ग करते हुए भी जिनके परिणाम उज्जवल है) उनका वह कायोत्सर्ग **उपविष्टोत्थित** है । **४.** तथा जो शरीर से भी बैठे हुए हैं और भावों से भी, उनका वह कायोत्सर्ग **उपविष्टनिविष्ट** कहलाता है ।

इस तरह कायोत्सर्ग के चार विकल्प (भेद) हैं ॥१७२॥

---

१. क ०विष्टनिविष्टोऽपि चासावासीनादप्यासीनः ।
२. क० धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
तामासीनोत्थितां लक्ष्मां निगदन्ति महाधियः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते । तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः ॥४॥
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते । उत्थितोत्थितनाम्ना तामाभाषन्ते विपश्चितः[१] ॥५॥

उत्थितोत्थितकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि[२] झाणाणि जो ठिदो संतो ।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ।।१७३।।

धर्मं शुक्लं च द्वे ध्यायति ध्याने यः स्थितः सन् ।
एष कायोत्सर्गः इह उत्थितोत्थितो नाम ॥१७३॥

धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं द्वे ध्याने यः कायोत्सर्गस्थितः सन् ध्यायति तस्यैष इह कायोत्सर्ग उत्थितोत्थितो नामेति ॥१७३॥

तथोत्थितनिविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो ।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठिदो णाम ।।१७४।।

आर्तं रौद्रं च द्वे ध्यायति ध्याने यः स्थितः सन् ।
एष कायोत्सर्गः उत्थितनिविष्टो नाम ॥१७४॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्गे उत्थितनिविष्टनामेति ॥१७४॥

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु ।
एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम ।।१७५।।

धर्मं शुक्लं च द्वे ध्यायति ध्याने यो निषण्णस्तु ।
एष कायोत्सर्गः उपविष्टोत्थितो नाम ॥१७५॥

धर्म्यं शौक्ल्यं च द्वे ध्याने यो निविष्टो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्ग इहागमे उपविष्टोत्थितो नामेति ॥१७५॥

---

१. उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो ध्यान में खड़े हुए धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान—इन दो ध्यान करते हैं, उनका यह कायोत्सर्ग **'उत्थितोत्थित'** नाम वाला है ॥१७३॥

२. उत्थितनिविष्ट कायोत्सर्ग कहते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित हुए आर्त और रौद्र—इन दो ध्यान को ध्याते हैं, उनका यह कायोत्सर्ग **उत्थितनिविष्ट** नाम वाला है ॥१७४॥

---

१. क० उपासकाचारे उक्तमास्ते । २. अ० ब० ज्जायदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपविष्टोपविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु ।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ।।१७६।।

आर्तं रौद्रं च द्वे ध्यायति ध्याने यः निषण्णस्तु ।
एष कायोत्सर्गः निषण्णितनिषण्णितो नाम ॥१७६॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्टो नाम ॥१७६॥

कायोत्सर्गेण स्थितः शुभं मनःसंकल्पं कुर्यात् परन्तु कः शुभो मनः-संकल्प इत्याह—

दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे ।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ।।१७७।।

दर्शनज्ञानचारित्रे उपयोगे संयमे व्युत्सर्गे ।
प्रत्याख्याने करणेषु प्रणिधाने तथा च समितिषु ॥१७७॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु यो मनःसंकल्प उपयोगे ज्ञानदर्शनोपयोगे यश्चित्तव्यापारः संयमविषये यः परिणामः कायोत्सर्गस्य हेतोर्यत् ध्यानं प्रत्याख्यानग्रहणे यः परिणामः करणेषु पंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यकाविषये शुभयोगस्तथा प्रणिधानेषु धर्मध्यानादिविषयपरिणामः समितिषु समितिविषयः परिणामः ॥१७७॥

---

३. उपविष्टोत्थित का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग **उपविष्टोत्थित** नाम वाला है ॥१७५॥

४. उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए ध्यान में आर्त और रौद्र का ध्यान करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग **उपविष्टोपविष्ट** नाम वाला है ॥१७६॥

कायोत्सर्ग में स्थित मुनि शुभ मनःसंकल्प करें, तो पुनः शुभ मनःसंकल्प क्या है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र में, उपयोग में, संयम में, व्युत्सर्ग में, प्रत्याख्यान में, क्रियाओं में, प्रणिधान (धर्मध्यानादि परिणाम) में तथा समितियों में–॥१७७॥

विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुण और ब्रह्मचर्य में, छह जीवकायों में, क्षमा, निग्रह, आर्जव, मार्दव, मुक्ति, विनय तथा श्रद्धान में–॥१७८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा—

विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए ।
खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्तीविणए च सद्दहणे ।।१७८।।

विद्याचरणमहाव्रतसमाधिगुणब्रह्मचर्यषट्कायेषु ।
क्षमानिग्रहार्जवमार्दवमुक्तिविनयेषु च श्रद्धाने ॥१७८॥

विद्यायां द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषयः संकल्पः, आचरणे भिक्षाशुद्ध्यादिविषयः परिणामः, महाव्रतेषु अहिंसादिविषयपरिणामः, समाधौ विषयसंन्यसनेन पंचनमस्कारस्तवनपरिणामः, गुणेषु गुणविषयपरिणामः, ब्रह्मचर्ये मैथुनपरिहारविषयपरिणामः, षट्कायेषु पृथिवीकायादिरक्षणपरिणामः, क्षमायां क्रोधोपशमनविषयपरिणामः, निग्रह इन्द्रियनिग्रहविषयोऽभिलाषः, आर्जवमार्दवविषयः परिणामः, मुक्तौ सर्वसंगपरित्यागविषयपरिणामः, विनयविषयः परिणामः, श्रद्धानविषयः परिणामः ॥१७८॥

उपसंहरन्नाह—

एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो ।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ।।१७९।।

एवंगुणो महार्थः मनःसंकल्पः प्रशस्तो विश्वस्तः ।
संकल्प इति विजानीहि जिनशासनसंमतं सर्वं ॥१७९॥

मन का संकल्प होना, सो इन गुणों से विशिष्ट महार्थ, प्रशस्त और विश्वस्त संकल्प है । यह सब जिनशासन में सम्मत है—ऐसा जानो ॥१७९॥

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो मन का संकल्प है वह शुभसंकल्प है, ऐसे ही उयोग, ज्ञानोपयोग वा दर्शनोपयोग में जो चित्त का व्यापार, संयम के विषय में परिणाम, कायोत्सर्ग के लिए ध्यान, प्रत्याख्यान के ग्रहण में परिणाम तथा करण में अर्थात् पंचमरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया, आसिका और निवधिका इन तेरह क्रियाओं के विषय में शुभयोग तथा प्रणिधान-धर्मध्यान आदि विषयक परिणाम और समिति विषयक जो परिणाम है वह सब शुभ हैं ॥१७७॥

विद्या—द्वादशांग आगम और चौदह-पूर्व विषयक संकल्प, **आचरण**—भिक्षाशुद्धि आदि रूप परिणाम, **महाव्रत**—अहिंसा आदि पाँच महाव्रत विषयक परिणाम, **समाधि**—विषयों के संन्यसन अर्थात् त्याग, पंचनमस्कार स्तवनरूप परिणाम, गुणों में गुणविषयक परिणाम, ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन के त्यागरूप परिणाम, **षट्काय**—छह प्रकार के जीवनिकायों की रक्षा का परिणाम,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवंगुण पूर्वोक्तिमनःसंकल्पो मनःपरिणामः महार्थः कर्मक्षयहेतुः प्रशस्तः शोभनो विश्वस्तः सर्वेषां विश्वासयोग्यः संकल्प इत सम्यग्ध्यानमिति विजानीहि ।

जिनशासने सम्मतं सर्वं समस्तमिति, एवंविशिष्टं ध्यानं कायोत्सर्गेण स्थितस्य योग्यमिति ॥१७९॥

अप्रशस्तमाह—

परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाणहेऊ वा ।
लयणसयणासणं भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा ॥१८०॥

परिवारऋद्धिसत्कारपूजनं अशनपानहेतोर्वा ।
लयनशयनासनभक्तपानकामार्थहेतोर्वा ॥१८०॥

परिवारः पुत्रकलत्रादिकः शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिकः ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कारः कार्यादिष्वग्रतः करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतुः कारणं वा विकल्पार्थः ।

क्षमा—क्रोध के उपशमन विषयक परिणाम, **निग्रह**—इन्द्रियों के निग्रह की अभिलाषा, **आर्जव** और **मार्दव** रूप भाव, **मुक्ति**—सर्वसंग के त्याग का परिणाम, **विनय**—विनय का भाव और **श्रद्धान**—तत्त्वों में श्रद्धा रूप परिणाम—ये सब परिणाम शुभ (प्रशस्त) हैं ॥१७८॥

इन गुणों से विशिष्ट जो मन का संकल्प अर्थात् मन का परिणाम है वह महार्थ कर्म के क्षय में हेतु हैं, प्रशस्त-शोभन है और विश्वस्त-सभी के विश्वास योग्य है । यह संकल्प सम्यक् समीचीन ध्यान है ।

पूर्वोक्त ये सभी परिणाम जिनशासन को मान्य हैं । अर्थात् इस प्रकार का ध्यान कायोत्सर्ग से स्थित हुए मुनि के लिए योग्य (उचित) है—ऐसा जानो ॥१७९॥

अप्रशस्त (अशुभ) मनःपरिणाम कहते हैं—

गाथार्थ—परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजा अथवा भोजन-पान—इनके लिए अथवा लयन, शयन, आसन, भक्त, पान, काम और अर्थ—इन सबके लिए जो मनः परिणाम होते हैं, वे सब अप्रशस्त (अशुभ) हैं ॥१८०॥

आचारवृत्ति—पुत्र, कलत्र आदि अथवा शिष्य, सामान्य साधु व श्रावक आदि **परिवार** कहलाते हैं । हाथी, घोड़े, द्रव्य आदि का वैभव **ऋद्धि** है । किसी कार्य आदि में आगे करना **सत्कार** है, अर्चा करना **पूजन** है, भोजन आदि **अशन** है और सुगन्ध जल आदि **पान** है । इनके लिए कायोत्सर्ग करना अप्रशस्त है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेशः, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जन आत्मभक्तिर्वा, प्राणः सामर्थ्यं दशप्रकाराः प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं;

इत्येवंकारणेन कायोत्सर्गं यः करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं कायोत्सर्गं—यः करोति मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, यः कायोत्सर्गं करोति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु, मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतो यः कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च यः कायोत्सर्गः स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मनःसंकल्प इति ॥१८०॥

आणाणिद्देसपमाणकित्तिवण्णणपहावणगुणट्ठं ।
झाणमिणमप्पसत्थं मणसंकप्पो दुउवीसत्थो ।।१८१।।

आज्ञानिर्देशप्रमाणकीर्तिवर्णनप्रभावनगुणार्थं ।
ध्यानमिदमप्रशस्तं मनःसंकल्पस्तुऽविश्वस्तः ॥१८१॥

आज्ञा आदेशमन्तरेण नीत्वा वर्त्तनं । निर्देशः आदेशो वचनस्यानन्यथा करणं । प्रमाणं सर्वत्र प्रमाणीकरणं । कीर्त्तिः ख्यातिस्तस्या वर्णनं प्रशंसनं ।

उकेरे हुए पर्वत आदि के प्रदेश को **लयन** कहते हैं, पलंग, गद्दे आदि **शयन** है, वेत्रासन–मोढ़ा, सिंहासन, कुर्सी आदि **आसन** हैं । भक्ति से सहित लोग **भक्त** हैं अथवा आत्मभक्ति । सामर्थ्य को **प्राण** कहते हैं, प्राण दश प्रकार के होते हैं, मैथुन की इच्छा **काम** है, द्रव्य आदि का प्रयोजन **अर्थ** कहलाता है ।

जो मुनि इन कारणों के निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं–परिवार एवं विभूति के निमित्त, सत्कार-पूजा के निमित्त, भोजन-पान हेतु, लयन, शयन, आसन के लिए, भक्तजनों द्वारा मेरी भक्ति होवें, मेरी ख्याति फैले, मेरे प्राण-सामर्थ्य को लोग जानें, देव या मनुष्य मेरे प्राणों के रक्षक होवें, इन हेतुओं से जो कायोत्सर्ग करते हैं तथा कामहेतु और अर्थहेतु जो कायोत्सर्ग है वह सब कायोत्सर्ग अप्रशस्त मन का परिणाम है—ऐसा समझना चाहिए ॥१८०॥

गाथार्थ—आज्ञा, निर्देश, प्रमाणता, कीर्ति, प्रशंसा, प्रभावना, गुण और प्रयोजन—यह सब ध्यान अप्रशस्त हैं, ऐसा मनःसंकल्प (मन का परिणाम) *अविश्वस्त (अप्रशस्त) है ॥१८१॥*

आचारवृत्ति—आदेश के बिना आज्ञा लेकर वर्तन करें वह आज्ञा है । वचन को अन्यथा न करे अर्थात् कहे हुए वचन के अनुसार ही लोग प्रवृत्ति करें सो आदेश है । सभी स्थानों में प्रमाणभूत स्वीकार करें सो प्रमाणीकरण है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रभावनं प्रकाशनं । गुणाः शास्त्रज्ञातृत्वादयोऽर्थः प्रयोजनं, आज्ञां मम सर्वोऽपि करोतु निदेशं मम सर्वोऽपि करोतु प्रमाणीभूतं मां सर्वोऽपि करोतु मम कीर्त्तिवर्णनं सर्वोऽपि करोतु, मां प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मनःसंकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ॥१८१॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
संजमतवड्ढियाणं[1] णिग्गंथाणं महरिसीणं ॥१८२॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
संयमतपऋद्धिकानां निर्ग्रंथानां महर्षीणां ॥१८२॥

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन, संयमतपोवृद्धिमिच्छतां निर्ग्रन्थानां महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशंकनीयं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहणात्सूत्रवार्त्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ॥१८२॥

कीर्ति (ख्याति) से प्रशंसा होवे, प्रभावना, प्रकाशन होवे, शास्त्र के जानने आदि रूप गुण प्रगट होवें । प्रयोजन को **अर्थ** कहते हैं अतः यह हमारा प्रयोजन सिद्ध होवे अर्थात् सभी लोग मेरी आज्ञा का पालन करें, सभी लोग मेरे आदेश के अनुसार प्रवृत्ति करे, सभी मुझे प्रमाणीभूत स्वीकार करें, सभी लोग मेरी प्रशंसा करें, सभी लोग मेरी प्रभावना करें, सभी लोग मेरे गुणों का विस्तार करें—इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते हैं, उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है । इस प्रकार का मनःसंकल्प अविश्वस्त अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त है—ऐसा समझना चाहिए ॥१८१॥

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रंथ महर्षियों के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ॥१८२॥

आचारवृत्ति—संयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप में कही है । यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यों का संग्रह किया गया है तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है ॥१८२॥

---

१. अ० ब० संजमतवट्टयाणं, ग० तवड्ढयाणं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो ।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ।।१८३।।

सर्वावश्यकनिर्युक्तिः नियमात्
सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यः ।
अथ निश्शेषाणि करोति
न नियमाद् आवासका भवंति ॥१८३॥

आवश्यकानां फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्निर्युक्तः सम्पूर्णैरस्खलितैः समताद्यावश्यकैरुद्युक्तः परिणतो नियमात् निश्चयेन सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यो [1]भाविनिवर्त्तमानबहुप्रचारोऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सिद्धो भवति, अथवा सिद्ध एवं सर्वावश्यकैर्युक्तः सम्पूर्णो नान्य इति, अथ पुनः शेषात् स्तोकात् निर्गतानि निःशेषाणि[2] न स्तोकरहितानि सावशेषाणि न सम्पूर्णानि करोत्यावश्यकानि तदा तस्य नियमान्निश्चयात् आवासकाः[3] स्वर्गाद्यावासा भवन्ति, तेनैव भवेन न मोक्षः स्यादिति यदि सविशेषान्नियमात्करोति तदा तु सिद्धः कर्मक्षयसमर्थः स्यात्, अथ निर्विशेषान्नियमाच्छैथिल्यभावेन करोति तदा तस्य यतेर्नियमाः समतादिक्रिया

आगे षडावश्यक-चूलिका (षडावश्यक पालन का फल) कहते हैं—

गाथार्थ—सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते *हैं, ऐसा जानना । जो परिपूर्ण रूप नहीं करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास* करते हैं ॥१८३॥

आचारवृत्ति—आवश्यक क्रियाओं का फल कहते हैं—जो सम्पूर्ण अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं, वे निश्चय से सिद्ध होते हैं । अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का बहुप्रचार-उपचार है क्योंकि वे मुनि अंतर्मुहुर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं, अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से *युक्त हैं-सम्पूर्ण हैं, अन्य कोई नहीं । पुनः* जो निःशेष आवश्यकों को नहीं करते हैं वे निश्चय से स्वर्ग आदि में ही आवास करने वाले हो जाते हैं । उसी भव से उन्हें मोक्ष नहीं हो पाता, ऐसा अभिप्राय है ।

---

१. क० भाविनि भूतवदुपचारः अन्त° ।
२. क० न सम्पूर्णानि ।
३. क० °कात् स्वर्गादौ निवासो भवति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवासयन्ति प्रच्छादयन्तीति आवासका: प्रच्छादका: नियमाद्भवन्तीत्यर्थः । अथवा संसारे आवासयन्ति स्थापयन्तीत्यर्थः ॥१८३॥

अथवाऽऽवासकानामयमर्थ इत्याह—

आवासयं तु आवसएसु सव्वेसु अपरिहीणेसु ।
मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवासया होंति ।।१८४।।

आवासनं तु आवश्यकेषु सर्वेषु अपरिहीनेषु ।
मनोवचकायगुप्तोंद्रियस्य आवश्यका भवंति ॥१८४॥

मनोवचनकार्यैर्गुप्तानीन्द्रियाणि यस्यासौ मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्तस्य मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य सर्वेष्वाश्यकेष्वपरिहीणेष्वावसनमवस्थानं यत्तेन आवश्यका: साधोर्भवंति परमार्थतोऽन्ये पुनरावासका: कर्मागमहेतव एवेति ।

अथवा आवासयन्तु इति प्रश्नवचनं, आवश्यकानि सम्पूर्णानि कथंभूतस्य पुरुषस्य भवन्तीति प्रश्ने तत आह—सर्वेषु चापरिहीणेषु मनोवचनकाय-गुप्तेन्द्रियास्यावश्यकानि भवन्तीति निर्देश: कृत इति ॥१८४॥

यदि सविशेष रूप से आवश्यक करते हैं तब तो ये सिद्ध अर्थात् कर्मों के क्षय में समर्थ हो जाते हैं और यदि निर्विशेष (शिथिल) भाव से करते हैं तो उस यति के वे नियम-सामायिक आदि क्रियाएँ उसे आवासित-प्रच्छादित कर देते हैं, नियम से ऐसा होता है । अथवा उनका संसार में आवास कराते हैं । ऐसा समझना ॥१८३॥

अथवा आवासकों का अर्थ बतलाते हैं—

गाथार्थ—हीनता रहित सभी आवश्यकों में जो आवास करता है, वह ही मन, वचन, काय से इन्द्रियों को वश करने वाले आवश्यक होते हैं ॥१८४॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं, वशीभूत हैं वह मन-वचन-काय गुप्तेन्द्रिय अर्थात् त्रिकरण जितेन्द्रिय कहलाता है । उसका जो न्यूनता रहित सम्पूर्ण आवश्यकों में अवस्थान (रहना) है । उसी हेतु से साधु के परमार्थ से आवश्यक होते हैं, किन्तु अन्य जो हैं, वे आवासक अर्थात् कर्मागमन के हेतु ही हैं । अथवा

आवासयंतु' यहाँ प्रश्नवचन हैं कि ये आवश्यक किस पुरुष के सम्पूर्ण होते हैं ?

तब कहते हैं—तब पूर्वोक्त उत्तर निर्देश किया है अर्थात् जिनके मन-वचन-काय गुप्तेन्द्रिय वशीभूत हैं उनके ही आवश्यक परिपूर्ण होते हैं—ऐसा निर्देश है ॥१८४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यककरणविधानमाह—

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते यथुत्तकालह्मि ।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ।।१८५।।

त्रिकरणैः सर्वविशुद्धः द्रव्ये क्षेत्रे यथोक्तकाले ।
मौनेनाव्याक्षिप्तः कुर्यादावश्यकानि नित्यं ॥१८९॥

त्रिकरणैर्मनोवचनकायैः सर्वथा शुद्धो द्रव्यविषये क्षेत्रविषये यथोक्तकाले आवश्यकानि नित्यं मौनेनाव्याक्षिप्तः सन् कुर्याद्यतिरिति ॥१८५॥

अथासिकानिषिद्यकयोः किंलक्षणमित्याशंकायामाह—

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि ।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स ।।१८६।।

यो भवति निसितात्मा निषिद्यका तस्य भावतो भवति ।
अनिसितस्य निषिद्यका-शब्दो भवति केवलं तस्य ॥१८६॥

यो भवति निसितो बद्ध आत्मपरिणामो येनासौ निसितात्मा निगृहीतेन्द्रिय-कषायचित्तादिपरिणामोऽसौ निसितात्माऽथ वा निषिद्धात्मा सर्वथा नियमितमति-

---

आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—मन-वचन-काय रूप त्रिकरण से सर्व विशुद्ध हो, द्रव्य में, क्षेत्र में और आगम-कथित काल में मौनपूर्वक निराकुल चित्त होकर नित्य ही आवश्यकों को करें ॥१८५॥

आचारवृत्ति—मन, वचन, काय से सर्वथा शुद्ध हुए मुनि द्रव्य के विषय में, क्षेत्र के विषय में तथा आगम में कहे गए काल में निराकुलचित्त होकर नित्य ही मौन पूर्वक आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करें ॥१८५॥

आसिका और निषिद्यका का क्या लक्षण है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो निसितात्मा (निसमित आत्मा) है उसके **भाव से** निषिद्यका होती है । जो अनियंत्रित है उसके निषिद्यका **शब्द मात्र** से होता है ॥१८६॥

आचारवृत्ति—जिसने अपनी आत्मा के परिणाम को बाँधा (रोका) हुआ है, वह निसितात्मा है, अर्थात् जिसने इन्द्रिय, कषाय और चित्त आदि परिणाम का निग्रह किया हुआ है । अथवा निषिद्धात्मा अर्थात् जिनकी सर्वथा नियमित-नियंत्रित मति है ऐसे मुनि निषिद्धात्मा है । ऐसे मुनि के भाव से निषिद्यका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तस्य भावतो निषिद्यका भवति । [1]अनिषिद्धस्य स्वेच्छाप्रवृत्तस्यानिषिद्धात्मनश्चल-चित्तस्य कषायादिवशवर्त्तिनो निषिद्यका शब्दो भवति केवलं शब्दमात्रकरणं तस्येति ॥१८६॥

आसिकार्थमाह—

आसाए विप्पमुक्कस्स आसिया होदि भावदो ।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं ॥१८७॥

आशया विप्रमुक्तस्य आसिका भवतिः भावतः ।
आशया अविप्रमुक्तस्य शब्दो भवति केवलम् ॥१८७॥

आशया कांक्षया विविधप्रकारेण मुक्तस्य आसिका भवति भावतः परमार्थतः, आशया पुनरविप्रमुक्तस्यासिकाकरणं शब्दो भवति केवलं, किमर्थमासिका निषिद्यकयोरत्र निरूपणमिति चेन्न त्रयोदशकरणमध्ये पठितत्वात्, यथाऽत्र पंचनमस्कारनिरूपणं षडावश्यकानां च निरूपणं कृतमेवमनयोरप्यधिकारात् भवतीति नामस्थाने निरूपणमनयोरिति ॥१८७॥

होती है । किन्तु जो अनिषिद्ध हैं अर्थात् स्वेच्छा से प्रवृत्ति करने वाले हैं, जिनका चित्त चंचल है, जो कषाय से वशीभूत हो रहे हैं उनके निषिद्यका शब्द केवल शब्दमात्र ही है ॥१८६॥

आसिका का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—आशा से रहित मुनि के भाव से आसिका होती है, किन्तु आशा से सहित मुनि के शब्द मात्र होती है ॥१८७॥

आचारवृत्ति—आशा अर्थात् कांक्षा से जो विविध प्रकार से मुक्त हैं–उनके परमार्थ (भाव) से आसिका होती है, किन्तु जो आशा से मुक्त नहीं हुए हैं उनके आसिका करना केवल शब्द मात्र ही है ।

प्रश्न—यहाँ पर आसिका और निषिद्यका का निरूपण क्यों किया ? इसलिए किया है, क्योंकि तेरह प्रकार के करण में इनको लिया गया है । जिस प्रकार से यहाँ पर पंच-नमस्कार का निरूपण किया गया है और छह आवश्यक क्रियाओं का निरूपण किया गया है । उसी प्रकार से यहाँ पर इन दोनों का भी अधिकार है । इसलिए नाम के स्थान पर इनका निरूपण किया है ॥१८७॥

---

१. क० अनिसितस्य ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चूलिकामुपसंहरन्नाह—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ।।१८८।।

निर्युक्तेर्निर्युक्तिः एषा कथिता मया समासेन ।
अथ विस्तारप्रसंगो अनियोगात् भवति ज्ञातव्यः ॥१८८॥

निर्युक्तेर्निर्युक्तिरावश्यकचूलिकावश्यकनिर्युक्तिरेषा[1] कथिता मया समासेन संक्षेपेणार्थविस्तारप्रसंगोऽ**नियोगादाचारांगाद्भवति** ज्ञातव्य इति ॥१८८॥

आवश्यकनिर्युक्ति सचूलिकामुपसंहरन्नाह—

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ।।१८९।।

आवश्यकनिर्युक्तिः एवं कथिता समासतो विधिना ।
यः उपयुंक्ते नित्यं सः सिद्धिं याति विशुद्धात्मा ॥१८९॥

चूलिका का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति कही है और विस्तार रूप से **अनियोग** ग्रन्थों से जानना चाहिए ॥१८८॥

आचारवृत्ति—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति अर्थात् आवश्यक-चूलिका की आवश्यक निर्युक्ति कही है । यदि आपको विस्तार से अर्थ जानना है तो **अनियोग-आचारांग** से जानना चाहिए ॥१८८॥

चूलिका सहित **आवश्यक-निर्युक्ति का उपसंहार** करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह मैंने विधिवत् संक्षेप में आवश्यक निर्युक्ति कही है । जो नित्य ही इनका आचरण (प्रयोग) करता है वह सर्वकर्म रहित-विशुद्ध-आत्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥१८९॥

---

१. क ०क्तिन्याये वा एषा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्तिरेवंप्रकारेण कथिता समासतः संक्षेपतो विधिना, तां य उपयुंक्ते समाचरति नित्यं सर्वकालं स सिद्धिं याति विशुद्धात्मा सर्वकर्मनिर्मुक्त इति ॥१८९॥

॥ इति श्रीवट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारस्य वसुनंद्याचार्य-विरचितायाम् आचारवृत्तावावश्यकनिर्युक्तिः ॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार संक्षेप में मैंने (वट्टकेर ने) विधिपूर्वक आवश्यक निर्युक्ति कही है जो मुनि सर्वकाल इस रूप आचरण करते हैं, वे विशुद्ध-आत्मा सर्वकर्म से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त कर लेते हैं ॥१८९॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रेष्ठ श्री वट्टकेर प्रणीत "मूलाचार" (शौरसेनी प्राकृत भाषा के इस आगम शास्त्र की आचार्यश्री वसुनन्दि द्वारा रचित "आचारवृत्ति" नामक संस्कृत टीका सहित "आवश्यक निर्युक्ति" नामक यह आगम शास्त्र सम्पूर्ण हुआ ॥

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

जैन श्रमण के षड्-आवश्यक : एक तुलनात्मक अध्ययन

आवश्यक का स्वरूप—

जैन परम्परा में श्रमण (मुनि या साधु) के आचार के अन्तर्गत षड्-आवश्यक क्रियाओं का बहुत ही महत्त्व है। आध्यात्मिक विकास के लिए प्रतिदिन अवश्य-करणीय क्रियाओं एवं कर्त्तव्यों को आवश्यक (आवस्सय) कहते हैं। "अवश" शब्द का सामान्य अर्थ है अकाम, अनिच्छु, स्वतन्त्र[1], राग-द्वेषादि तथा इन्द्रियों की पराधीनता से रहित होना। तथा ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति की नित्य अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। इसीलिए आचार्य वट्टकेर ने कहा है—"ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं त्ति बोधव्वा" (आ.नि. १४) अर्थात् जो राग-द्वेष आदि विकारों के वशीभूत नहीं होता, वह 'अवश' है तथा उस अवश का आचरण या कर्त्तव्य आवश्यक कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही बात कही है। साथ ही यह भी कह दिया कि यह आवश्यक, कर्मों का विनाशक, योग और निर्वाण (निवृत्ति) का मार्ग तो है ही, साथ ही[2] ये आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं। आचार्य जिन-भद्रगणि ने **"आवश्यक" शब्द के पर्यायवाची दस नामों** का उल्लेख किया है—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्धि, षडध्ययन, वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।[3]

आवश्यक के भेद—

मूलाचार में श्रमण को दीक्षा के समय जिन अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करना आवश्यक होता है, उनमें छह आवश्यक भी हैं।

अट्ठाईस मूलगुण इस प्रकार हैं—१. पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। **२. पाँच समिति**—ईर्या, भाषा, एषणा,

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो-पृष्ठ ८३।

२. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं मणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति णिज्जुत्तो॥ नियमसार १४१॥

३. आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो॥ विशेषावश्यक भाष्य. ८७२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका। **३. पाँच इन्द्रिय निग्रह**—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन। **४. छह आवश्यक**—सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।[१] **५. शेष सात मूलगुण**—केशलोच, आचेलक्य (नग्नता या दिगम्बरवेष), अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त (खड़े होकर दिन में मात्र एकबार यथा-समय करपात्र में आहार ग्रहण करना)।

पूर्वोक्त अट्ठाईस मूलगुणों में आवश्यक के छह भेद भी द्रष्टव्य हैं। अर्धमागधी श्वेताम्बर परम्परा के इन छह आवश्यकों में पंचम कायोत्सर्ग और षष्ठ प्रत्याख्यान का क्रम है। यद्यपि मूलाचार की तरह श्वेताम्बर जैन श्रमणों के लिए ये निर्धारित अट्ठाईस मूलगुण निर्धारित तो नहीं है, किन्तु महाव्रत, समिति, गुप्ति एवं छह आवश्यक—ये सब तथा अन्यान्य नियमों का पालन तो इन दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैन मुनियों को अनिवार्य है ही। इतना ही नहीं, ये छह आवश्यक तो दोनों परम्पराओं के श्रमणों और श्रावकों के लिए अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार प्रतिदिन आवश्य-करणीय बतलाया गया है। पूर्वोक्त छह आवश्यकों का क्रमशः स्वरूप-विवेचन प्रस्तुत है—

१. सामायिक आवश्यक

सामायिक का स्वरूप—प्रथम आवश्यक को मूलाचारकार ने समता (समदा) और सामायिक (सामाइय)—इन दोनों नामों से उल्लिखित किया है।[२] जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके समभाव रखना समता है। इस प्रकार के भाव को सामायिक कहते हैं।[३] अपराजितसूरि ने कहा है—जिसका मन 'सम' है वह समण तथा समण का भाव 'सामण्ण' (श्रामण्य) है। किसी भी वस्तु में राग-द्वेष का अभाव रूप समता 'सामण्ण' है। सामण्ण को ही समता कहते हैं,[४] वही सामायिक है। वस्तुतः सावद्ययोग (असत् प्रवृत्तियों) से निवृत्ति को सामायिक कहते हैं।

---

१. सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काउस्सग्गो हवदि छट्ठो॥ मूला० आवश्यक निर्युक्ति गाथा १५।

२. मूलाचार १/२२, ७/१५।

३. (क) जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम॥ मूलाचार १/२३,
(ख) 'समदा' समभावः जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगसुखदुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणं—भगवती आराधना वि. टीका गाथा ७०।

४. समणो समानमणो समणस्स भावो सामण्णं क्वचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। अथवा सामण्णं समता। वही गाथा ७१।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए केशववर्णी ने लिखा है—'सम' अर्थात् एकत्वरूप से आत्मा में 'आय' अर्थात् आगमन को समाय कहते हैं। इस दृष्टि से परद्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में प्रवृत्ति का नाम समाय है। अथवा 'सं' या सम—अर्थात् राग-द्वेष से अवाधित मध्यस्थ आत्मा में 'आय' उपयोग की प्रवृत्ति समाय है। यह प्रयोजन जिसका है वह सामायिक है।[१] इसी प्रकार अनगारधर्मामृत में भी कहा है—समाये भवः सामायिकम्—अर्थात् सम-राग-द्वेष-जनित इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से रहित जो 'आय' अर्थात् ज्ञान है वह समाय है, उस समाय में होने वाला भाव सामायिक है।[२]

ये सामायिक शब्द के निरुक्तार्थ हैं तथा समता में परिणत होना वाच्यार्थ है। मूलाचारकार के अनुसार सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप—इनके द्वारा प्रशस्त रूप से आत्मा के साथ समगमन अर्थात् ऐक्यभाव का होना समय है। इसी समय को सामायिक कहते हैं।[३] अर्थात् इन क्रियाओं से परिणत आत्मा ही सामायिक है।

उद्देश्य—इस प्रकार जब साधक सावद्ययोग से विरत होकर षट्काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन-वचन-काय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त है, यतना में विचरण करता है उस आत्मा का नाम सामायिक है।[४] **उत्तराध्ययनसूत्र** के एक प्रश्नोत्तर में कहा है—जीव को सामायिक से क्या प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में कहा है—सामायिक से जीव सावद्य योगों (असत् प्रवृत्तियों) से विरति को प्राप्त होता है।[५]

वस्तुतः आत्मोत्कर्ष जैसे उत्तम उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समभाव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि समभाव का अभ्यास किये बिना ध्यान नहीं होता, ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति नहीं होती, अतः समभाव और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और घटक भी।[६] जिस प्रकार चन्दन अपने काटनेवाले को भी सुगन्धित कर देता है, उसी

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा ३६८।
२. अनगारधर्मामृत टीका—१८/१९।
३. सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं प्रसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेय सामाइयं जाण॥ मूलाचार ७/१८।
४. आवश्यक निर्युक्ति १४९।
५. उत्तराध्ययन २९/८।
६. न साम्येन बिना ध्यानं न ध्यानेन बिना च तत्।
निष्कम्प जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम्॥–योगशास्त्र (आ० हेमचन्द्र) ४/११४.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तरह विरोधी के प्रति भी समभाव की सुगन्ध अर्पित करने वाले महात्माओं को तो सामायिक मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट अंग है ।[१]

त्रस व स्थावर आदि सभी प्राणियों में जो समभाव युक्त है[२] राग और द्वेष जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं करते, जिसने क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है—ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवान् के शासन में कहा गया है ।[३] इसीलिए सावद्ययोग (असत्प्रवृत्ति) का वर्जन करने के उद्देश्य से जिनेन्द्र भगवान् ने सामायिक को प्रशस्त उपाय बताया है ।[४]

सामायिक के भेद—आगमों विशेषकर निर्युक्तियों में किसी भी विषय या वस्तु के विवेचन का निक्षेप पूर्वक कथन करने का विधान है । इससे अप्रकृत का निराकरण होकर प्रकृत का निरूपण होता है । इस दृष्टि से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये सामायिक के छह निक्षेप दृष्टि से भेद हैं ।[५] क्योंकि निक्षेप दृष्टि से सामायिक के विषय में इन छह का आलम्बन किया जा है ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) नाम सामायिक—शुभ, अशुभ नाम सुनकर राग-द्वेष न करना नाम सामायिक है ।[६] सामायिक में स्थित श्रमण को चिन्तन करना चाहिए कि कोई मेरे विषय में शुभाशुभ शब्दों का प्रयोग करता है तो उसमें रति-अरति (राग-द्वेष) करने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि शब्द मेरा स्वरूप नहीं है ।[७]

(२) स्थापना सामायिक—शुभ-अशुभ आकारयुक्त प्रमाण-अप्रमाण युक्त अवयवों से पूर्ण-अपूर्ण, तदाकार-अतदाकार स्थापित मूर्तियों में राग-द्वेष न करना स्थापना सामायिक है ।[८]

(३) द्रव्य सामायिक—सोना, चाँदी, मोती, माणिक, मिट्टी, लकड़ी, लोहा, काँटे, पत्थर तथा अन्यान्य सचित्त और अचित्त द्रव्यों के प्रति समदृष्टि होना अर्थात् राग-द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है ।[९] आचार्य वसुनन्दि ने द्रव्य सामायिक के निम्नलिखित भेदों का उल्लेख किया है[१०]—

---

१. अष्टक प्रकरण (आ० हरिभद्र) २९/१ ।
२. जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ मूलाचार ७/२५.
३. वही ७/२६, २७ ।
४. सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं—मूलाचार ७/३३ ।
५. वही ७/१७ । ६. मूलाचार वृत्ति ७/१७ ।
७. अनगार धर्मामृत ८/२१ । ८-१०. मूलाचार वृत्ति ७/१७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमत: **द्रव्य सामायिक** के दो भेद हैं—

१. आगम द्रव्य-सामायिक—जैसे कोई व्यक्ति सामायिक का स्वरूप कहने वाले शास्त्र का जानने वाला हो किन्तु वह वर्तमान काल में उस शास्त्र में उपयोग नहीं रख रहा हो वह आगम-द्रव्य-सामायिक है ।

२. नोआगम द्रव्यसामायिक—इसके तीन भेद हैं—भूत-ज्ञायकशरीर, भावी नोआगम और तद्-व्यतिरिक्त । इनमें सामायिक के स्वरूप को जानने वाले के शरीर को ज्ञायकशरीर कहते हैं । इसके भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन भेद हैं । **इनमें प्रथम भूतज्ञायक शरीर** च्युत, च्यावित और त्यक्त रूप में तीन प्रकार का है । इनमें **१. च्युत**—भूतज्ञायक शरीर से तात्पर्य जो सामायिकशास्त्र के ज्ञाता का भूत शरीर दूसरे किसी कारण के बिना केवल आयु के पूर्ण होने पर नष्ट हुआ हो । जैसे पके हुए फल का गिरना । **२. च्यावित**—जिस ज्ञायक का भूत शरीर कदलीघात की तरह किसी बाह्य निमित्त से नष्ट हो गया हो किन्तु सन्यास विधि से रहित हो उसे च्यावित कहते हैं । **३. त्यक्त**—त्यक्त शरीर से तात्पर्य जिस शरीर को कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना सन्यासरूप परिणामों से छोड़ दिया हो ।

त्यक्त शरीर के भी भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोग्य (प्रायोपगमन)—ये तीन भेद हैं—

१. भक्त-प्रत्याख्यान का अर्थ है भोजन न लेने की प्रतिज्ञा लेकर संन्यास-मरण पूर्वक शरीर का छोड़ा जाना । इसमें भी उत्तम भक्तप्रत्याख्यान का समय बारह वर्ष, जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा दोनों के मध्य का काल मध्यम-भक्तप्रत्याख्यान का समय है ।

२. इंगिनीमरण का अर्थ है अपने शरीर की टहल आप ही अपने अंगों से करे किसी दूसरे से रोगादिक का उपचार न करावे—इस विधान से जो संन्यास धारण करके मरण को प्राप्त हो ।

३. प्रायोपगमन मरण—जिसमें अपने तथा दूसरों के द्वारा भी उपचार न हो अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे और न दूसरों से करावे—ऐसे संन्यासमरण को प्रायोपगमनमरण कहते हैं ।

ज्ञायक शरीर के द्वितीय भेद भविष्यतज्ञायक शरीर का अर्थ है सामायिक शास्त्र का ज्ञाता जिस शरीर को आगामी काल में धारण करेगा तथा वर्तमान ज्ञायक शरीर से तात्पर्य जिस शरीर को वह धारण किये हुए हो ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नोआगम द्रव्यसामायिक के ही अन्तर्गत जो सामायिक शास्त्र का जानने वाला आगे होगा वह **द्वितीय भेद—भावी नोआगम द्रव्यसामायिक** है । तथा नो-आगम द्रव्यसामायिक का **तृतीय भेद—'तद्व्यतिरिक्त'** के भी दो भेद हैं— कर्म और नोकर्म ।

इनमें ज्ञानावरणादि मूलप्रकृति रूप अथवा मतिज्ञानावरणादि उत्तर-प्रकृति स्वरूप परिणमता हुआ कार्माण वर्गणा रूप पुद्गलद्रव्य **कर्मतद्व्यतिरेक नोआगम द्रव्यसामायिक** है । तथा कर्म-स्वरूप द्रव्य से भिन्न जो पुद्गल द्रव्य (शरीरादि) है, वह **नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यसामायिक** है । इसके भी तीन भेद हैं १. सचित्त (उपाध्यायादि), २. अचित्त (पुस्तकादि) और ३. मिश्र-(उभयरूप) ।

द्रव्य सामायिक के उपर्युक्त भेद-प्रभेदों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझा जा सकता है—

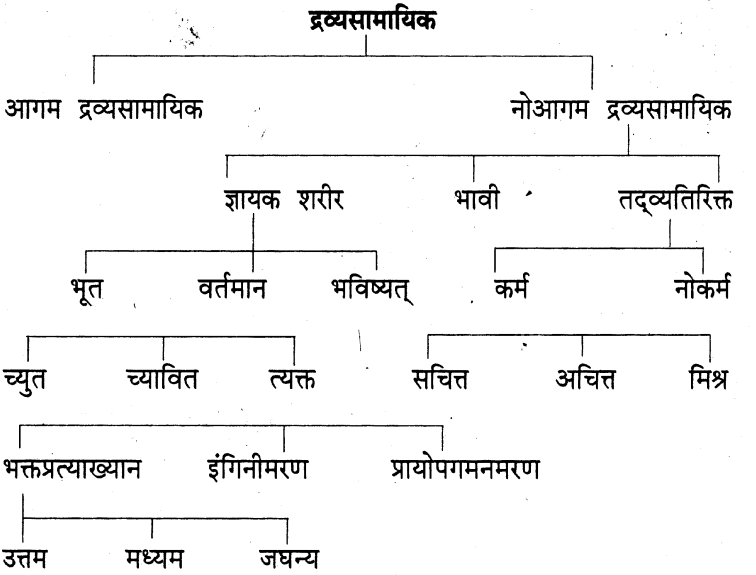

(४) क्षेत्र सामायिक—रम्य क्षेत्र जैसे बगीचा, नगर, नदी, कूप, बावड़ी, तालाब, ग्राम, जनपद, नगर, देश आदि में राग और रूक्ष एवं कंटकयुक्त क्षेत्र आदि विषम कारणों में द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है ।[१]

---

१. मूलाचारवृत्ति १/१७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) काल सामायिक—पावस, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म—इन छह ऋतुओं, रात-दिन, कृष्ण-शुक्ल पक्ष आदि काल विशेषों में राग-द्वेष रहित होना काल सामायिक है ।[१]

(६) भाव सामायिक—समस्त जीवों के प्रति अशुभ-परिणामों का त्याग एवं मैत्री भाव-धारण करना भाव सामायिक है ।[२] सम्पूर्ण कषायों का निरोध तथा मिथ्यात्व को दूरकर छह द्रव्य विषयक निर्बाध, अस्खलित ज्ञान को भी भाव सामायिक कहते हैं ।

सामायिक करने की विधि और समय—मूलाचारकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक अंजुलि को मुकुलित करके (अंजुलिपूर्वक हाथ जोड़कर) स्वस्थ बुद्धि से स्थित होकर अथवा एकाग्र-मनपूर्वक आकुलता अर्थात् उलझन रूप विकार रहित मन से आगमानुसार क्रम से भिक्षु को सामायिक करने का निर्देश है ।[३] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक सामायिक में बैठना चाहिए । पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न—इन तीन कालों में छह-छह घड़ी सामायिक करना चाहिए ।[४]

जयधवला के अनुसार तीनों ही सन्ध्याओं का पक्ष और मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग सभी कषायों का निरोध करके सामायिक करना चाहिए ।[५]

अर्धमागधी परम्परा के "आवश्यक निर्युक्ति" में कहा गया है कि—"मैं सामायिक करता हूँ, यावज्जीवन सब प्रकार के सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूँ, उससे निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, अपने आपका त्याग करता हूँ । मैंने दिन भर में यदि व्रतों में अतिचार लगाया हो, सूत्र अथवा मार्ग के विरुद्ध आचरण किया हो, दुर्ध्यान किया हो, श्रमणधर्म की विराधना की हो तो वह सब मिथ्या हो । जब तक मैं अर्हन्त भगवान् के नमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर कायोत्सर्ग न करूँ, तब तक मैं अपनी काया को एक स्थान पर रखूँगा, मौन रहूँगा,

---

१-२. मूलाचारवृत्ति १/१७ ।

३. पडिलिहियअंजलिकरो उपजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥ मूलाचार ७/३९.

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३५२, ३५४ ।

५. कसाय पाहुड जयधवला १/१/१/८१, पृष्ठ ९८ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान में स्थित रहूँगा ।''[१] इस प्रकार सावद्ययोग के वर्जन हेतु सामायिक प्रशस्त उपाय एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है ।[२]

सामायिक करते समय श्रावक और श्रमण समान—

मूलाचारकार ने लिखा है **एकाग्र मन से सामायिक करने वाला श्रावक भी श्रमण सदृश होता है,** अतः श्रमणों को और भी स्थिरतापूर्वक अतिशय सामायिक करना चाहिए ।[३] हिंसा आदि दोषयुक्त गृहस्थधर्म को जघन्य अर्थात् संसार का कारण समझकर बुद्धिमान् को आत्महितकारी इस प्रशस्त उपायरूप सामायिक का पालन करना चाहिए ।[४]

कथानक—

एक कथानक द्वारा ग्रन्थकार ने सामायिक की महत्ता इस प्रकार बताई है—किसी वन में सामायिक करते हुए एक श्रावक के पास बाण से बिद्ध (आहत) हिरण आया तथा थोड़ी ही देर बाद वह वही मर गया, किन्तु वह श्रावक भी संसारदोष दर्शन के बावजूद सामायिक संयम से विचलित नहीं हुआ । इस कारण श्रावक की अपेक्षा मुनि को और भी तत्परता से सामायिक करना चाहिए ।[५]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन काल में श्रावकों को सामायिक मुनियों की तरह आवश्यक कर्म के रूप में नित्य प्रति करने का विधान रहा है ।

विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामायिक तथा छेदोपस्थापना चारित्र—

चारित्र के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात—ये चारित्र के पाँच भेद हैं । इनमें से प्रारम्भ के दो भेदों को लेकर विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामान्य भेद है । वस्तुतः अभेद रूप से सम्पूर्ण सावद्ययोग के त्यागपूर्वक अवधृत-नियतकाल में होने वाला

---

१. आवश्यक सूत्र प्रथम सामायिक अध्ययन तथा जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग २ पृ० १७४ ।
२. सावज्जजोग परिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं—मूलाचार ७/३३ ।
३. सामाइयम्हि दु कदे समणो किर सावओ हवदि जम्हा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ मूलाचार ७/३४
४. गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं—मूलाचार ७/३३
५. सामाइए कदे सावएण विद्धो गओ अरणह्मि ।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ ॥ मूलाचार ७/३५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक चारित्र है । इसे स्वीकार करते समय सर्वसावद्य का त्याग किया जाता है, सावद्ययोग का विभागशः त्याग नहीं किया जाता । इसमें पाँच महाव्रत आदि रूप से भेद की विवक्षा नहीं होती । अपितु इसकी स्वीकृति से सर्व सावद्य (सदोष-हिंसादि) प्रवृत्ति का पूर्णतः त्याग हो जाता है । प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने इसी का ही उपदेश किया ।

छेदोपस्थापना चारित्र में विभागशः त्याग किया जाता है । हिंसादि पाँच सावद्यों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है । निरवद्य क्रियाओं में प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यक् प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है । आचार्य वीर-नन्दि ने कहा है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और त्रिगुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद अथवा दोष लगने पर उन दोषों का छेद (नाश) करना और फिर अपने आत्मस्वरूप चारित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना छेदोपस्थापना है ।[१] आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—इन तेरह भेद वाले चारित्र का निरूपण भगवान् महावीर ने किया था । पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने ऐसे विभागात्मक चारित्र का निरूपण नहीं किया ।[२]

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा छेदोप-स्थापना चारित्र (संयम) के प्रतिपादन का कारण बताते हुए लिखा है[३] कि—कथन (परोपदेश) करने में पृथक्-पृथक् भावित करने में और समझने में सुगमता हो इसीलिए पाँच महाव्रतों का वर्णन किया । **प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव** के तीर्थ में शिष्य मुश्किल से शुद्ध किये जाते थे । क्योंकि वे अतिशय सरल स्वभाव होते थे । **अन्तिम तीर्थंकर** भगवान् महावीर के तीर्थ में शिष्यजनों से व्रतों का पालन कराना कठिन रहा है । क्योंकि वे अधिक वक्र स्वभाव के थे । साथ ही दोनों तीर्थों के शिष्य स्पष्ट रूप से योग्य-अयोग्य को नहीं जानते थे । इसीलिए आदि (प्रथम) और अन्त के तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ में छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है ।[४]

२. स्तव-(चतुर्विंशति-स्तव) आवश्यक

स्वरूप—तीर्थंकर ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के नाम निरुक्ति के अनुसार अर्थ करके उनके असाधारण गुणों का कीर्तन—अर्थात् गुणग्रहण पूर्वक नाम लेकर तथा पूजनकर, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक नमन

---

१. आचारसार ५/६-७ । २. चारित्रभक्ति ७ ।
३. मूलाचार ७/३६, ३७, ३८ ।
४. उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपरिणामो थवो णेओ ।।—मूलाचार १/२४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करना द्वितीय चतुर्विंशति-स्तव (थवो) आवश्यक है ।[१] जिनवरों की भक्ति से जीव पूर्व संचित कर्मों का क्षय[२] और सम्यक्त्व की विशुद्धि कर लेता है । अर्हत्-परमेष्ठी वंदना-नमस्कार, पूजा-सत्कार तथा सिद्धिगमन के योग्य पात्र होने से उन्हें अर्हन्त कहते हैं ।[३] इस तरह लोक को ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित करने वाले चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है ।[४]

स्तव के भेद—मूलाचार के अनुसार निक्षेप दृष्टि से स्तव के छह भेद हैं ।[५] जयधवला में इसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार भेद किये गये हैं ।[६] अपराजितसूरि ने मन, वचन और काय—इन तीन योगों के सम्बन्ध से स्तव के तीन भेद किये हैं ।[७] १. मन से चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना मनस्तव है । २. वचन से **'लोगुज्जोयरे'**—इत्यादि गाथा[८] में कही गयी तीर्थंकरों की स्तुति बोलना वचनकृत स्तव है । ३. ललाट पर हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करना कायकृतस्तव है ।

निक्षेप दृष्टि से स्तव के छह भेद[९]—

१. नाम—चौबीस तीर्थंकरों के गुणों के अनुसार उनके १००८ नामों का उच्चारण करना नामस्तव है ।

२. स्थापना—तीर्थंकरों के गुणों की धारक तद्रूप स्थापित जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुति करना स्थापना स्तव है ।

३. द्रव्य—परमौदारिक शरीर के धारक तीर्थंकरों का वर्ण, उनके शरीर की ऊँचाई, उनके माता-पिता आदि का वर्णन द्रव्यस्तव है ।

४. क्षेत्र—तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण—इन पाँच कल्याणकों द्वारा पवित्र नगर, वन, पर्वत आदि क्षेत्रों का वर्णन करना क्षेत्रस्तव है ।

---

१. भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा ।
—वही ७/७२, अर्ध० आवश्यक निर्युक्ति ११०४

२. चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ—उत्तराध्ययन ३१/९, चतुःशरण सूत्र ३.

३. मूलाचार ७/६५ ।

४. आवश्यक सूत्र २/१ ।

५. मूलाचार ७/४१ ।

६. कसाय पाहुड जयधवला—१/८५ पृ० ११९ ।

७. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९, पृष्ठ ७२८ ।

८. मूलाचार ७/४२ ।

९. मूलाचार सवृत्ति ७/४१ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५. **काल**—गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और मोक्ष—इन पाँच समयों के कल्याणकों की स्तुति करना कालस्तव है ।

६. **भाव**—तीर्थंकरों के अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, क्षायिकसम्यक्त्व, अव्याबाध और विरागता आदि गुणों का वर्णन एवं स्तवन करना भावस्तव है ।

स्तव की विधि—शरीर, भूमि और चित्त की शुद्धिपूर्वक दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े होकर अंजुली जोड़कर सौम्यभाव से स्तवन करना चाहिए ।[१] तथा यह चिन्तन करना चाहिए कि अर्हत्-परमेष्ठी जगत् को प्रकाशित करने वाले, उत्तम-क्षमादि धर्मतीर्थ के कर्ता होने से तीर्थंकर, जिनवर, कीर्तनीय और केवली जैसे विशेषणों से विशिष्ट उत्तमबोधि देने वाले हैं ।[२]

३. वंदना आवश्यक

स्वरूप—वन्दना नामक तृतीय आवश्यक मन, वचन और काय की वह प्रशस्त वृत्ति है जिससे साधक तीर्थंकरादि के प्रति तथा शिक्षा, दीक्षा एवं तप आदि में ज्येष्ठ आचार्यों एवं गुरुओं के प्रति श्रद्धा और बहुमान प्रगट करता है । मूलाचार में कहा है—अरहंत, सिद्ध की प्रतिमा, तप, श्रुत तथा गुणों में ज्येष्ठ शिक्षा तथा दीक्षा-गुरुओं को मन, वचन और काय की शुद्धि से कृतिकर्म, सिद्ध-भक्ति, श्रुत भक्ति और गुरु भक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि से विनय करना वन्दना (वंदण) आवश्यक है ।[३] जयधवला के अनुसार एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है[४] धवला में भी कहा है ऋषभादि तीर्थंकर, केवली, आचार्य तथा चैत्यालय–इनके गुण-समूहों के भेदपूर्वक शब्द-कलाप रूप गुणानुवादयुक्त नमस्कार वंदना है ।[५]

उद्देश्य—उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है वन्दना से जीव नीचगोत्र का क्षय तथा उच्च गोत्र का बन्ध करता है । वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है ।

---

१. मूलाचार ७/७६ ।
२. लोगुज्जोययरे धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥ वही ७/४२
३. अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरुणरादीणं ।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥ मूलाचार १/२५
४. एयरस तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम
—कसाय पाहुड जयधवला ८६, १/१-१/८६, पृ० १११.
५. धवला ८/३/४१/८४/३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वत्र आज्ञाफल तथा दाक्षिण्य अनुकूलता मिलती है ।[१] अर्थात् जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें, वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है ।

वंदनीय कौन ? अनादृत, स्तब्ध आदि बत्तीस दोषों से रहित वन्दना ही शुद्ध वन्दना है तथा यही विपुल निर्जरा का कारण भी है । मूलाचारकार के अनुसार चारित्रादि अनुष्ठान, ध्यान, अध्ययन में तत्पर क्षमादि गुण तथा महाव्रतधारी, असंयम से ग्लानि करने वाले और धैर्यवान् श्रमण वन्दना के योग्य होते हैं ।[२] ऐसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मुनि, आचार्यादि वन्दनीय होते हैं ।

वन्दना की विधि—सर्वप्रथम जिस आचार्यादि ज्येष्ठ श्रमणों की वन्दना की जाती है तो उनमें तथा वन्दनकर्ता के मध्य एक हाथ अन्तराल रखे । फिर अपने शरीरादि के स्पर्श से देव या गुरु को बाधा (स्पर्श) न करते हुए अपने कटि आदि अंगों का पिच्छिका से प्रतिलेखन करें । तब वन्दना की इस प्रकार याचना (विज्ञापना) करें कि "मैं वन्दना करता हूँ" । उनकी स्वीकृति लेकर इच्छाकार पूर्वक वन्दना करना चाहिए ।[३]

अवन्दनीय की वन्दना का निषेध

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दना करने वाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही होती है । बल्कि असंयम आदि दोषों के समर्थन द्वारा कर्मबन्ध ही होता है ।[४] इतना ही नहीं अपितु गुणी पुरुषों के द्वारा अवन्दनीय अपनी वन्दना कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अवन्दनीय की आत्मा का अधःपतन होता है ।[५]

वन्दना के भेद—निक्षेप दृष्टि से इसके निम्नलिखित छह भेद हैं ।[६] १—जाति, द्रव्य, क्रिया निरपेक्ष वन्दना की शब्द-संज्ञा **नाम वन्दना** है । अथवा एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यादि के नाम का उच्चारण नाम वन्दना है । २—वन्दना योग्य महापुरुष की प्रतिकृति अथवा एक तीर्थंकर, आचार्य आदि के प्रतिबिम्ब का स्तवन करना **स्थापना वन्दना** है । ३—इसी तरह एक तीर्थंकर, सिद्ध तथा आचार्यादि के शरीर की वन्दना करना **द्रव्यवन्दना** है । द्रव्य सामायिक

---

१. उत्तराध्ययन २९/११ । २. मूलाचार ७/९८ ।
३. हत्थंतरेण बाधे संफासमप्पज्जणं पउज्जंतो ।
जाएंतो वेदणयं इच्छाकारं कुणदि भिक्खू ॥ मूलाचार, सवृत्ति ७/११२
४. आवश्यक निर्युक्ति ११०८ । ५. आवश्यक निर्युक्ति १११० ।
६. मूलाचार वृत्तिसहित ७/७८ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की तरह द्रव्य वन्दना के भी भेद समझना चाहिए । ४—जिस क्षेत्र में इन्होंने निवास किया हो उसकी वन्दना करना **क्षेत्र वन्दना** है । ५—जिस काल में ये रहे हों उस काल की वन्दना करना **काल वन्दना** है तथा ६—शुद्ध परिणामों से उनके गुणों का स्तवन एवं वन्दना करना **भाव वन्दना** है ।

वन्दना का समय और अवसर—आलोचना, प्रश्न, पूजा, स्वाध्याय आदि के समय तथा क्रोध आदि अपराध हो जाने पर आचार्य, उपाध्याय आदि की वन्दना की जाती है ।[१] पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न—इन तीन सन्ध्याकालों में वन्दना का समय छह-छह घड़ी है । अर्थात् सूर्योदय के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक पूर्वाह्न वन्दना । मध्याह्न के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक मध्याह्न वन्दना । सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक अपराह्न वन्दना होती है ।[२] जब आचार्य आदि एकान्तभूमि में पद्मासनादि से स्वस्थचित्त बैठे हों तब उनकी विज्ञप्ति (आज्ञादि) लेकर वन्दना करनी चाहिए ।[३]

व्याकुलचित्त, निद्रा, विकथा आदि प्रमत्तावस्था तथा आहार-णीहार में युक्त या मल-मूत्रादि उत्सर्ग के समय आचार्यादि की वन्दना नहीं करनी चाहिए ।[४]

वन्दना के पर्यायवाची अन्य नाम—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म—ये वन्दना के चार नामान्तर हैं ।[५] वन्दना के ही अन्य नाम होने से इन्हें नाम वन्दना भी कह सकते हैं । **१. कृतिकर्म**—जिससे पूर्वकृत अष्टकर्मों का नाश हो । **२. चितिकर्म**—जिससे तीर्थंकरत्वादि पुण्यकर्म का संचय होता है । **३. पूजाकर्म**—जिससे पूजा की जाये अर्थात् अर्हदादि का बहुवचन युक्त शब्दोच्चारण एवं चंदनादि अर्पण करना । तथा **४. विनयकर्म**—जिससे सेवा सुश्रुषा की जावे ।

इस प्रकार जिस अक्षरोच्चारणरूप वाचनिक क्रिया, परिणामों की विशुद्धिरूप मानसिक क्रिया और नमस्कार आदि रूप कायिक क्रिया करने से ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों का 'कृत्यते छिद्यते' छेद होता है उसे **कृतिकर्म** कहा जाता है । यह पुण्यसंचय का कारण है, अतः इसे **चितिकर्म** भी कहते हैं । इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों और पञ्चपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) आदि की पूजा की जाती है, अतः इसे **पूजाकर्म** भी कहते हैं ।

---

१. वही ७/१०२ । २. अनगार धर्मामृत ८/७९ ।
३. मूलाचार ७/१०१ । ४. वही ७/१०० ।
५. किदियम्मं चिदियम्मं पूजाकम्मं च विणयकम्मं च—मूलाचार ७/७९ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके द्वारा उत्कृष्ट विनय प्रकाशित होती है अत: इसे **विनयकर्म** भी कहते हैं। यहाँ कृतिकर्म और विनयकर्म का क्रमश: विशेष विवेचन प्रस्तुत है—

१. कृतिकर्म का स्वरूप—कृतिकर्म पापों के विनाश का उपाय है।[१] सामायिक-स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त की जाने वाली विधि को कृतिकर्म कहते हैं। ग्रन्थकार ने कृतिकर्म को क्रियाकर्म भी कहा है। जयधवला के अनुसार जिनदेव, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं[२] आचार्य वसुनन्दि ने कहा है—सामायिक-स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति-तीर्थंकर-स्तव पर्यन्त जो विधि है, उसे कृतिकर्म कहते हैं।[३]

कृतिकर्म की प्रयोग-विधि—यथाजात (नग्न) मुद्रा-धारी साधु मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति सहित कृतिकर्म करें।[४] इसकी नौ अधिकार पूर्वक विधि बतलाई है—

कृतिकर्म के नौ अधिकार—कृतिकर्म के नौ अधिकारों (द्वारों) से विचार किया गया है[५]—(१) कृतिकर्म कौन करे ? (२) किसका करे ? (३) किस विधि से करे ? (४) किस अवस्था में करे ? (५) कितनी बार करे ? (६) कितनी अवनतियों से करे अर्थात् कृतिकर्म करते समय कितने बार झुकना चाहिए ? (७) कितने बार मस्तक पर हाथ रखकर करे ? (८) कितने आवर्तों से शुद्ध होता है ? (९) वह कृतिकर्म कितने दोष रहित करे ?

इन नव अधिकार रूप नव प्रश्नों का समाधान इस तरह है—

(१) कृतिकर्म कौन करे ? (स्वामित्व)—पंचमहाव्रतों के आचरण में लीन, धर्म में उत्साहित, उद्यमी, मान-कषाय से रहित, निर्जरा का इच्छुक और दीक्षा में लघु—ऐसा संयमी श्रमण कृतिकर्म करता है।[६]

---

१. कृतिकर्म पापविनाशनोपाय: मूलाचार वृत्ति ७/७९।

२. जिण-सिद्धाइरिय-बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदिकम्मं णाम।
—जयधवला १/१/९१, पृ० १०७

३. सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तवपर्यन्त: कृतिकर्मेत्युच्यते
—मूलाचारवृत्ति ७/१०३

४. दोणदं तु जधाजादं वारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥ मूलाचार ७/१०४

५. कदि ओणदं कदि सिरं कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥ मूलाचार ७/८०

६. मूलाचार ७/९३।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२) कृतिकर्म किसका करे ?—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि की वन्दना (कृतिकर्म) अपने कर्मों की निर्जरा के लिए करना चाहिए ।[१] किन्तु संयत मुनि को असंयत माता-पिता, गुरु, राजा, देशविरत श्रावक तथा पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञ, मृगचरित्र और अन्य तीर्थ के साधुओं की वन्दना नहीं करना चाहिए । क्योंकि ये मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा धर्म-तीर्थ आदि में श्रद्धा और हर्ष रहित होते हैं । ऐसे साधु तो रत्नत्रय, तप और विनय से सर्वथा परे रहकर गुणधर (मूलगुण-उत्तरगुण के धारक) मुनियों के छिद्रान्वेषी होते हैं ।[२]

(३) कृतिकर्म किस विधि से करे ?—पर्यंकासन तथा कायोत्सर्ग—इन दो आसनों में से किसी एक आसन पूर्वक कृतिकर्म करना चाहिए ।[३] क्योंकि ये दो आसन सुखासन कहलाते हैं । इनमें भी पर्यंकासन अधिक सुखकर है, बाकी के सब आसन विषम अर्थात् व्याकुलता उत्पन्न करने वाले हैं ।[४] जो महाशक्तिशाली हैं उन्हें सभी आसनों का प्रयोग करके[५] मन, वचन और काय की विशुद्धिपूर्वक मदरहित होकर कर्मों का उल्लंघन न करके कृतिकर्म करना चाहिए ।[६]

कृतिकर्म के लिये योग्य स्थान भी अपेक्षित है अतः विनय की वृद्धि हेतु साधुओं को तृणमय, शिलामय या काष्ठमय आसन पर बैठना चाहिए जिसमें क्षुद्र (सूक्ष्म) जीव न हों, या उस आसन से चरंचर की आवाज न आती हो, आसन को छिद्र, कील या काँटे रहित, सुखकर तथा निश्चल होना चाहिए ।[७]

(४) कृतिकर्म किस अवस्था में करे—जो आचार्य-मुनि पर्यंकासन पूर्वक आसन पर बैठा हो, ध्यान आदि कार्य में उस समय उपयुक्त न हो, ऐसे शान्त-चित्त मुनि को—हे प्रभो ? मैं वन्दना करता हूँ—इस तरह से मेधावी मुनि को सम्बोधनपूर्वक तथा प्रार्थनापूर्वक कृतिकर्म करना चाहिए ।[८]

---

१. मूलाचार ७/९४ ।
२. वही ७/९५-९७, अनगार धर्मामृत ७/४२ ।
३. दुविहठाण पुणरुत्तं—मूलाचार ७/१०५ ।
४. महापुराण २१/७१-७२, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३५५, अनगार धर्मामृत ८/८४ ।
५. महापुराण २१/७३ ।
६. मूलाचार ७/१०५ ।
७. अनगार धर्मामृत ८/८२ ।
८. आसणे आसणत्थं च उवसंतं च उवट्ठिदं ।
अणुविण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे ॥ मूलाचार ७/१०१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो ध्यानादि में एकाग्रचित्त है, कृतिकर्म करने वाले की ओर पीठ किए बैठा है। प्रमत्त, निन्दित अवस्था अथवा विकथा आदि तथा आहार, नीहार आदि क्रियाओं में संलग्न है, ऐसे संयमी मुनि की भी वन्दना नहीं करना चाहिए।[१] इन सबके साथ अवसर विशेष का भी ध्यान रखना चाहिए। यथा आलोचना, सामायिकादि षडावश्यक करने तथा प्रश्न पूछने के पूर्व एवं पूजन, स्वाध्याय के समय और क्रोधादि अपराध हो जाने पर आचार्य, उपाध्यायादि गुरुओं की वंदना करनी चाहिए।[२]

(५) कृतिकर्म कितने बार करे ?—पूर्वाह्न और अपराह्न—इन दोनों कालों के सात-सात अर्थात् कुल चौदह कृतिकर्म करना चाहिए। **सात कृतिकर्म** ये हैं—१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. वीर, ४. चतुर्विंशति तीर्थंकर—ये चार भक्ति प्रतिक्रमण काल के कृतिकर्म हैं तथा ५. श्रुतभक्ति, ६. आचार्य भक्ति तथा ७. स्वाध्याय उपसंहार—ये तीन स्वाध्याय काल के कृतिकर्म हैं।[३]

अनगार धर्मामृत में यही विभाजन विशेष स्पष्टीकरण के साथ इस तरह है[४]—

समय	क्रिया
१—सूर्योदय से लेकर दो घड़ी तक	—देववंदन, आचार्यवंदन तथा नमन
२—सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात से मध्याह्न की दो घड़ी पहले तक	—पूर्वाह्निक स्वाध्याय
३—मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व से दो घड़ी पश्चात् तक	—आहारचर्या (यदि उपवास युक्त है तो क्रम से आचार्य, देव-वंदन व मनन)
४—आहार से लौटने पर	—मंगलगोचर प्रत्याख्यान
५—मध्याह्न के दो घड़ी पश्चात् से सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक	—अपराह्निक स्वाध्याय
६—सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व से सूर्यास्त तक	—दैवसिक प्रतिक्रमण व रात्रियोग धारण
७—सूर्यास्त से लेकर उसके दो घड़ी पश्चात् तक	—आचार्य-देव वन्दन तथा मनन

---

१. मूलाचार ७/१००।
२. मूलाचार ७/१०२।
३. मूलाचार ७/१०३।
४. अनगार धर्मामृत ९.१-१३, ३४-३५ उद्धृत
—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० १३७।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८—सूर्यास्त के दो घड़ी पश्चात् से अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व तक —पूर्वरात्रिक स्वाध्याय

९—अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व से उसके दो घड़ी पश्चात् तक —चार घड़ी निद्रा

१०—अर्धरात्रि के दो घड़ी पश्चात् से सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व तक —वैरात्रिक स्वाध्याय

११—सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व से सूर्योदय तक —रात्रिक प्रतिक्रमण

षट्खण्डागम में कहा है कि कृतिकर्म तीनों सन्ध्याकालों में करना चाहिए। इसी की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने तो यहाँ तक कहा है कि कृतिकर्म तीन बार ही करना चाहिए—ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं हैं, अधिक बार भी किया जा सकता है। पर तीन बार तो अवश्य करना चाहिए।[१] तीनों कालों में किये जाने वाले कृतिकर्म में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दन—इन तीन आवश्यकों की मुख्यता होती है।

तीनों सन्ध्याकालों में किया जाने वाला कृतिकर्म मुनि और श्रावक दोनों को एक समान है। अन्तर केवल इतना है कि साधु अपरिग्रही होने से कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि द्रव्य का उपयोग नहीं करते, जबकि गृहस्थ उनका उपयोग कर भी सकते हैं।[२]

इस प्रकार कृतिकर्म श्रमणाचार और श्रावकाचार दोनों में मुख्य आचार के रूप में प्रतिपादित है। वैसे मुनि सांसारिक कार्यों से मुक्त होते हैं फिर भी उनका मन लौकिक यश, समृद्धि तथा अपनी प्रतिष्ठा की ओर भूलकर भी आकर्षित न हो और गमनागमन, आहार ग्रहण आदि प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषों का परिमार्जन होता रहे, अत: मुनि कृतिकर्म को स्वीकार करता है। गृहस्थ की जीवनचर्या ही ऐसी होती है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति निरन्तर सदोष बनी रहती है, अत: उसे भी कृतिकर्म करने का उपदेश दिया गया है।[३] क्योंकि कृतिकर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मशुद्धि है।

---

१. षट्खण्डागम, कर्म अनुयोगद्वार सूत्र २८, धवला टीका सहित।
२. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, प्रास्ताविक पृष्ठ २१,२२ (द्वितीय संस्करण)।
३. वही, पृष्ठ २०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) कृतिकर्म कितनी अवनतियों से करे ?—अवनति से तात्पर्य है भूमि पर बैठकर भूमिस्पर्श-पूर्वक नमन ।[१] क्रोध, मान, माया, लोभ एवं परिग्रह इनसे रहित मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म में दो अवनति करना चाहिए ।[२]

(७) कितने बार शिरोनति (मस्तक पर हाथ जोड़कर) कृतिकर्म करे ?—अवनति की तरह मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक चार बार सिर से नमन (चतुःशिरोनति) करके कृतिकर्म करना चाहिए ।[३] अर्थात् सामायिक के प्रारम्भ और अन्त में तथा थोस्सामि दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में—इस तरह चार बार शिरोनति विधि की जाती है ।

(८) कृतिकर्म कितने आवर्तों से शुद्ध होता है ?—प्रशस्त योग को एक अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम परावर्तन या आवर्त है । मन, वचन और काय की अपेक्षा आवर्त के तीन भेद । किन्तु इसके बारह भेद इस प्रकार हैं—सामायिक के प्रारम्भ में तीन और अन्त में तीन, चतुर्विंशतिस्तव के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन—कुल मिलाकर बारह आवर्तों से कृतिकर्म शुद्ध होता है । अतः जो मुमुक्षु साधु वंदना के लिए उद्यत हैं, उन्हें ये बारह आवर्त करना चाहिए ।[४]

(९) कितने दोष रहित कृतिकर्म करे ?—निम्नलिखित बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ।[५] इन्हें ही वन्दना के बत्तीस दोष कहते हैं । अतः वन्दना आवश्यक की शुद्धि के लिए इन बत्तीस दोषों का परिहार आवश्यक है—

कृतिकर्म (वन्दना) के बत्तीस दोष

१. अनादृत—निरादर पूर्वक या अल्पभाव सें समस्त क्रिया-कर्म करना । **२. स्तब्ध**—विद्या, जाति आदि आठ मदों से गर्व पूर्वक वन्दना करना । **३. प्रविष्ट**—पंचपरमेष्ठी के अति सन्निकट होकर या असंतुष्टतापूर्वक वन्दना करना । **४. परिपीडित**—दोनों हाथों से दोनों जंघाओं या घुटनों के स्पर्श-पूर्वक वन्दना करना । **५. दोलायित**—दोलायमान-युक्त होकर अर्थात् समस्त शरीर हिलाते हुए वन्दना करना । **६. अंकुशित**—हाथ के अंगूठे को अंकुश की तरह ललाट में लगाकर वन्दना करना । **७. कच्छप रिंगित**—कछुए की तरह

---

१. मूलाचार वृत्ति ७/१०४ । २. मूलाचार ७/१०४ ।
३. चतुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे—वही ७/१०४ ।
४. मूलाचार वृत्ति ७/१०४, अनगार धर्मामृत ८/८८-८९ ।
५. मूलाचार, वृत्ति सहित ७/१०६-११० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेष्टापूर्वक (रेंगकर) वन्दना करना। ८. **मत्स्योद्वर्त**—मछली की तरह कमर को ऊँची करके वन्दना करना। ९. **मनोदुष्ट**—द्वेष अथवा संक्लेश मनयुक्त वन्दना करना। १०. **बेदिकाबद्ध**—दोनों हाथ से दोनों घुटनों को बाँधकर वक्षस्थल के मर्दनपूर्वक वन्दना करना। ११. **भय**—मरण आदि सात भयों से डरकर वन्दना करना। १२. **विभ्य**—परमार्थ को जाने बिना गुरु आदि से भयभीत होकर वन्दना करना। १३. **ऋद्धिगौरव**—वन्दना करने से कोई चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का भक्त हो जायेगा इस अभिप्राय से वन्दना करना। १४. **गौरव**—आसनादि के द्वारा अपना माहात्म्य-गौरव प्रगट करके अथवा रसयुक्त भोजन आदि की स्पृहा रखकर वन्दना करना। १५. **स्तेनित**—आचार्यादि से छिपकर—इस ढंग से वन्दना करना जिससे उन्हें मालूम ही न पड़े। १६. **प्रतिनीत**—देव, गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वन्दना करना।

१७. **प्रदुष्ट**—दूसरे के साथ द्वेष, वैर, कलह आदि करके उससे क्षमा माँगे या किये बिना वन्दना आदि क्रिया करना। १८. **तर्जित**—दूसरों को भय दिखाकर अथवा आचार्यादि के द्वारा तर्जनी अंगुलि आदि से तर्जित अर्थात् अनुशासित किये जाने पर कि यदि नियमादि का पालन नहीं करोगे तो आपको (संघ से) निकाल दूँगा—ऐसा तर्जित किये जाने पर ही वन्दना करना तर्जित दोष है। १९. **शब्द**—मौन छोड़कर शब्द बोलते हुए वन्दना करना शब्द दोष है अथवा 'सद्द' के स्थान पर 'सट्ठ'—यह पाठ रहने पर शठतापूर्वक या माया प्रपंच से वन्दना करना **शाठ्य दोष** है। २०. **हीलित**—आचार्य या अन्य साधुओं का पराभव करके वन्दना करना। २१. **त्रिवलित**—ललाट की तीन रेखाएँ चढ़ाकर वन्दना करते समय कमर, हृदय और कण्ठ—इन तीनों में भंगिमा पड़ जाना। २२. **कुंचित**—घुटनों के बीच में मस्तक झुकाकर वन्दना करना या दोनों हाथों से सिर का स्पर्शकर संकोच रूप होकर वन्दना करना।

२३. **दृष्ट**—आचार्य के सामने ठीक से वन्दना करना, परोक्ष में स्वच्छन्दतापूर्वक अथवा इच्छानुकूल दशों दिशाओं में अवलोकन करते हुए वन्दना करना। २४. **अदृष्ट**—आचार्य आदि न देख सकें अतः ऐसे स्थान से वन्दना करना। अथवा भूमि, शरीर आदि का प्रतिलेखन किये बिना मन की चंचलता से युक्त होकर अथवा पीछे जाकर वन्दना करना। २५. **संघ-कर-मोचन**—संघ के रुष्ट होने के भय से तथा संघ को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वन्दना को 'कर' (टैक्स) भाग समझकर पूर्ति करना। २६. **आलब्ध**—उपकरणादि प्राप्त करके वन्दना करना। २७. **अनालब्ध**—उपकरणादि प्राप्ति की आशा से वन्दना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करना । २८. **हीन**—ग्रन्थ, अर्थ, कालादि प्रमाण रहित वन्दना करना । २९. **उत्तर चूलिका**—वन्दना को थोड़े समय से पूर्ण करना तथा उसकी चूलिका सम्बन्धी आलोचना आदि को अधिक समय तक सम्पन्न करके वन्दना करना ।

३०. **मूक**—मूक (गूंगे) व्यक्ति की तरह मुख के भीतर ही भीतर वन्दना पाठ बोलना अथवा वन्दना करते हुए हुँकार, अंगुलि आदि की संज्ञा (चेष्टा) करना । ३१. **दर्दुर**—अपने शब्दों के द्वारा दूसरों के शब्दों को दबाने के उद्देश्य से तेज गले के द्वारा महाकलकल युक्त शब्द करके वन्दना करना । ३२. **चुलुलित (चुरुलित)**—एक ही स्थान में खड़े होकर, हाथों की अंजुलि को घुमाकर सबकी वन्दना करना अथवा चुरुलित पाठ के अनुसार पंचमादि स्वर से (गाकर) वन्दना करना ।[१] वन्दना के ये बत्तीस दोष हैं ।

इन दोषों से परिशुद्ध होकर जो कृतिकर्म करता है वह साधु विपुल निर्जरा का भागी होता है ।[२] तथा यदि इन दोषों में से किसी भी एक दोष सहित कृतिकर्म करता है या इन दोषों के निवारण के बिना वन्दना करता है तो वन्दना से होनेवाली कर्म निर्जरा का वह श्रमण कभी स्वामी नहीं बन सकता ।[३]

२. विनयकर्म—

स्वरूप एवं उद्देश्य—वन्दना का मूल उद्देश्य जीवन में विनय को उच्च स्थान देना है । जिन-शासन का मूल तथा समग्र संघ-व्यवस्था का आधार विनय ही है । इसीलिए वन्दना के चार पर्यायवाची नामों में विनय स्वीकृत किया है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों का विनाश, चतुर्गति भ्रमण से मुक्ति तथा संसार से विलीन करने वाली विनय है ।[४] श्रमण को स्वर्ग-मोक्षादि की ओर ले जाने वाला विशिष्ट शुभ परिणाम भी विनय ही है ।[५] इसीलिए सभी जिनवरों ने मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हेतु सम्पूर्ण कर्मभूमियों के लिए विनय का प्ररूपण किया है ।[६]

---

१. मूलाचार वृत्ति सहित ७/१०६-११० ।
२. वही ७/११० ।
३. वही ७/१११ ।
४. मूलाचार ७/७७ ।
५. स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः—मूलाचार वृत्ति ५/१७५ ।
६. मूलाचार ७/८२ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनय को पंचम गति (मोक्ष) का नायक[१] और मोक्ष का द्वार कहा है। इसी से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है और आचार्य तथा सम्पूर्ण संघ आराधित होता है।[२] यह श्रुताभ्यास (शिक्षा) का फल है। इसके बिना सारी शिक्षा निरर्थक है। यह सभी कल्याणों का फल भी है।[३] धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय है उसका अन्तिम परिणाम (रस) मोक्ष है। इस विनयरूपी मूल द्वारा विनयवान् व्यक्ति इस लोक में कीर्ति और ज्ञान प्राप्त करता है और क्रमशः अपना आत्मविकास करता हुआ अन्त में निःश्रेयस को प्राप्त करता है।[४]

वृत्तिकार वसुनन्दि ने विनयकर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिसके द्वारा कर्म दूर किये जाते हैं, कर्मों का संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भावरूप परिणमन करा दिया जाता है उस क्रिया को विनयकर्म या शुश्रूषा कहते हैं।[५]

विनयकर्म के भेद—इसके पाँच भेद हैं—१. लोकानुवृत्ति, २. अर्थनिमित्तक, ३. कामतन्त्र, ४. भय और ५. मोक्ष।[६] इनमें अर्थविनय, कामविनय और भयविनय—ये तीन मूलरूप में संसार की प्रयोजक है।

१. लोकानुवृत्ति विनय—अर्थात् लोकाचार में विनय करना। मूलरूप में लोकानुवृत्ति विनय की विधि के अनुसार इसके दो भेद हैं—प्रथम के अन्तर्गत यथावसर सबका यथोचित आदर-सत्कार किया जाता है और दूसरी वह विनय हैं जो अपने विभव के अनुसार देवपूजा आदि के समय की जाती है। इस प्रकार पूज्य पुरुषों के आगमन पर आसन से उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि पूजा, देवपूजा, अनुकूल भाषण तथा देश-काल योग्य स्वद्रव्य दान करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है।[७]

इन्हीं आधारों पर इसके निम्नलिखित सात भेद किये गये हैं—अभ्युत्थान, आसनदान, अतिथिपूजा, अपने विभव के अनुसार देव-पूजन, भाषानुवृत्ति, छन्दानुवर्तन और देश-काल योग्य स्वद्रव्य दान।

---

१. विणयो पंचमगइणायगो भणियो—मूलाचार ५/१६७।
२. वही ५/१/१८९, भगवती आराधना १२९।
३. विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणय-फलं सव्वकल्लाणं॥ वही ५/१८८
४. दशवैकालिक ९/२/२।
५. मूलाचारवृत्ति ७/७९।
६. मूलाचार ७/८३।
७. मूलाचार ७/८४-८५।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. अर्थनिमित्तक विनय—अपने प्रयोजन अथवा स्वार्थवश हाथ जोड़ना ।[१]

३. कामतन्त्र विनय—काम-पुरुषार्थ के लिए विनय करना ।[२]

४. भय विनय—भय के कारण विनय करना ।[३]

५. मोक्ष विनय—मोक्ष विनय के **पाँच भेद** हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक ।[४] विनय तप के प्रसंग में भी इन्हीं पाँच भेदों का वर्णन है ।[५]

मोक्षविनय के पाँच भेद—

१. दर्शनविनय—जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञान में वर्णित द्रव्य-पर्यायों में दृढ़ रहना दर्शन विनय है ।[६]

२. ज्ञानविनय—ज्ञान को सीखना, चिन्तवन करना, ज्ञान का परोपदेश करना, ज्ञानानुसार न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना—ये सब ज्ञान विनयी के लक्षण हैं ।[७] कहा भी है कि ज्ञानी मोक्ष को जाता है, वही पापों का त्याग करता है, वही नवीन कर्मों का ग्रहण नहीं करता और वही ज्ञान के द्वारा चारित्र का पालन करता है । अत: ज्ञान में विनय और उसका पालन करना ज्ञान विनय है ।[८]

ज्ञानविनय के आठ भेद—१. कालविनय—अर्थात् काल शुद्धिपूर्वक द्वादशांगों का अध्ययन करना, **२. विनयरूप ज्ञान विनय**—अर्थात् हस्त-पाद साफ करके पद्मासनपूर्वक अध्ययन करना, **३. उपधान विनय**—अवग्रह विशेष से पढ़ना, **४. बहुमान विनय**—ग्रन्थ और गुरु का आदर एवं उनके गुणों की स्तुति करना, **५. अनिह्नव विनय**—शास्त्र और गुरु को न छिपाना, **६. व्यंजन-शुद्ध-विनय**—व्यंजन शुद्ध पढ़ना, **७. अर्थशुद्ध विनय**—अर्थ शुद्ध पढ़ना और **८. व्यंजनार्थोभय शुद्ध विनय**—व्यंजन और अर्थ दोनों शुद्धिपूर्वक पढ़ना ।[९]

---

१. अंजलिकरणं च अत्थकदे-मूलाचार ७/८५ ।
२-३. एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए-वही ७/८६ ।
४. मूलाचार ७/८७ ।
५. वही ५/१६७ ।
६. मूलाचार ७/८८ ।
७. णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदिणाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥ वही ५/१७१
८. णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तम्हा णाणे हवे विणओ ॥ वही ७/८९
९. वही ५/१७०, भगवती आराधना ११३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. चारित्र-विनय—इन्द्रिय और कषाय के प्रणिधान या परिणाम का त्याग तथा गुप्ति, समिति आदि चारित्र के अंगों का पालन करना चारित्र विनय है ।[१] इस विनय में तत्पर मुनि पुरानी कर्मरज को नष्ट करके नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता ।[२]

४. तप-विनय—संयम रूप उत्तरगुणों में उद्यम करना, श्रम व परीषहों को अच्छी तरह सहन करना, यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं में हानि-वृद्धि न होने देना[३], तप तथा तपोज्येष्ठ श्रमणों में भक्ति रखना और छोटे तपस्वियों, चारित्र-धारी मुनियों की अवहेलना न करना तप-विनय है ।[४] यह आत्मा के अंधकार को दूर कर, उसे मोक्ष-मार्ग की ओर ले जाता है । इससे बुद्धि नियमित (स्थिर) होती है ।[५]

५. औपचारिक विनय—रत्नत्रय के धारक श्रमण के अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना औपचारिक विनय है ।[६] गुरु आदि का यथायोग्य विनय करना भी उपचार विनय है ।

औपचारिक विनय के कायिक, वाचिक और मानसिक—ये तीन भेद इस प्रकार हैं ।[७]

(१) कायिक औपचारिक विनय—आचार्यादि गुरुजनों को आते देख आदर-पूर्वक आसन से उठना, कृतिकर्म अर्थात् श्रुतभक्ति और गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, मस्तक से नमन करना अर्थात् ऋषियों को अंजुलि जोड़कर नमन करना, उनके आने पर साथ जाना, उनके पीछे खड़े होना, प्रस्थान के समय उनके पीछे-पीछे चलना, उनसे नीचे वामपार्श्व की ओर बैठना, उनसे नीचे वामपार्श्व की ओर से गमन करना, उनसे नीचे आसन पर सोना । आसन, पुस्तकादि उपकरण, ठहरने के लिए प्रासुक गिरि-गुहादि खोजकर देना, उनके शरीर बल के प्रतिरूप शरीर का संस्पर्शन मर्दन करना ।

---

१. मूलाचार ५/१७२, भगवती आराधना ११५ ।
२. वही ७/९० ।
३. मूलाचार ५/१७३ ।
४. वही ५/१७४, भगवती आराधना ११७ ।
५. वही ७/९१ ।
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५८ ।
७. मूलाचार ५/१७५, १८४ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालानुसार क्रिया अर्थात् उष्ण काल में शीत तथा शीत काल में उष्णक्रिया करने का प्रयत्न करना, आदेश का पालन करना, संस्तर बिछाना तथा प्रातः एवं सायं पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों का प्रतिलेखन (शोधन) करना—इत्यादि प्रकार से अपने शरीर के द्वारा यथायोग्य उपकार करना अधिक उपचार विनय है ।[१]

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर प्रथम कायिक-औपचारिक-विनय के सात भेद इस प्रकार हैं—

(१) कायिक औपचारिक विनय के सात भेद—१. अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर आदरपूर्वक उठना, **२. सन्नति**—मस्तक से नमन करना, **३. आसनदान, ४. अनुप्रदान**—पुस्तकादि देना, **५. कृतिकर्म प्रतिरूप**—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और गुरुभक्ति-पूर्वक यथायोग्य कायोत्सर्ग करना, **६. आसनत्याग**—गुरुजनों के आने पर या उनके समक्ष अपना आसन छोड़कर उनका सम्मान दान द्वारा विनय करना और **७. अनुव्रजन**—उनके पीछे-पीछे चलना या गमनकाल में कुछ दूर तक साथ जाना ।[२]

(२) वाचिक औपचारिक विनय—पूज्यभाव रूप बहुवचन युक्त, हित, मित और मधुर, सूत्रानुवीचि (आगमानुकूल), अनिष्ठुर, अकर्कश, उपशांत, अगृहस्थ (बन्धन, ताड़न, पीडन आदि रहित) अक्रिय और अलीहन (अपमान-रहित) वचन बोलना वाचिक उपचार विनय है ।[३]

इस लक्षण के आधार पर इस वाचिक औपचारिक विनय के हित, मित, परिमित (सकारण) और अनुवीचि (आगमानुकूल) भाषण करना—ये चार भेद हैं ।[४]

(३) मानसिक औपचारिक विनय—हिंसादि[५] पाप और विश्रुति रूप सम्यक्त्व की विराधना के परिणामों का त्याग करना तथा प्रिय और हित परिणामयुक्त होना मानसिक उपचार विनय है ।[६]

---

१. मूलाचार ५/१७६-१७९, भगवती आराधना ११९-१२२ ।
२. मूलाचार ५/१८४-१८५, अनगारधर्मामृत ७/७१ ।
३. मूलाचार ५/१८०-१८१, भगवती आराधना १२३-१२४ ।
४. वही ५/१८६ ।
५. वही ५/१८२, भगवती आराधना ११५ ।
६. वही ५/१८६ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस लक्षण के आधार पर इस मानसिक औपचारिक विनय के भी अकुशल-मनःनिरोध और कुशल-मनःप्रवृत्ति—ये दो भेद हैं ।[१] कुन्दकुन्द कृत० मूलाचार में इन्हीं भेदों का अशुभ-मनःसन्निरोध और शुभ-मनःसंकल्प नाम से उल्लेख किया गया है ।[२] औपचारिक विनय के उपर्युक्त तीन भेदों में से प्रत्येक के प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो-दो उपभेद भी होते हैं ।[३]

उपर्युक्त सभी प्रकार की विनय का अप्रमत्तभाव से रात्र्यधिक मुनियों अर्थात् दीक्षा, श्रुत और तप—इनमें ज्येष्ठ मुनियों के प्रति तथा ऊनरात्रिक मुनियों में अर्थात् तप, गुण एवं वय में छोटे योग्य मुनियों में तथा आर्यिकाओं और गृहस्थों (श्रावकों) के प्रति भी साधु को यथायोग्य पालन करना चाहिए ।[४]

इस प्रकार वट्टकेर ने वन्दना आवश्यक के प्रसंग में विनयकर्म का विस्तृत भेद-प्रभेदों के साथ वर्णन किया है । प्रसंगानुसार विनय की उच्च महिमा का वर्णन भी किया है । यह जिनशासन का मूल है । इसी से संयम, तप और ज्ञान होता है । विनयहीन व्यक्ति को धर्म और तप कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।[५]

विनयकर्म की विशेषतायें—जिस प्रकार घूँघट स्त्री की सुन्दरता को बढ़ा देता है उसी प्रकार विनय की छाया मनुष्य के सद्गुणों को और अधिक उत्तम बना देती है । विनयवान श्रमण कलह और संक्लेश परिणामों से रहित, निष्कपटी, निरभिमानी और निर्लोभी होता है । वह गुरु की सेवा करने तथा सभी को सुख देने वाला होता है ।[६] उसकी कीर्ति और मैत्री बढ़ती ही रहती है; क्योंकि उसमें मान का अभाव होता है ।[७] शीलवान् व्यक्ति के विनययुक्त भाषण से सत्य में अधिक तेजस्विता आती है । अतः श्रमण को सभी प्रयत्नों से विनय का पालन करते हुए लक्ष्यसिद्धि में तत्पर रहना चाहिए । क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनयकर्म से अपने कर्मों का क्षय करता है ।[८]

१-२. कुन्द० मूलाचार ५/२०९ ।
३. सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खे य । मूलाचार ५/१७५ ।
४. रादणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ मूलाचार ५/१८७ ।
५. विणओ सासणमूलो विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणयेण विप्पहूणस्स कुदोधम्मो कुदो य तवो ॥ कुन्द० मूलाचार ७/१०४
६. मूलाचार ५/१९०, भगवती आराधना १३० ।
७. वही ५/१९१, वही १३१ ।
८. मूलाचार ७/९२ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विनयकर्म के भेद-प्रभेदों का चार्ट—विनयकर्म के सभी भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—

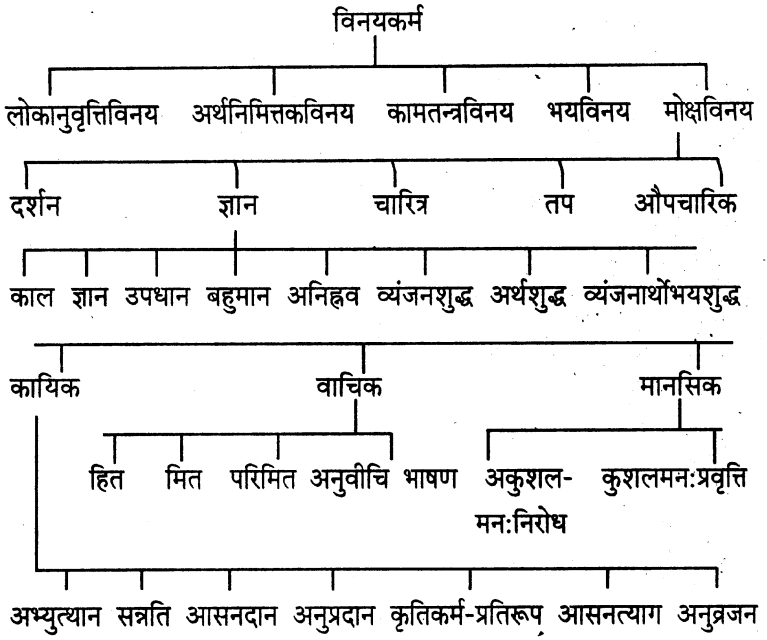

४. प्रतिक्रमण-आवश्यक—

स्वरूप—वन्दना की तरह प्रतिक्रमण भी षडावश्यकों में श्रमणाचार का प्रमुख अंग है । जहाँ प्रतिक्रमण छह आभ्यन्तरों तपों में प्रथम-प्रायश्चित्त तप के दस भेदों में आलोचना के बाद दूसरे क्रम में है, वहीं दस स्थितकल्पों में आठवाँ स्थितिकल्प तथा मुनियों के सामायिक आदि छह आवश्यकों में चतुर्थ आवश्यक के रूप में प्रतिक्रमण का प्रतिपादक किया गया है ।

सामान्यत: श्रमण जिस क्रिया के द्वारा किये गए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं । अत: प्रमाद पूर्वक किये गये अतीतकालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है ।[१] भगवती आराधना विजयोदया टीका (पृ० १५५) के अनुसार "प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्ति:" अर्थात्

---

१. (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७ ।
(ख) अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणम्–मूलाचार वृत्ति १/२७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोषों की निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहा है । स्थितिकल्प के प्रसंग में "अचेलतादि कल्प स्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमणं कर्त्तव्यमित्येषोऽष्टमः (प्रतिक्रमण) स्थितिकल्पः" अर्थात् अचेलता आदि कल्प में स्थित साधु के यदि अतिचार लगता है तो उसे प्रतिक्रमण करना अष्टम स्थितिकल्प कहा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिक्रमण का विवेचन भगवती आराधना में भले ही तीनों प्रसंगों में आया हो किन्तु उन सबका उद्देश्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपूर्वक किये गये अपराधों, दोषों की मन, वचन और काय से निन्दा और गर्हा (गुरु के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करना) के द्वारा उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है ।[१]

पर्यायवाची नाम—अर्धमागधी परम्परा की आवश्यक-निर्युक्ति (गाथा १२३३) में प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची नाम बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. **प्रतिक्रमण**—सावद्ययोग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना ।
२. **प्रतिचरणा**—अहिंसा, सत्य आदि संयम में सम्यक् रूप से विचरना ।
३. **परिहरणा**—सभी तरह के अशुभ योगों का त्याग ।
४. **वारणा**—विषय भोगों से स्वयं को रोकना ।
५. **निवृत्तिः**—अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना ।
६. **निन्दा**—पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चाताप करना ।
७. **गर्हा**—गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निन्दा करना ।
८. **शुद्धि**—कृत दोषों की आलोचना, निन्दा, गर्हा करते हुए तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करना ।

प्रतिक्रमण के अंग—प्रतिक्रमण के तीन अंग हैं[२]—**१. प्रतिक्रामक**—अर्थात् प्रमादादि से लगे दोषों से निवृत्त होने वाला साधु प्रतिक्रामक कहलाता है । **२. *प्रतिक्रमण***—*पंचमहाव्रतादि में लगे अतिचारों से निवृत्त होकर महाव्रतों* की निर्मलता में पुनः प्रविष्ट होने वाले जीव के उस परिणाम का नाम प्रतिक्रमण है । **३. प्रतिक्रमितव्य**—भाव, गृह आदि क्षेत्र, दिवस, मुहूर्तादि दोषजनक काल तथा सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप द्रव्य, जो पापास्रव के कारण हों, ये सब प्रतिक्रमितव्य (त्याग के योग्य) हैं ।

---

१. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं ।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं ॥ मूलाचार १/२६ ।

२. पडिकमओ पडिकमणं पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥ मूलाचार ७/११७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण के भेद—मूलाचारकार ने प्रतिक्रमण के मूलत: भावप्रतिक्रमण और द्रव्य-प्रतिक्रमण—ये दो भेद किये हैं ।

(१) भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अप्रशस्त-योग[१]—इन सबकी आलोचना (गुरु के सम्मुख अपने द्वारा किये अपराधों का निवेदन करना), निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करके तथा दोष में पुन: प्रवृत्त न होने वाले को भावप्रतिक्रमण होता है, शेष को द्रव्य प्रतिक्रमण कहा जाता है ।[२] भावयुक्त श्रमण ही जिन अतिचारों के नाशार्थ प्रतिक्रमण सूत्र बोलता-सुनता है, वह साधु विपुल निर्जरा करता हुआ, सभी दोषों का नाश करता है[३] और वस्तुत: वचन-रचना मात्र को त्यागकर जो साधु रागादि भावों को दूर करके आत्मा को ध्याता है, उसी के (पारमार्थिक) प्रतिक्रमण होता है ।[४]

(२) द्रव्य प्रतिक्रमण—उपर्युक्त विधि से जो अपने दोष परिहार नहीं करता और सूत्रमात्र से सुन लेता है, निन्दा, गर्हा से दूर रहता है तो उसका द्रव्य प्रतिक्रमण होता है ।[५] क्योंकि विशुद्ध परिणाम रहित होकर द्रव्यीभूत दोषयुक्त मन से जिन दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण किया जाता है, वे दोष नष्ट नहीं होते । अत: उसे द्रव्य-प्रतिक्रमण कहते हैं ।[६] द्रव्य सामायिक की तरह द्रव्य प्रतिक्रमण के भी आगम और नोआगम आदि भेद-प्रभेद माने जा सकते हैं ।

निक्षेप दृष्टि से प्रतिक्रमण के छह भेद[७]—

१. अयोग्य नामोच्चारण से निवृत्त होना अथवा प्रतिक्रमण दंडक के शब्दों का उच्चारण करना **नाम प्रतिक्रमण** है । २. सराग स्थापनाओं से अपने परिणामों को हटाना **स्थापना प्रतिक्रमण** है । ३. सावद्य द्रव्य सेवन के परिणामों को हटाना **द्रव्य प्रतिक्रमण** है । ४. क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना **क्षेत्र प्रतिक्रमण** है । ५. काल के आश्रय या निमित्त से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना **काल प्रतिक्रमण** है तथा ६. राग-द्वेष, क्रोधादि से उत्पन्न अतिचारों से निवृत्त होना **भाव प्रतिक्रमण** है[८] ।

---

१. मूलाचार ७/१२० । २. वही ७/१२६ ।
३. वही ७/१२८ । ४. नियमसार ८३ ।
५. सेसं पुण दव्वत्तो भणिअं । मूलाचार ७/१२६ ।
६. वही ७/१२७ ।
७. मूलाचार ७/११५, वृत्तिसहित, भगवती आराधना वि०टी० ११६ ।
८. मूलाचार ७/११६ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के सात भेद[१]—

१. दैवसिक : सम्पूर्ण दिन में हुए अतिचारों की आलोचना प्रत्येक सन्ध्या करना । **२. रात्रिक :** सम्पूर्ण रात्रि में हुए अतिचारों की प्रतिदिन के प्रातः आलोचना करना । **३. ईर्यापथ :** गुरुवंदन, आहार, शौच आदि जाते समय षट्काय के जीवों के प्रति हुए अतिचारों से निवृत्ति । **४. पाक्षिक :** सम्पूर्ण पक्ष में लगे दोषों की निवृत्ति के लिए अमावस्या एवं पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना । **५. चातुर्मासिक :** चार माह में हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की पूर्णिमा को विचारपूर्वक आलोचना करना । **६. सांवत्सरिक :** वर्ष भर के अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ माह के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन चिन्तनपूर्वक आलोचना करना । **७. औत्तमार्थ :** याक्ज्जीवन चार प्रकार के आहारों से निवृत्ति होना औत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । इसके अन्तर्गत जीवनपर्यन्त सभी प्रकार के अतिचारों का भी त्याग हो जाता है ।

जिज्ञासा का समाधान—प्रतिक्रमण के उपर्युक्त भेदों के आधार पर एक जिज्ञासा होती है कि जब दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण करने से प्रतिदिन के अतिचारों की निवृत्ति हो जाती है तब पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है ? इसके समाधान में कहा है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने के बाद भी कुछ अतिचारों का परिमार्जन शेष रह जाता है, उसके लिए पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक—इन प्रतिक्रमणों का विधान किया है । इनमें भी जो अतिचार छूट गये उनके त्याग के लिए औत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

अन्य दृष्टि से भेद—उपर्युक्त सात भेदों के अतिरिक्त भी मूलाचार के संक्षेप-प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव नामक तृतीय अधिकार में आराधना (मरणसमाधि) काल के तीन प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है ।[२]

१. सर्वातिचार—दीक्षा ग्रहण काल से लेकर सम्पूर्ण तपश्चरण काल में हुए समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण (त्याग) ।

२. त्रिविध आहार का प्रतिक्रमण—जल के अतिरिक्त अशन, खाद्य और स्वाद्य—इन तीन प्रकार के आहार का त्याग करना ।

---

१. मूलाचार ७/११६

२. पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिक्कमणं ।
पाणस परिच्चयणं जावज्जीवाय उत्तमट्ठं च ॥ मूलाचार ३/१२०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—जीवन पर्यन्त पानक जल आदि का भी त्याग । यह प्रतिक्रमण उत्तम अर्थ (मोक्ष) के लिए होता है ।[१] उत्तमार्थ प्रतिक्रमण से तात्पर्य है बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह, आहार और शरीर से ममत्व का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना ।[२]

मूलाचारवृत्ति में आचार्य वसुनन्दि ने आराधनाशास्त्र के आधार पर योग, इन्द्रिय, शरीर और कषाय—इन चार प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है । मन, वचन और काय—इन तीन योगों का त्याग **योग-प्रतिक्रमण** है । पंचेन्द्रियों के विषयों का त्याग **इन्द्रिय-प्रतिक्रमण** है । औदारिक वैक्रियक, आहारक, तैजस् और कार्माण—इन पाँच शरीरों से ममत्व त्याग (अथवा अपने शरीर को कृश करना) **शरीर-प्रतिक्रमण** एवं अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषायों का एवं हास्य, रति आदि नौ नोकषायों का त्याग करना **कषाय प्रतिक्रमण** है ।[३]

उपर्युक्त तीन योगों के ही सम्बन्ध से अपराजितसूरि ने प्रतिक्रमण के तीन भेद किये हैं—**१.** किये हुए अतिचारों का मन से त्याग करना तथा हा ! मैंने पाप-कर्म किया—ऐसा मन में विचार करना **मनःप्रतिक्रमण** है । **२.** प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना **वाक्य-प्रतिक्रमण** है तथा **३.** शरीर के द्वारा दुष्कृत्य न करना **काय-प्रतिक्रमण** है ।[४]

प्रतिक्रमण का उद्देश्य—आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जो वचन रचना को छोड़कर, रागादिभावों का निवारण करके आत्मा को ध्याता है; उसे प्रतिक्रमण होता है ।[५] क्योंकि—प्रतिक्रमण व्रतों के अतिचारों को दूर करने का महत्त्वपूर्ण उपाय है । इसके द्वारा जीव स्वीकृत-व्रतों के छिद्रों को ढँक लेता है और शुद्ध-व्रतधारी होकर कर्मास्रवों का निरोध करता हुआ शुद्ध चारित्र का पालन करता हुआ और अष्टप्रवचन-माता के आराधन में सावधान रहता हुआ संयम रूप सन्मार्ग में एक-रस हो जाता है और सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है ।[६] वस्तुतः सभी प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक होते हैं, तब उससे दोषशुद्धि होती है ।[७]

---

१. वही, वृत्ति ३/१२० । २. मूलाचार ३/११४ ।
३. मूलाचार वृत्ति० ३/१२० ।
४. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ५०१ पृष्ठ ७२८ ।
५. मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥ नियमसार ८३
६. उत्तराध्ययन २९/१२ ।
७. सर्व प्रतिक्रमणमालोचनापूर्वकमेव ।—तत्त्वार्थकार्तिक ९/२२/४.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण-विधि

सर्वप्रथम विनयकर्म करके, शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन व नेत्र से देखभाल कर शुद्धि करे । इसके बाद अंजुलि छोड़कर ऋद्धि आदि गौरव तथा जाति आदि सभी तरह के मान छोड़कर व्रतों में हुए अतिचारों को गुरु के समक्ष निवेदन करना चाहिए ।[१] आचार्य के समक्ष अपराधों का निवेदन नित्य-प्रति करना चाहिए ।

आज नहीं, दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के समक्ष अपराध कहूँगा—इत्यादि रूप में टालते हुए कालक्षेप करना ठीक नहीं । अत: जैसे-जैसे माया के रूप में अतिचार उत्पन्न हो, उन्हें अनुक्रम से आलोचना, निन्दा और गर्हापूर्वक विनष्ट करके पुन: उन अपराधों को नहीं करना चाहिए[२] और जब पापकर्म करने पर प्रतिक्रमण करना पड़े, तब इससे अच्छा तो यही है कि वह पापकर्म ही न किया जाय ।[३]

धर्मकथा आदि में विघ्न का कोई कारण उपस्थित होने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाय तब सर्वप्रथम आलोचना करके संवेग और वैराग्य में तत्पर रहना ही योग्य है ।

छोटे अपराध के समय यदि गुरु समीप न हों तब वैसी अवस्था में—'मैं फिर ऐसा कभी न करूँगा, मेरा पाप मिथ्या हो'—इस प्रकार प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए ।[४] जिस प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करते हैं, उसी तरह असंयम, क्रोधादि कषायों एवं अशुभ योगों का प्रतिक्रमण करना चाहिए ।[५]

इस तरह दैवसिक, रात्रेक आदि इन सब नियमों को पूर्णकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान करना चाहिए ।[६] आलोचनाभक्ति करते समय कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमणभक्ति करने में कायोत्सर्ग, वीरभक्ति में कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति में कायोत्सर्ग—इस तरह प्रतिक्रमण काल में ये चार कृतिकर्म करने का विधान है ।[७]

---

१. मूलाचार ७/१२१ ।
२. मूलाचार ७/१२५ ।
३. अर्ध० आवश्यक निर्युक्ति भाग १, गाथा ६८४ ।
४. चारित्रसार १४१/४ ।
५. मूलाचार ७/१२० ।
६. वही ७/१६८ ।
७. वही ७/१०३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न तीर्थंकरों के समय प्रतिक्रमण की परम्परा—चौबीस तीर्थंकरों के संघ में प्रतिक्रमण के विधान की परम्परा का मूलाचारकार ने उल्लेख करते हुए लिखा है[१] कि—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को अतिचार (दोष) लगे या न लगे किन्तु दोषों की विशुद्धि के लिए समयानुसार प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया, किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों अर्थात् द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया और कहा कि—जिस व्रत में स्वयं या अन्य साधु को अतिचार हो उस दोष के नाशार्थ उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए ।

वस्तुत: मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धिशाली, एकाग्र-मनवाले, प्रेक्षापूर्वकारी, अतिचारों की गर्हा एवं जुगुप्सा करने वाले तथा शुद्ध-चरित्र होते थे । किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्तवाले, मोही तथा जड़ बुद्धि वाले होते थे । अत: ईर्यापथ, आहारगमन, स्वप्नादि में किसी भी समय अतिचार होने या न होने पर भी उन्हें सभी नियमों एवं प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों के उच्चारण का उपदेश दिया ।

मूलाचारकार ने इसके सम्बन्ध में **अन्धलक-घोटक (अन्धे घोड़े) का दृष्टान्त** इस प्रकार दिया है ।[२]

दृष्टान्त—किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया । राजा ने उसे उपचार हेतु वैद्य के यहाँ भेजा किन्तु वैद्य दूसरे गाँव गया था । वैद्य के पुत्र से उसकी दवा के लिए कहा, किन्तु उसे दवा आदि का विशेष कुछ भी ज्ञान न था फिर भी अति आवश्यकतावश उसने घोड़े की आँखों पर क्रमश: सभी दवाओं का प्रयोग किया और किसी दवा के प्रयोग से अचानक ही घोड़े की आँखें अच्छी हो गई । ठीक इसी **'अन्धलक-घोटक न्याय'** रूप दृष्टान्त की तरह एक अतिचार के होने या न होने पर भी प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों के उच्चारण का विधान किया गया, ताकि किसी एक पर मन स्थिर हो जाने से दोषों का प्रमार्जन हो जाय ।

अर्थात् वैद्यपुत्र की तरह मुनि का मन जब एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिर नहीं होता हो तो यह सोचकर सभी प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना

---

१. मूलाचार ७/१२९-१३३ ।

२. पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य ।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥ मूलाचार ७/१३३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए कि एक के उच्चारण में नहीं, तो दूसरे के उच्चारण में मन स्थिर होगा। दूसरे में नहीं तो तीसरे में, तीसरे में नहीं तो चौथे में।

इस तरह सभी प्रतिक्रमण-दण्डक कर्मक्षय में समर्थ होने से सभी प्रतिक्रमण दण्डकों के उच्चारण में कोई विरोध नहीं है। इसी विधान के अनुसार आज तक सभी मुनियों एवं आर्यिकाओं आदि को नित्य प्रतिक्रमण करने की परम्परा निरन्तर चली आ रही है।

दस प्रकार के मुण्ड—प्रतिक्रमण आवश्यक के अन्तर्गत ही मूलाचार में दस मुण्डों का भी विवेचन किया है।

दस मुण्ड[1]—स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन पाँच इन्द्रियों को स्व-स्व विषयों में आसक्त न होने देना—ये **पाँच इन्द्रियमुण्ड** तथा ६. **वचोमुण्ड** अर्थात् अप्रस्तुत भाषण न करना। **७. हस्तमुंड**—अप्रस्तुत कार्यों में हाथ न फैलाना, उसे संकुचित रखना। **८. पादमुण्ड**—अयोग्य कार्य में पैरों को प्रवृत्त न होने देना। **९. मनोमुण्ड**—मन के पापपूर्ण विचारों को नष्ट करना तथा **१०. तनुमुण्ड**—शरीर को अशुभ पापकार्य में प्रवृत्त न होने देना—इन दस मुण्डों से आत्मा पाप में प्रवृत्त नहीं होती है। अतः इनका पालन करने वाली आत्मा को मुण्डधारी कहते हैं।[2]

इस तरह श्रमणाचार में प्रतिक्रमण का अपना विशिष्ट स्थान है। यह षडावश्यकों के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी अत्यधिक महत्ता के कारण आज-कल प्रतिक्रमण शब्द 'आवश्यक' शब्द का पर्यायवाची बन गया है। अर्थात् 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके भी छहों आवश्यकों के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा है। इतना ही नहीं, कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों तक में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3]

५. प्रत्याख्यान आवश्यक

स्वरूप—प्रमादपूर्वक किये गये भूतकालीन दोषों का प्रक्षालन प्रतिक्रमण (पच्चक्खाण) कहलाता है तथा भविष्यकाल के प्रति मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान (प्रतिज्ञा) करना प्रत्याख्यान है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है।

---

१. मूलाचार ३/१२१। २. वही वृत्ति० ३/१२१।
३. दे०—धर्मसंग्रह-प्रतिक्रमण विधि आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् अयोग्य द्रव्य का परिहार करना अथवा तप में बाधक योग्य द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है ।[१] मूलाचार के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह निक्षेपों के विषय में शुभ मन, वचन और काय के द्वारा अनागत[२] और वर्तमान काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है ।[३]

उद्देश्य—वस्तुत: प्रत्याख्यान शब्द तत्त्व के द्वारा जानकर हेतुपूर्वक नियम करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । चाहे हम किसी वस्तु का भोग भले ही न करें, यदि प्रत्याख्यान नहीं किया हो तो वह त्याग फलदायक नहीं होता । क्योंकि हमने तत्त्वरूप से इच्छा का निरोध नहीं किया । प्रत्याख्यान रूप में नियम न करने से अपनी इच्छा खुली रहती है । यदि प्रत्याख्यान हो तो स्वाभाविक रूप से दोष के हेतुओं की ओर दृष्टि करने तक की इच्छा नहीं होती । इसके विपरीत प्रत्याख्यान न करने वाला पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत् कर्मबन्ध करता रहता है ।

उदाहरण—सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसके विषय में एक उदाहरण इस प्रकार उल्लिखित है[४] कि किसी वध करने वाले (वधक) ने सोचा कि उस गृहस्थ अथवा गृहस्थपुत्र या राजा की हत्या करना है । पहले सो जाऊँ, फिर उठकर अवसर पाते ही उसकी हत्या करूँगा । इस प्रकार के संकल्प वाला वधक पुरुष चाहे सोया हुआ हो या जागा हुआ हो, चल रहा हो या बैठा हो—उसके मन में निरन्तर हत्या की भावना विद्यमान होने से वह तो किसी भी समय हत्या की भावना को कार्यरूप में परिणत कर सकता है । अपनी इस सावद्य मनोवृत्ति के कारण वह निरन्तर प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है ।

अत: साधक व्यक्ति को सावद्ययोग का प्रत्याख्यान अत्यावश्यक है । इससे जितने अंश में सावद्यवृत्ति का त्याग किया जाता है, उतने अंश में कर्म-बन्धन रुक जाता है । इस दृष्टि से प्रत्याख्यान आवश्यक निरवद्यानुष्ठान रूप होने से आत्मशुद्धि के लिए साधक है ।

---

१. मूलाचार वृत्ति १/२७ ।
२. अनागतं चानुपस्थितं च अथवा अनागते दूरेणागते काले (दूरे भविष्यतिकाले) —वही ।
३. णामादीणं छण्हं अजोगपरवज्जणं तियरणेण ।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥ मूलाचार १/२७
४. सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध चतुर्थाध्ययन दिट्ठंत एवं उवणय पदं पृ० ४५१ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान के तीन अंग—प्रत्याख्यान के प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य—ये तीन अंग हैं[१] । **१. प्रत्याख्यायक** से तात्पर्य संयमयुक्त जीव है । अर्थात् जो श्रमण गुरु के उपदेश, अर्हद् की आज्ञा तथा सम्यक् विवेक-पूर्वक दोषों के स्वरूप को जानकर उनका साकार (सविकल्प) और निराकार (निर्विकल्प) रूप से प्रतिक्रमण (पूर्ण त्याग) करता है तथा उसका ग्रहणकाल, मध्यकाल और समाप्ति काल में दृढ़तापूर्वक पालन करता है, उस धैर्यवान् आत्मा को **प्रत्याख्यायक** कहते हैं[२] । **२. प्रत्याख्यान** से तात्पर्य त्याग के परिणाम से है । अर्थात् जिन परिणामों से तप के लिए सावद्य या निरवद्य द्रव्य का त्याग किया जाता है ।[३] ऐसा अन्न, वस्त्र आदि बाह्य द्रव्यरूप वस्तुओं का त्याग तथा अज्ञान, असंयम आदि के त्याग द्वारा भावपूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से होना चाहिए । **३. प्रत्याख्यातव्य** से तात्पर्य त्याग योग्य परिग्रह अर्थात् सचित्त, अचित्त और मिश्र एवं अभक्ष्य भोज्य आदिरूप बाह्य-उपधि (परिग्रह) तथा क्रोध, मान, माया और लोभ रूप अन्तरंग-उपधि का त्याग है ।[४]

इस प्रकार प्रत्याख्यान के ये तीन अंग हैं तथा भूत, भविष्य और वर्त-मान—इन तीन कालों की दृष्टि से इनके तीन-तीन भेद हैं ।[५]

प्रत्याख्यान के भेद

अपराजितसूरि ने योग के सम्बन्ध से मन, वचन और काय की दृष्टि से प्रत्याख्यान के तीन भेद किये हैं । १. मैं अतिचारों को भविष्यकाल में नहीं करूँगा—ऐसा मन से विचार करना **मनःप्रत्याख्यान** है । २. भविष्यकाल में (आगे) मैं अतिचार नहीं करूँगा—ऐसा वचनों द्वारा कहना **वचन प्रत्याख्यान** है । तथा ३. शरीर के द्वारा भविष्यकाल में अतिचार नहीं करना **काय-प्रत्याख्यान** है ।[६]

निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के भेद

अन्य आवश्यकों के समान निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह भेद हैं ।[७]

---

१. मूलाचार ७/१३६ । २. मूलाचार ७/१३७ ।
३. वही ७/१३८ । ४. मूलाचार ७/१३८ ।
५. वही ७/१३६ ।
६. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९, पृ० ७२८ ।
७. वही १/२७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. अयोग्य नाम का उच्चारण 'मैं नहीं करूँगा' इस प्रकार का संकल्प **नाम प्रत्याख्यान** है ।

२. आप्ताभास रूप सरागी देवों की प्रतिमाओं की पूजा तथा त्रस, स्थावर जीवों की स्थापना को त्रिविध रूप से मैं पीड़ित नहीं करूँगा—ऐसा मानसिक संकल्प **स्थापना प्रत्याख्यान** है ।

३. अयोग्य आहार, उपकरणादि पदार्थों के ग्रहण न करने का संकल्प **द्रव्य-प्रत्याख्यान** है ।

४. अयोग्य, अनिष्ट, प्रयोजनोत्पादक संयम की हानि करने वाले, संक्लेश-भावोत्पादक क्षेत्रों के त्याग का संकल्प **क्षेत्र प्रत्याख्यान** है ।

५. काल का त्याग शक्य न हो सकने के कारण उस काल में होने वाली क्रियाओं के त्याग का संकल्प **काल प्रत्याख्यान** है ।

६. अशुभ परिणाम के त्याग का संकल्प **भाव प्रत्याख्यान** है, इसके मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान—ये दो भेद हैं ।[१]

मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान—दो भेद करके इनके श्रमणादि (आहारत्यागादि) भेदों का संकेत मात्र किया है और अन्त में प्रत्याख्यान के दस भेदों का विवेचन किया है ।[२]

१. मूलगुण प्रत्याख्यान—यह यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है । इसके दो भेद हैं : सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान (श्रमण के पाँच महाव्रतादि) तथा देशमूलगुण प्रत्याख्यान (गृहस्थों के पाँच अणुव्रतादि) ।

२. उत्तरगुण प्रत्याख्यान—यह प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी है । इसके भी दो भेद हैं—पहला है **सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान**—अर्थात् जो साधु और श्रावक दोनों के लिए होता है । इसके अनागत, अतिक्रान्त आदि दस भेद हैं जिनका विवेचन आगे किया गया है । द्वितीय है **देश-उत्तरगुण प्रत्याख्यान**—जो केवल श्रावकों के लिए है । **तीन-गुणव्रत** और **चार शिक्षाव्रत** (–सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा अतिथिसंविभाग व्रत) इनके अन्तर्गत आते हैं ।[३] (तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार—दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार के अनुसार दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत तथा भोगोपभोग परिमाण व्रत—ये तीन गुण व्रत हैं ।)

---

१. भगवती आराधना विजयोदयाटीका गाथा ११६ पृष्ठ २७६-२७७ ।
२. मूलाचार ७/१३९, आवश्यक निर्युक्ति दीपिका गाथा १५५७ ।
३. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५५-१५५७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान के दस भेद[1]—

(१) **अनागत**—भविष्यकाल विषयक उपवास आदि पहले कर लेना । यथा—चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को करना ।

(२) **अतिक्रान्त**—अतीत (भूत) काल विषयक उपवास आदि करना । जैसे चतुर्दशी आदि को कारणवश उपवास न कर पाये तो उसे आगे प्रतिपदा आदि में करना ।

(३) **कोटिसहित**—अर्थात् संकल्प-सहित शक्ति की अपेक्षा उपवासादि करने का संकल्प करना । जैसे—कल स्वाध्याय के बाद यदि शक्ति होगी तो उपवासादि करूँगा, अन्यथा नहीं ।

(४) **निखंडित**—पाक्षिक, मासिक आदि में अवश्यकरणीय उपवासादि का करना ।

(५) **साकार**—सभेद अर्थात् प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष जैसे सर्वतोभद्र, कनकावल्यादि व्रतों के उपवासों को विधि, नक्षत्रादि के भेद पूर्वक करना ।

(६) **अनाकार**—बिना आकार अर्थात् नक्षत्रादि का भेद या विचार किये बिना स्वेच्छया उपवासादि करना ।

(७) **परिणामगत**—दो, तीन, पन्द्रह आदि दिन के काल प्रमाण सहित उपवासादि करना ।

(८) **अपरिशेष**—यावज्जीवन चार प्रकार के आहार आदि का परित्याग करना ।

(९) **अध्वानगत**—(मार्ग विषयक)–जंगल, नदी, देश आदि का रास्ता पार करने तक आहारादि का त्याग करना ।

(१०) **सहेतुक**—उपसर्गादि के कारण उपवासादि करना ।

अर्धमागधी-आवश्यकनिर्युक्ति में वर्णित प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद

पहले मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के मूलगुण और उत्तरगुण इन दो भेदों तथा इनके उपर्युक्त भेदों का संकेत मात्र करके अन्त में कुल दस भेदों की गणना की है । किन्तु श्वेताम्बर परम्परा की अर्धमागधी आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका में इन भेदों से कुछ शब्दभेद तथा अर्थभेद के साथ स्पष्टीकरण पूर्वक इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार किया गया है—

---

१. मूलाचार ७/१४०-१४१, आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका १५५९-१५५६ तुलना करो—स्थानांग १०/१०१, भगवती ७/२ (पृ० ९२६,९९९)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें सर्वप्रथम **निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के भेद**—नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा (न देने की इच्छा), प्रतिषेध और भाव—ये छह भेद किये हैं ।[१] इनमें भाव-प्रत्याख्यान के श्रुत और नोश्रुत—ये दो भेद बताये हैं । नोश्रुतभाव प्रत्याख्यान के मूलगुण और उत्तरगुण—ये दो भेद[२] हैं तथा इन दोनों में प्रत्येक के सर्व और देश—ये दो-दो भेद करके सर्व-उत्तरगुण के अनागत, अतिक्रान्त आदि दस भेद किये गये हैं ।[३]

मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के सर्वप्रथम निक्षेपदृष्टि से नाम, स्थापना आदि छह भेद किये हैं, फिर सीधे ही प्रत्याख्यान के अनागत आदि दस भेद कर दिये हैं । मूलाचार की अपेक्षा अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति में प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का कथन अधिक स्पष्ट है । मूलाचार के निखंडित की जगह आवश्यक-निर्युक्ति दीपिका में नियंत्रित, अध्वानगत की जगह सांकेतित और सहेतुक की जगह अध्वा प्रत्याख्यान का उल्लेख मिलता है ।[४] यहाँ मूलाचार के आधार पर प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का चार्ट प्रस्तुत है—

प्रत्याख्यान के भेदों का चार्ट

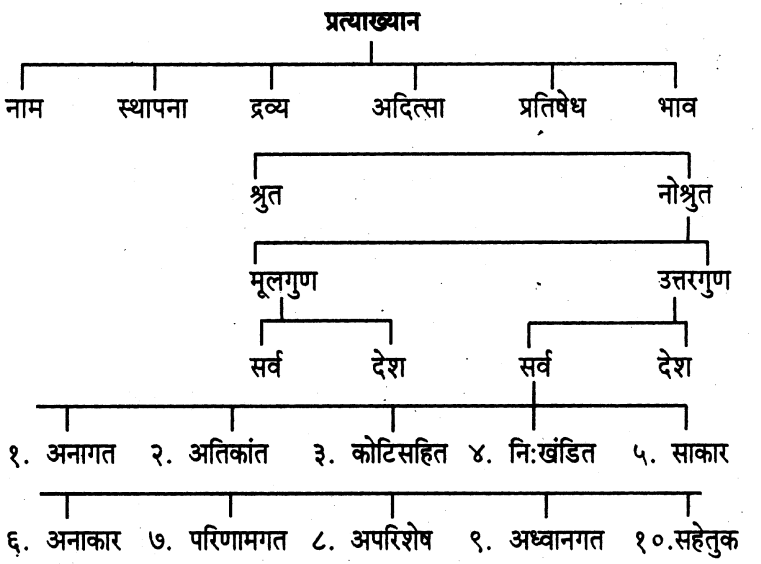

१. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५१ ।
२. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५४-१५५५ ।
३. वही १५५८-१५५९ ।
४. मूलाचार ७/१४०-१४१, आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका १५५८-१५५९ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान की विधि

महाव्रतों के विनाश व दोषोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे, वैसा करता हूँ—ऐसी मन से आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि के प्रतिग्रह का नाम प्रत्याख्यान है ।[१] श्वेताम्बर आवश्यकवृत्ति के अनुसार श्रद्धान, ज्ञान, वंदना, अनुपालन, अनुभाषण और भाव—इन छह शुद्धियों युक्त किया जाने वाला शुद्ध प्रत्याख्यान होता है ।[२] मूलाचार में विशुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान के पालन हेतु विनय, अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम—इन चार प्रकार की शुद्धियों का विधान किया गया है ।[३] स्थानांगसूत्र में इन्हीं शुद्धियों में श्रद्धा को सम्मिलित करके प्रत्याख्यान के पूर्वोक्त पाँच भेद उल्लिखित हैं ।[४]

१. विनयशुद्धि का अर्थ कृतिकर्म, औपचयिक, ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन पाँच प्रकार की विनय से युक्त प्रत्याख्यान किया है । **२. अनुभाषा शुद्धि** से तात्पर्य गुरु वचनों के अनुसार अक्षर, पद, व्यंजन, घोष, स्वर आदि के उच्चारण का शुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान करना है । **३. अनुपालन शुद्धि**—अर्थात् आतंक, उपसर्ग, श्रम, दुर्भिक्ष, वृत्ति तथा महारण्यादि में आपत्ति के समय अपने व्रतों आदि की विशुद्धता बनाए रखना । **४. परिणामशुद्धि**—अर्थात् राग-द्वेष रूप मन के परिणामों से रहित, पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना ।[५]

उपर्युक्त चार शुद्धियों से किये गये प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा को मन, वचन और काय की दुष्प्रवृत्तियों से रोककर शुभ प्रवृत्तियों में केन्द्रित किया जा सकता है । इससे अमर्यादित जीवन मर्यादित करने में सहायता मिलती है तथा जीवन में त्याग की निरन्तरता को बनाये रखा जा सकता है ।

इस प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा श्रमण स्वयं को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और आत्मचिन्तन में तत्पर रखते हैं । इसके करने से आस्रव का निरोध होता है । उससे संवर तथा संवर से तृष्णा का नाश होकर समत्व की प्राप्ति होती है और क्रमशः मुक्ति प्राप्त करता है ।

६. कायोत्सर्ग आवश्यक :

स्वरूप—मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के लिए विसर्ग[६] तथा व्युत्सर्ग[७] शब्दों का भी प्रयोग किया है । दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और

---

१. धवला ८/३/४१/८५/१ ।
२. आवश्यक वृत्ति पृ० ८४७ ।
३. मूलाचार ७/१४२, स्थानांग ५/३/४६५ ।
४. स्थानांग ५/२११ ।
५. मूलाचार ७/१४३-१४६ ।
६-७. वही, १/२२ तथा ७/१८१ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सांवत्सरिक आदि अर्हत्प्रणीत कालप्रमाण के अनुसार अर्थात् जिस-जिस काल में जितना-जितना कायोत्सर्ग जिनेन्द्रदेव ने आगमों में कहा गया है, उस काल का अतिक्रमण किये बिना यथोक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान् का चिन्तन करते हुए शरीर से ममत्व त्याग विसर्ग या कायोत्सर्ग (विसग्ग या काउसग्ग) कहलाता है ।[१]

काय+उत्सर्ग—इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द बना है । जिसका अर्थ है काय का त्याग अर्थात् परिमिति काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग ।[२] काय आदि परद्रव्यों के प्रति स्थिर भाव छोड़कर निर्विकल्प रूप से आत्मध्यान करना कायोत्सर्ग है ।[३] इसे व्युत्सर्ग भी कहते हैं । नि:संगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है ।[४]

उद्देश्य—आत्मसाधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग की विधि ही व्युत्सर्ग है । इसकी साधना से श्रमण अपने देह के प्रति ममत्व भाव का पूर्णत: विसर्जन करने की स्थिति में पहुँच जाता है, क्योंकि शरीर अन्य है, जीव-आत्मा अन्य है—इस प्रकार के भेद-विज्ञान का चिन्तन आत्म-साधना में आवश्यक है ।[५] इससे चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है और आत्मा को अपने स्व-स्व चिन्तन का अवसर मिलता है ।

इस प्रकार आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम (कुछ समय के लिए देहोत्सर्ग अर्थात् देह-भाव के विसर्जन) से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन करता है और ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति निर्वृतहृदय (शान्त या हल्का) हो जाता है और प्रशस्तध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है ।[६]

कायोत्सर्ग के भेद—निक्षेप दृष्टि से कायोत्सर्ग के छह भेद हैं—

१. नाम—'कायोत्सर्ग' ऐसे इस नाम को नाम-कायोत्सर्ग कहते हैं । अथवा तीक्ष्ण, कठोर आदि रूप पापयुक्त नामकरण में हुए दोषों के परिहारार्थ जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह नाम कायोत्सर्ग है ।

---

१. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो ॥ मूलाचार १/२८
२. तत्त्वार्थवार्तिक ६/२४/११, पृ० ५३० ।
३. नियमसार १२१ ।
४. नि:संङ्गनिर्भयत्वजीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्ग: । तत्त्वार्थवार्तिक ९/२६/१०
५. अन्नं इमं सरीरं अन्नोजीवुत्ति कयबुद्धि—आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका १५४७
६. उत्तराध्ययन २९/१३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. **स्थापना**—कायोत्सर्ग परिणत प्रतिमा ।

३. **द्रव्य**—सावद्यद्रव्य सेवन से उत्पन्न दोष के नाशार्थ कायोत्सर्ग करना, अथवा कायोत्सर्ग प्राभृतशास्त्र को जानने वाला जो उसमें उपयुक्त न हो वह पुरुष और उसके शरीर को, भावीजीव, उसके तद्व्यतिरिक्तकर्म और नोकर्म—इनको द्रव्यकायोत्सर्ग कहते हैं ।

४. **क्षेत्र**—पापयुक्त क्षेत्र से आने पर दोषों के नाशार्थ किया जाने वाला अथवा कायोत्सर्ग में युक्त व्यक्ति जिस क्षेत्र में बैठा है वह क्षेत्र कायोत्सर्ग है ।

५. **काल**—सावद्यकाल के दोष परिहार के लिए किया जानेवाला कायोत्सर्ग, अथवा कायोत्सर्ग में युक्त पुरुष जिस काल में है वह काल कायोत्सर्ग है ।

६. **भाव**—मिथ्यात्व आदि अतिचारों के परिहारार्थ किया जाने वाला कायोत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग प्राभृतशास्त्र के ज्ञाता और उपयोग युक्त आत्मा तथा आत्मप्रदेश भाव कायोत्सर्ग है ।

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में योग के सम्बन्ध से मन, वचन और काय की दृष्टि से कायोत्सर्ग के तीन भेद बताये हैं—१. "ममेदं" —यह शरीर मेरा है इस भाव की निवृत्ति मनःकायोत्सर्ग है । २. मैं शरीर का त्याग करता हूँ—इस प्रकार के वचनों का उच्चारण करना वचनकृत कायोत्सर्ग है । ३. प्रलम्बभुज (बाहु नीचे लटकाकर) होकर, दोनों पैरों में चार अंगुलमात्र का अन्तर कर समपाद निश्चल खड़े होकर कायकृत कायोत्सर्ग है ।[१]

आवश्यचूर्णिकार के अनुसार कायोत्सर्ग के दो मुख्य भेद—द्रव्य और भाव । इनमें **द्रव्यकायोत्सर्ग** का अर्थ का काय चेष्टा का निरोध अर्थात् शरीर की चंचलता एवं ममता का त्याग एवं जिनमुद्रा में निश्चल खड़े होना है । **भावकायोत्सर्ग** से तात्पर्य है धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में रमण करना[२] ।

द्रव्य और भाव दृष्टि से भेद—इन द्रव्य और भाव इन दोनों दृष्टियों से भेद समझाने के लिए मूलाचारकार ने **कायोत्सर्ग के चार भेद** किये हैं ।[३]

---

१. भगवती आराधना विजयोदया टीका—५०९, पृष्ठ ७२८ ।
२. सो पुण काउस्सगो दव्वत्तो भावतो य भवति ।
दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो भावतो काउस्सग्गो झाणं ॥ आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध १५४८ ।
३. मूलाचार ७।१७६, भगवती आराधना वि०टी० ११६ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. उत्थित-उत्थित—जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन किया जाता है वह उत्थित-उत्थित कायोत्सर्ग है ।[१] इसमें श्रमण शरीर (द्रव्य) तथा परिणामों (भावों)—इन दोनों में उत्थित होता है ।

यहाँ द्रव्य और भाव—इन दोनों के ही उत्थान से युक्त होने के कारण उत्थित-उत्थित शब्द से उत्थान का प्रकर्ष कहा है । स्थाणु (खम्भे) की तरह शरीर को उन्नत और निश्चल रखना **द्रव्योत्थान** है । ज्ञानरूप भाव का ध्यान करने योग्य एक ही वस्तु में स्थिर रहना **भावोत्थान** है ।

२. उत्थित-निविष्ट—इसमें शरीर से स्थित (खड़े) होकर भी आर्त-रौद्र-ध्यान का चिन्तन ही रहता है ।[२] अर्थात् श्रमण शरीर रूप द्रव्य से स्थित रहने पर भी मन में विविध अशुभ विकल्प रूप परिणामों में उलझा रहता है । अतः शरीर से खड़े होकर भी शुभ परिणामों के अभाव के कारण (मन-आत्मा से) निविष्ट—बैठे हुए रहते हैं । अतः एक ही काल और क्षेत्र में उत्थित और निविष्ट—इन दोनों आसनों में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों के निमित्त भिन्न हैं ।

३. उपविष्ट-उत्थित—उपविष्ट अर्थात् बैठकर भी धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान का ही चिन्तन करना उपविष्ट-उत्थित कायोत्सर्ग है ।[३] शरीर के वृद्ध एवं अशक्त हो जाने पर श्रमण खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने में असमर्थ होता है, किन्तु मन में शुभध्यान-चिन्तन के तीव्र भाव रहते हैं । अतः मन में उन्नत परिणामों से युक्त होने के कारण वह उत्थित होता है, किन्तु अशक्ति के कारण उपविष्ट अर्थात् तन से बैठा रहता है ।

४. उपविष्ट-निविष्ट—जो बैठकर भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान का ही चिन्तन करता है, उसके उपविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है । ये तन और मन दोनों से उपविष्ट (बैठे हुए)हैं—अर्थात् आलस्य और कर्तव्य-शून्य होते हैं । क्योंकि न तो ये शरीर से उत्थित होते हैं और न ही इनके शुभ परिणाम रहते हैं ।[४]

अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति में उद्देश्य की दृष्टि से **कायोत्सर्ग के दो भेद** बताये हैं[५]—चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग । विभिन्न प्रवृत्तियाँ करते

---

१. मूलाचार ७/१७७ । २. वही ७/१७८ ।
३. मूलाचार ७/१७९ । ४. वही ७/१८० ।
५. सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो ।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे विइओ ॥ आवश्यक निर्युक्ति १४५२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय हुए दोषों या अतिचारों की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला **चेष्टा कायोत्सर्ग** है तथा प्राप्त कष्टों को सहन करने[१], कष्टजनित भय को निरस्त करने एवं विशेष आत्म-विशुद्धि के लिए दीर्घकाल तक मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए किया जाने वाला **अभिभव कायोत्सर्ग** है ।

कायोत्सर्ग के अंग—

कायोत्सर्ग के तीन अंग हैं—१. कायोत्सर्ग, २. कायोत्सर्गी, ३. कायोत्सर्ग के कारण ।[२]

१. कायोत्सर्ग—दोनों हाथ नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद, शरीर के सभी अंगों की चंचलता से रहित निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना विशुद्ध कायोत्सर्ग है ।[३]

२. कायोत्सर्गी—जो जीव मोक्षार्थी, निद्राजयी, सूत्रार्थ विशारद, करण (परिणामों से) शुद्ध, आत्मबल और वीर्ययुक्त है—ऐसे विशुद्धात्मा को कायोत्सर्गी कहा जाता है ।[४] क्योंकि यह कायोत्सर्ग मोक्षपथ अर्थात् मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय का उपदेशक और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय—इन चार घातिया-कर्मों के अतिचारों का विनाश करने वाला है । इस कायोत्सर्ग का जिनेन्द्रदेव ने सेवन किया तथा दूसरों को उपदेश दिया । ऐसे ही कायोत्सर्ग को धारण करने की वह इच्छा करता है ।[५]

३. कायोत्सर्ग के कारण—एक पैर से खड़े होने पर जो अतिचार होता है तथा द्वेषवश गुप्तियों के उल्लंघन एवं क्रोध, मान, माया तथा लोभ—इन चार कषायों के द्वारा व्रतों में जो व्यतिक्रम होता है, इन सबके तथा षड्जीवनिकाय की विराधना के द्वारा, भय एवं मद-स्थानों के द्वारा जो व्यतिक्रम हुए, साथ ही ब्रह्मचर्य-धर्म में हुए व्यतिक्रमों से उत्पन्न अशुभ कर्मों के विनाशार्थ कायोत्सर्ग किया जाता है ।[६]

मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के और भी कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च—इन चेतन प्राणियों द्वारा किये जाने वाले तथा विद्युत्पात् आदि अचेतन कारणों से उत्पन्न सभी प्रकार के उपसर्गों के अभ्यास

---

१. मूलाचार ७/१५८ ।
२. काउस्सग्गो काउस्सग्गो काउस्सग्गस्स कारणं चेव ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंति ॥ मूलाचार ७/१५२
३. वही ७/१५३ । ४. वही ७/१५४ ।
५. वही ७/१५५ । ६. वही ७/१५६, १५७ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हेतु अर्थात् इन उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए ।[१]

इसीलिए श्रमण भी मोक्षमार्ग में स्थिर रहकर ईर्यापथ के अतिचारों का त्यागकर व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह अर्थात् शरीर में मोह के त्यागपूर्वक दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं ।[२] यहाँ व्युत्सृष्टत्यक्तदेह से तात्पर्य जिसने विविध या विशिष्ट प्रकार से देह (शरीर) उत्सर्ग किया हो ।[३]

कायोत्सर्ग की विधि[४]—

कायोत्सर्ग-साधना के तीन तत्त्व—१. स्थान, २. मौन और ३. ध्यान ।

१. स्थान—स्थान से तात्पर्य कायोत्सर्ग में कायिक हलन-चलन से रहित होकर एक ही स्थान पर स्थिर रहना । ऐसा कायोत्सर्ग स्थित (खड़े) होकर[५], उपविष्ट अर्थात् बैठकर तथा शयनपूर्वक या लेटकर भी किया जा सकता है । हेमचन्द्राचार्य ने भी पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया है ।[६] समाधिमरण के समय यावज्जीवन के लिये किया जाने वाला कायोत्सर्ग लेटकर भी किया जा सकता है ।

२. मौन—कायोत्सर्ग में मौन भी एक प्रमुख कार्य है । इसके अभाव में बाह्य प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरत होना असम्भव है । अतः मौन के द्वारा वाक् प्रवृत्ति का स्थिरीकरण होता है ।

३. ध्यान—कायोत्सर्ग में चित्तवृत्ति को समेटकर एक ही विषय पर मन केन्द्रित करने के लिए ध्यान भी परमावश्यक है ।

वस्तुतः कायोत्सर्ग एक आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । इसलिए विधि की दृष्टि से कायोत्सर्ग के पूर्वोक्त चार भेदों में श्रमण के लिए प्रथम **उत्थित-उत्थित** और तृतीय **उपविष्ट-उत्थित**—ये दो कायोत्सर्ग ही उपादेय हैं ।

इसकी विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम एकान्त एवं अबाधित स्थान में पूर्व तथा उत्तर दिशा अथवा जिन-प्रतिमा की ओर मुख करके आलोचनार्थ

---

१. मूलाचार ७/१५८ । २. वही ७/१६५ ।
३. उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र ३७१ । ४. मूलाचार ६/१५९ ।
५. वही ७/१५८ ।
६. स च कायोत्सर्ग उच्छ्रितनिषण्णशयितभेदेन त्रिधा—योगशास्त्र तृतीय प्रकाश पृष्ठ २५० ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग करने का विधान है ।[१] फिर बाहुयुगल नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद एवं निश्चल खड़े होकर[२] मन से शरीर के प्रति 'ममेदं' बुद्धि की निवृत्ति कर लेना चाहिए ।[३]

कायोत्सर्ग में स्थित होकर श्रमण को दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करना चाहिए ।[४] साथ ही ईर्यापथ के अतिचारों का क्षय एवं अन्य नियमों को पूर्ण करके धर्म और शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए ।[५] कायोत्सर्ग में स्थित होने पर देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये किसी भी प्रकार के उपसर्ग को सहन करना चाहिए ।[६]

ऐसे ही धीर श्रमण भक्तपान, ग्रामान्तर-गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण आदि विषयों के वेत्ता, माया-प्रपंच रहित, अनेक विशेषताओं युक्त, स्वशक्ति एवं आयु के अनुसार दु:ख-क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं । बल और वीर्य के आश्रय से क्षेत्र-बल, कायबल तथा शरीर संहनन की अपेक्षा से निर्दोष कायोत्सर्ग करने का विधान भी है ।[८]

कायोत्सर्ग में चिन्तनीय शुभ-मनःसंकल्प—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, संयम, व्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान ग्रहण तथा करण अर्थात् तेरह क्रियायें, (इनमें पंचनमस्कार, छह आवश्यक एवं आसिका और निषीधिका), प्रणिधान, समिति पालन के भाव, विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुणों में आदरभाव, ब्रह्मचर्य पालन, षट्काय के जीवों की रक्षा के भाव, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, मार्दव, आर्जव, विनय, तत्त्व-श्रद्धान और मुक्ति के परिणाम—इन सभी विषयों में ये शुभ-मनः-संकल्प आदि कायोत्सर्ग के समय अवश्य ही धारण करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग में ये शुभ-मनःसंकल्प सभी के लिए महार्थ अर्थात् कर्मक्षय के हेतुभूत, प्रशस्त, विश्वस्त, सम्यक्-ध्यान-रूप तथा जिनशासन सम्मत है ।[९]

कायोत्सर्ग में त्याज्य अशुभ संकल्प—परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजन, अशन, पान, लयण (उत्कीर्ण पर्वतीय गुफा आदि), शयन, आसन, भक्तपान,

---

१. भगवती आराधना गाथा ५५० ।
२. मूलाचार ७/१५३, भगवती आराधना वि०टी० ५०९ ।
३. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९, पृ० ७२९ ।
४. मूलाचार ७/१६८ । ५. मूलाचार ७/१६७ ।
६. वही ७/१२८, आवश्यक निर्युक्ति दीपिका गाथा १५४४ ।
७. मूलाचार ७/१६६,१७४ । ८. वही ७/१७० ।
९. मूलाचार ७/१८१-१८३ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कामेच्छा, अर्थ-धनादि द्रव्य—इनके लिए कायोत्सर्ग करना तथा आज्ञा, निर्देश, प्रमाण (सभी मुझे प्रमाणस्वरूप समझें), कीर्तिवर्णन, प्रभावना, गुणों का प्रकाशन—इत्यादि प्रकार के सांसारिक वैभव प्राप्ति के भाव अप्रशस्त मनःसंकल्प होने से त्याज्य हैं । कायोत्सर्ग में ये विश्वास के सर्वथा अयोग्य होने से इनका चिन्तन त्याज्य है ।[१]

कायोत्सर्ग का कालमान

रात, दिन, पक्ष, चातुर्मास, संवत्सर (वर्ष)—इन कालों में होने वाले अतिचारों की निवृत्ति की दृष्टि से कायोत्सर्ग के बहुत भेद हैं ।[२] कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल-प्रमाण एक वर्ष और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है । इन दोनों के बीच में दैवसिक, रात्रिक कायोत्सर्ग के अनेक भेद हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में शक्ति की अपेक्षा अनेक-विध होते हैं ।[३]

वे इस तरह हैं—**दैवसिक प्रतिक्रमण** में कायोत्सर्ग का कालप्रमाण १०८ उच्छ्वास (३६ बार णमोकार मंत्र के जप बराबर) है । विजयोदया टीका में इसे १०० उच्छ्वास प्रमाण माना है ।[४] **रात्रिक प्रतिक्रमण** में ५४ उच्छ्वास । विजयोदया टीका में रात्रिक के ५० उच्छ्वास माने हैं ।[५] **पाक्षिक** में ३०० उच्छ्वास, **चातुर्मासिक** में ४०० उच्छ्वास, **सांवत्सरिक** में १०८ उच्छ्वास, वीरभक्ति, सिद्ध-भक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति और चतुर्विंशति-तीर्थंकर-भक्ति में अप्रमत्तभाव से उच्छ्वास-प्रमाण जप करना चाहिए ।

इस प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक—इन पाँच स्थानों पर उपर्युक्त कायोत्सर्ग का प्रमाण है ।[६]

अन्य स्थानों में कालमान इस तरह है—प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के अतिचार में किये जाने वाले कार्योत्सर्ग में १०८ उच्छ्वास जप किया जाता है ।[७] भक्त, पान (आहार) से आने पर, ग्रामान्तर-गमन, अर्हन्त के निर्वाण, समवसरण, केवल-ज्ञान, दीक्षा, जन्म आदि से पवित्र तीर्थ-स्थानों की वन्दनादि करके लौटने पर तथा उच्चार-प्रस्रवण के बाद प्रत्येक

---

१. मूलाचार ७/१८४-१८५ ।
२. भगवती आराधना विजयोदया टीका, गाथा ११६, पृ० २७८ ।
३. मूलाचार ७/१५९ ।
४. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ११६, पृ० २७८ ।
५. वही ।
६. मूलाचार ७/१६०-१६१ । ७. वही ७/१६२ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में २५-२५ उच्छ्वास तथा ग्रन्थारम्भ, ग्रन्थसमाप्ति, स्वाध्याय, वन्दना तथा प्रणिधान में अशुभभाव के उत्पन्न होने पर—इस प्रकार प्रत्येक में २७-२७ उच्छ्वास कायोत्सर्ग का काल प्रमाण है[१] ।

कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या भूल जाये या संख्या में संदेह हो जाए तो आठ अधिक (अतिरिक्त) उच्छ्वास-प्रमाण कायोत्सर्ग करने का विधान है ।[२] उपर्युक्त कालप्रमाण के विभाजन को इस तरह समझा जा सकता है—

विभिन्न अवसरों के कायोत्सर्ग का काल प्रमाण

१. दैवसिक प्रतिक्रमण	१०८	उच्छ्वास	प्रमाण
२. रात्रिक	५४	उच्छ्वास	प्रमाण
३. पाक्षिक	३००	उच्छ्वास	प्रमाण
४. चातुर्मासिक	४००	उच्छ्वास	प्रमाण
५. सांवत्सरिक	५००	उच्छ्वास	प्रमाण
६. प्राणिवधादि रूप अतिचारों में	१०८	उच्छ्वास	प्रमाण
७. भक्त, पान (आहार) से आने पर तथा ग्रामान्तर गमन आदि में	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
८. निर्वाणादि भूमि में जाकर आने के बाद	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
९. अर्हत्-शय्या (निर्वाण आदि कल्याण भूमि–	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
१०. अर्हत् निषद्या	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
११. श्रमण निषद्या	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
१२. उच्चार-प्रस्रवण करने के बाद	२५	उच्छ्वास	प्रमाण
१३. ग्रन्थारम्भ में	२७	उच्छ्वास	प्रमाण
१४. ग्रन्थ समाप्ति में	२७	उच्छ्वास	प्रमाण
१५. स्वाध्याय में	२७	उच्छ्वास	प्रमाण
१६. वन्दना	२७	उच्छ्वास	प्रमाण
१७. प्रणिधान में अशुभ भाव होने पर	२७	उच्छ्वास	प्रमाण
१८. कायोत्सर्ग के उच्छ्वास भूल जाने पर	८	उच्छ्वास	प्रमाण

---

१. मूलाचार ७/१६२-१६३ ।
२. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ११६ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस काल-प्रमाण के विभाजन में यह जानना आवश्यक है कि प्राण-वायु (श्वास) नासिका (नाक) से शरीर के अन्दर जाने और बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम उच्छ्वास (श्वासोच्छ्वास) है ।

इसीलिए **णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं**—इन दो पदों के उच्चारण में एक उच्छ्वास-काल प्रमाण पूर्ण होता है तथा पूरे णमोकार मन्त्र के उच्चारण में तीन उच्छ्वास-काल प्रमाण लगता है ।[१]

कायोत्सर्ग के लाभ

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान का साक्षात्कार करके आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना है । अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति में **कायोत्सर्ग के पाँच फल** बतलाये हैं ।[२]

१. देहजाड्यशुद्धि—दैहिक जड़ता की शुद्धि अर्थात् श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है । कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि दोष नष्ट हो जाते हैं । अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है ।

२. मतिजाड्यशुद्धि—अर्थात् बौद्धिक जड़ता की शुद्धि । कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाने से बौद्धिक जड़ता नष्ट हो जाती है ।

३. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख सहन करने की क्षमता (शक्ति) प्राप्त होती है ।

४. अनुप्रेक्षा—अर्थात् शुद्ध भावना का अभ्यास । इसके माध्यम से अनुप्रेक्षाओं (बारह भावनाओं) के अनुचिन्तन में स्थिरतापूर्वक अभ्यास की निरन्तर वृद्धि होती है ।

५. ध्यान—कायोत्सर्ग से शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है ।

मूलाचार में कहा है कि सभी दुःखों के क्षय के लिए धीर पुरुष कायोत्सर्ग करते हैं ।[३] कायोत्सर्ग करने से जैसे-जैसे शरीर के अंगोपांग (अवयव) की संधियाँ भिंदतीं जाती हैं वैसे-वैसे कर्मरज नष्ट होती जाती है ।[४]

---

१. कुन्द० मूलाचार ९/१८५ पृष्ठ ३३८ ।

२. देह मइ जड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ य सुहं झाणं एयग्गो काउसग्गम्मि ॥
—अर्धमागधी आवश्यक निर्युक्ति ५/१४६२

३. कायोसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए—मूलाचार ७/१७४ ।

४. काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउस्सग्गस्स करणेण ॥ वही ७/१६९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय का उपदेशक होने के कारण इस कायोत्सर्ग से चार घातियाकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म) के अतिचार विनष्ट हो जाते हैं।[१] उत्तराध्ययन में कायोत्सर्ग को 'सर्व दुःख विमोचक' कहा है[२]।

चेष्टा-कायोत्सर्ग और अभिभव-कायोत्सर्ग—ये कायोत्सर्ग के दो भेद भी हैं[३]—

१. चेष्टा कायोत्सर्ग के द्वारा श्रमण शौच, भिक्षा आदि के निमित्त जाने और वापस आने तथा निद्रात्याग आदि प्रवृत्तियों के पश्चात् अनजाने में हुए अतिचारों को दूर कर विशुद्धि को प्राप्त करता है।

२. अभिभव कायोत्सर्ग के द्वारा जहाँ विशेष आत्मविशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है वहाँ श्रमण-जीवन में निरन्तर होने वाले कष्टों, उपसर्गों, आकस्मिक या सहजप्राप्त विघ्न बाधाओं को समताभाव पूर्वक सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

जैन साहित्य विशेषकर प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पुराण और कथा साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब किसी आचार्य या श्रमण को इस प्रकार की प्रतिकूलताओं और उपसर्गों का सामना करना पड़ा, उस समय उन्होंने कायोत्सर्ग धारणकर ध्यान में खड़े हो गये, तब उससे जो तेज प्रकट हुआ, उसके कारण वे बाधायें और उपसर्ग अपने-आप दूर हो गये।

जैन परम्परा में प्रचलित **रक्षाबन्धन कथा** में अकम्पनाचार्य मुनि के उदाहरण से इस कथन की विशेष पुष्टि भी होती है, जबकि हस्तिनापुर में आहार से लौटते हुए अकम्पनाचार्य मुनि पर बलि आदि चार मन्त्रियों ने तलवार से उनके ऊपर हमला करने के लिए घेर लिया। तब वे मुनि कायोत्सर्ग में लीन हो गये और जैसे ही उन मन्त्रियों ने वार करने के लिए तलवारें ऊपर उठायी वैसे ही उन सभी के हाथ कीलित हो गये। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कायोत्सर्ग से अनेक लाभ हैं, जिन्हें इस आवश्यक के अन्तर्गत यहाँ विवेचित विभिन्न विषयों में देखा जा सकता है।

---

१. मूलाचार ७/१५५। २. उत्तराध्ययन २६/४७।
३. आवश्यक निर्युक्ति १४५२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग में निषिद्ध बत्तीस दोष[1]

१. घोटक दोष—कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर उठाकर अथवा झुककर खड़े होना। **२. लतादोष**—वायु से कम्पित लता के सदृश कायोत्सर्ग के समय चंचल रहना या हिलना। **३. स्तम्भ दोष**—स्तम्भ (खम्भे) आदि का आश्रय लेकर या स्तम्भ के सदृश शून्य-हृदय होना। **४. कुड्य-दोष**—दीवार आदि के आश्रित खड़े होकर कायोत्सर्ग करना। **५. मालादोष**—मस्तक के ऊपर माला या रस्सी आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना। **६. शबरवधू (गुह्यगूहन) दोष**—भील की वधू के सदृश जंघाओं से जंघा भाग सटाकर अपने गुह्य प्रदेश को हाथ से ढककर कायोत्सर्ग करना। **७. निगल दोष**—पैरों में बेड़ी बाँधें हुए मनुष्य के सदृश पैरों में अधिक अन्तर रखकर या टेढ़े चरण रखकर खड़े होना।

८. लम्बोत्तर दोष—नाभि से ऊपर का भाग अधिक झुकाना या ऊँचा करना। **९. स्तनदृष्टि दोष**—अपने स्तन की ओर दृष्टि रखना। **१०. वायस दोष**—कौवे की तरह इतस्ततः चंचल नेत्रों से दृष्टि फेंकना। **११. खलीन दोष**—खलीन—लगाम से पीड़ित अश्व की तरह मुख को हिलाना या दाँतों को चबाना। **१२. युग (युगकन्धर) दोष**—जुआ से पीड़ित बैल की तरह कन्धा झुकाना। **१३. कपित्थ दोष**—हाथ में कैंथ फल लिए हुए व्यक्ति की तरह मुट्ठी बाँधना। **१४. शिरःप्रकंपन दोष**—सिर चलाते हुए कायोत्सर्ग करना। **१५. मूक दोष**—मूक मनुष्य की तरह मुख, नासिका आदि से संकेत करना।

१६. अंगुलि दोष—अंगुलि चलाना या उनकी गणना करना। **१७. भ्रूविकार दोष**—भौंहों को ऊपर, नीचे या तिरछी करना। **१८. वारुणीपायी दोष**—मद्यपी की तरह यहाँ-वहाँ झूमते हुए खड़े होना। **१९. दिगवलोकन दोष**—सभी दिशाओं में देखना। **२०. ग्रीवोन्नमन-प्रणमन दोष**—ग्रीवा अधिक नीचे या ऊपर करना। **२१. निष्ठीवन दोष**—कायोत्सर्ग करते समय थूकना, खकारना आदि। **२२. अंगामर्श दोष**—अपने अंगों को स्पर्श करना।

इस प्रकार उपर्युक्त २२ दोष तथा **दस दिशाओं के दस दोष**।

यथा—१. पूर्वदिशावलोकन दोष, २. आग्नेयदिशा०, ३. दक्षिणदिशा०, ४. नैऋत्यदिशा०, ५. पश्चिमदिशा०, ६. वायव्यदिशा०, ७. उत्तरदिशा०, ८. ईशानदिशा०, ९. उर्ध्वदिशा० और १०. अधोदिशावलोकन दोष।

---

१. मूलाचार ७/१७१-१७३, भगवती आराधना वि०टी० ११६, पृ० २७९, अनगार धर्मामृत ८/११२-१२१, चारित्रसार १५६/२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग के ये बत्तीस दोष हैं । इनसे रहित कायोत्सर्ग करने पर ही शुद्ध कायोत्सर्ग आवश्यक सिद्ध होता है ।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त छह आवश्यक श्रमण जीवन के आचार विषयक दैनिक कार्यक्रमों के आवश्यक अंग हैं । सामायिक आदि छह आवश्यकों का यह क्रम सहज है तथा कार्य-कारण भाव की श्रृंखला पर आधारित है । इनके निर्दोष पालन से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । ये ज्ञान और क्रियामय हैं, अतः इनका आचरण मोक्ष सिद्धिदायक है । जो इनका पालन नियम से करता है वह निश्चय ही मुक्ति को प्राप्त होता है, पर जो सभी आवश्यकों का निःशेष पालन न करके यथा-शक्ति पालन करते हैं उसे भी आवासक अर्थात् स्वर्गादिक आवास की प्राप्ति होती है ।[२] वस्तुतः आवश्यक क्रिया आत्मा को प्राप्त भावशुद्धि से गिरने नहीं देती ।

अतः गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने देने के लिए इन षडावश्यकों का आचरण अत्यन्त उपयोगी है । क्योंकि जो आत्मा इनका नित्य सदाचरण करता है, वही विशुद्धता (मोक्ष) प्राप्त करता है ।[१] क्योंकि आत्मिक गुणों को प्रकट करने या आत्मिक विकास के लिए अवश्य करणीय क्रिया को ही "आवश्यक" कहा गया है । आवश्यक आत्मा की भावशुद्धि से गिरने नहीं देता । इसीलिए मन, वचन और काय से सर्वथा शुद्ध योग्य द्रव्य, क्षेत्र और काल में अव्याक्षिप्त (व्याकुलता रहित) और मौन भाव से इनका पालन करना आवश्यक है ।[३]

षड्-आवश्यकों की प्रायोगिक विधि

प्रस्तुत आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक आदि जिन छह आवश्यकों का स्वरूप और उनकी विधि-विधान सूक्ष्मता और सरलता से प्रतिपादित किया गया है । *परवर्ती श्रमणाचार परक अनेक शास्त्रों में भी* मूलाचार के आधार पर ऐसा ही विवेचन है । तेरहवीं सदी के एक महान् विद्वान् अनेक शास्त्रों के प्रणेता **पं. आशाधरजी** ने अपने 'अनगार धर्मामृत' नामक श्रेष्ठ संस्कृत ग्रन्थ में इन

---

१. मूलाचार ७१/८३ ।
२. जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ।–मूलाचार ७/१९३
३. वही ७/१८९ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षड्-आवश्यकों की प्रायोगिक विधि का बहुत ही अच्छा विवेचन किया है । भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार (प्रथम भाग) के अन्त में इसकी अनुवादिका उत्कृष्ट विदुषी पूज्यनीया गणिनि आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने इसे जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उसे उपयोगिता की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. अहोरात्रिक क्रियायें—

अर्धरात्रि के दो घड़ी अनन्तर से अपररात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है । उस समय पहले 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करके, पुनः सूर्योदय के दो घड़ी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'रात्रिक प्रतिक्रमण' करके रात्रियोग समाप्त कर देवे । फिर सूर्योदय के समय से दो घड़ी तक 'देववन्दना' अर्थात् सामायिक करके गुरुवन्दना करे । पुनः 'पौर्वाह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके मध्याह्न के दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'देववन्दना' करे ।

मध्याह्न समय देववन्दना समाप्त कर 'गुरुवन्दना' करके 'आहार हेतु' जावे । यदि उपवास हो तो उस समय जाप्य या आराधना का चिन्तवन करे । गोचरी (आहार) से आकर गोचार प्रतिक्रमण करके व प्रत्याख्यान ग्रहण करके पुनः 'अपराह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ कर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले समाप्त कर 'दैवसिक' प्रतिक्रमण करे ।

पुनः गुरुवन्दना करके रात्रि-योग ग्रहण करे तथा सूर्यास्त के अनन्तर 'देववन्दना' सामायिक करे । रात्रि के दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर 'पूर्वरात्रिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके अर्धरात्रि के दो घड़ी पहले ही स्वाध्याय समाप्त करके शयन करे । यह अहोरात्र सम्बन्धी क्रियाएँ हुईं

२. नैमित्तिक क्रियायें—

इसी तरह नैमित्तिक क्रियाओं में अष्टमी, चतुर्दशी की क्रिया, चतुर्दशी अमावस्या या पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण, श्रुतपंचमी को श्रुतपंचमी क्रिया, वीर निर्वाण समय वीर-निर्वाणक्रिया इत्यादि क्रियाएँ करें ।

किन क्रियाओं में किन भक्तियों का प्रयोग ?

स्वाध्याय के प्रारम्भ में लघुश्रुतभक्ति, लघु आचार्यभक्ति तथा समाप्ति के समय लघु श्रुतभक्ति होती है । देववन्दना में चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति होती है । आचार्यवन्दना में लघु सिद्धभक्ति आचार्यभक्ति । यदि आचार्य सिद्धान्तविद् हैं तो इनके मध्य लघु श्रुतभक्ति होती है । दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर—ऐसी चार भक्ति हैं तथा रात्रियोग ग्रहण तथा मोचन में योगभक्ति होती है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहार-ग्रहण के समय प्रत्याख्यान निष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति तथा आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति होती है । पुनः आचार्य के समीप आकर लघु सिद्ध व योगभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघुआचार्यभक्ति द्वारा आचार्य वन्दना का विधान है ।

३. वर्षायोग (चातुर्मास) के ग्रहण और निष्ठापन (समापन) सम्बन्धी क्रियायें—

नैमित्तिक क्रिया से चतुर्दशी के दिन त्रिकाल-देववन्दना में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुतभक्ति करके पंचगुरु भक्ति की जाती है अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पंचगुरु और शान्ति—ये पाँच भक्तियाँ हैं । अष्टमी को सिद्ध, श्रुत, सालोचना चारित्र व शान्ति भक्ति है । सिद्ध प्रतिमा की वन्दना में सिद्धभक्ति व जिन-प्रतिमा की वन्दना में सिद्ध, चारित्र, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे । पाक्षिक प्रतिक्रमण प्रतिक्रमण शास्त्रों के अनुसार पूर्ण विधिपूर्वक करे । वही प्रतिक्रमण चातुर्मासिक व सांवत्सरिक में भी पढ़ा जाता है ।

श्रुतपंचमी में बृहत् सिद्ध, श्रुतभक्ति से श्रुतस्कन्ध की स्थापना करके, बृहत् वाचना करके श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके पश्चात् श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करके स्वाध्याय समाप्त करे । नन्दीश्वरपर्व क्रिया में सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे तथा अभिषेक वन्दना में सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शान्ति भक्ति पढ़े ।

आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के मध्याह्न में मंगलगोचर मध्याह्न देववन्दना करते समय, सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे । मंगलगोचर के प्रत्याख्यान ग्रहण में बृहत् सिद्ध-भक्ति, योग-भक्ति करके प्रत्याख्यान लेकर बृहत् आचार्य-भक्ति से आचार्यवन्दना कर शान्ति भक्ति पढ़े । यही क्रिया कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी होती है । यह क्रिया वर्षायोग के ग्रहण के प्रारम्भ और अन्त में कही गई है ।

पुनः आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के पूर्वरात्रि में **वर्षायोग (चातुर्मास) प्रतिष्ठापन** *क्रिया में—सिद्धभक्ति, योगभक्ति करके लघु चैत्यभक्ति के द्वारा चारों दिशाओं में* प्रदक्षिणा विधि करके, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति करे । यही क्रिया कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में **वर्षायोग निष्ठापना** (समाप्ति) में होती है । पुनः वर्षायोग निष्ठापना के अनन्तर महावीर निर्वाण वेला (दीपावली) में सिद्ध, निर्वाण, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. पंचकल्याणक सम्बन्धी भक्तियाँ—

जिनवर के पाँच कल्याणकों में क्रमशः **गर्भ** एवं **जन्म कल्याणक** में सिद्ध, चारित्र, शान्ति भक्ति हैं। **तप कल्याणक** में सिद्ध, चारित्र, योग, शान्ति भक्ति तथा **ज्ञानकल्याणक** में सिद्ध, चारित्र, योग, श्रुत और शान्ति-भक्ति है। **निर्वाण-कल्याणक** में शान्ति भक्ति के पूर्व निर्वाणभक्ति और पढ़ना चाहिए। यदि प्रतिमा-योगधारी योगी दीक्षा में छोटे भी हों तो भी उनकी वन्दना करनी चाहिए। उसमें सिद्ध, योग और शान्ति भक्ति करना चाहिए।

केशलोंचके प्रारम्भ में लघुसिद्धभक्ति और योगिभक्ति करें। अनन्तर केशलोंच समाप्ति पर लघुसिद्धभक्ति करनी होती है।

५. समाधिमरण सम्बन्धी भक्तियाँ—

सामान्य मुनि का समाधिमरण होने पर उनके शरीर की क्रिया और निषद्या क्रिया में सिद्ध, योगि, शान्ति-भक्ति करना चाहिए।

आचार्य-समाधि पर सिद्ध, योगि, आचार्य और शान्तिभक्ति करनी चाहिए।

(**विशेष**—इनका और भी विशेष विवरण आचारसार, मूलाचार-प्रदीप, अनगार-धर्मामृत आदि श्रमणाचार विषयक अन्यान्य शास्त्रों से ज्ञात करना चाहिए। क्योंकि यहाँ अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।)

६. कृतिकर्म सम्बन्धी विशेष विधि—

१. कृतिकर्म विधि—पूर्वोक्त भक्तियों को यथास्थान करते समय कृतिकर्म विधि की जाती है। इसमें "अड्ढाइज्जदीव दोसमुद्देसु" आदि पाठ सामायिक दण्डक कहलाता है। 'थोस्सामि' पाठ चतुर्विंशति तीर्थंकरस्तव हैं। मध्य में कायोत्सर्ग होता ही है, तथा 'जयति भगवान् हेमांभोज' इत्यादि चैत्यभक्ति आदि के पाठ वन्दना कहलाते हैं। अतः देववन्दना व गुरुवन्दना में सामायिक, स्तव, वन्दना और कायोत्सर्ग—ये चार आवश्यक सम्मिलित हो जाते हैं तथा कायोत्सर्ग अन्य-अन्य स्थानों में पृथक् से भी किये जाते हैं। प्रतिक्रमण में भी कृतिकर्म में सामायिक दण्डक, कायोत्सर्ग और चतुर्विंशतिस्तव हैं। वीरभक्ति आदि के पाठ वन्दना रूप हैं। अतः इसमें भी ये सब गर्भित हो जाते हैं।

आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान-ग्रहण किया ही जाता है तथा अन्य भी वस्तुओं के त्याग करने में व उपवास आदि करने में प्रत्याख्यान आवश्यक हो जाता है। इस तरह ये छहों आवश्यक प्रतिदिन किए जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. कृतिकर्म के योग्य मुद्रायें—अनगारधर्मामृत (८/८५-८६ में) कृतिकर्म प्रयोग में चार प्रकार की मुद्रायें वर्णित हैं—१. जिनमुद्रा, २. योगमुद्रा, ३. वन्दनामुद्रा और ४. मुक्ताशुक्ति-मुद्रा ।

१. दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर दोनों भुजाओं को लटकाकर कायोत्सर्ग से खड़ा होना **जिनमुद्रा** है । **२.** बैठकर पद्मासन, अर्ध-पर्यंकासन या पर्यंकासन से बायें हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखना **योग-मुद्रा** है । **३.** खड़े होकर मुकुलित कमल के समान अंजुली जोड़ना **वन्दना-मुद्रा** है । **४.** इसी स्थिति में दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर जोड़ना **मुक्ता-शुक्तिमुद्रा** है ।

सामायिक दण्डक और थोस्सामि इनके पाठ में **'मुक्ताशुक्ति' मुद्रा** का प्रयोग होता है । 'जयति' इत्यादि भक्ति बोलते हुए वन्दना करते समय ***'वन्दना मुद्रा'** होती है । खड़े होकर कायोत्सर्ग करने में **'जिनमुद्रा'*** एवं बैठकर कायोत्सर्ग करने में 'योगमुद्रा' होती है ।

देव या गुरु को नमस्कार करते समय मुनि और आर्यिका पंचांग प्रणाम (नमन) गवासन से बैठकर करते हैं ।

३. कृतिकर्म की प्रयोग-विधि—'अथ देव-वन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव-समेतं चैत्यभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(इस प्रतिज्ञा को करके खड़े होकर पंचांग नमस्कार करे । पुनः खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़े ।)

७. सामायिक दण्डक स्तव—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लाए सव्वसाहूणं ।।

चत्तारिमंगलं—अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । **चत्तारि लोगुत्तमा**—अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । **चत्तारि सरणं पव्वज्जामि**—अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु, जाव अरहंताणं भयवंताणं आदियराणं तित्थयराणं जिणाणं जिणोत्तमाणं केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं परिणिव्वुदाणं अंतयडाणं पारयडाणं, धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणाय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाणं, धम्मवर-चाउरंग-चक्कवट्टीणं देवाहिदेवाणं, णाणाणं, दंसणाणं, चरित्ताणं सदा करेमि, किरियम्मं ।

करेमि भन्ते ! सामाइयं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि ण कारेमि कीरंतंपि ण समणुमणामि । तस्स भंत्ते ! अइचारं पच्चक्खामि, णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

(तीन आवर्त, एक शिरोनति करके जिनमुद्रा या योगमुद्रा से सत्ताईस उच्छ्वास में नवबार (णमोकार)-मन्त्र जपकर पुनः पंचांग नमस्कार करे । अनन्तर खड़े होकर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर निम्नलिखित 'थोस्सामि-स्तव' पढ़ना चाहिए ।)

८. थोस्सामि-स्तव—

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ।।१।।
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेवि केवलिणो ।।२।।
उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।३।।
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।४।।
कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ।।५।।
एवं मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ।।६।।
कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्ग-णाण-लाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।।७।।
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।८।।

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वन्दना मुद्रा से हाथ जोड़कर "जयति भगवान् हेमांभोज" इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़े ।)

आवर्त और शिरोनति—इस तरह इस कृतिकर्म में प्रतिज्ञा के अनन्तर तथा कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार पंचांग नमस्कार करने से दो अवनति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रणाम हो जाते हैं । सामायिक-स्तव के आदि-अन्त में तथा **'थोस्सामिस्तव'** के आदि-अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति होती है ।

लघु भक्तियों के पाठ में कृतिकर्म में लघु सामायिकस्तव और थोस्सामि-स्तव भी होता है । यथा—

अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्याय-प्रतिष्ठापन-क्रियायां.....श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(पूर्ववत् पंचांग नमस्कार करके, तीन आवर्त और एक शिरोनति करे । पुनः सामायिक दण्डक पढ़े ।)

९. सामायिकस्तव—

णमो अरहंताणं णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । **चत्तारि लोगुत्तमा**—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहूलोगु-त्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । **चत्तारि सरणं पव्वज्जामि**—अरहंत-सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि ।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि, ताव कालं पावकम्मं दुच्च-रियं वोस्सरामि ।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास में ९ बार णमोकार मन्त्र जपकर पुनः पंचाङ्ग नमस्कार करे । अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामि' पढ़े ।)

पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'श्रुतमपि जिनवरविहितं' इत्यादि लघु श्रुतभक्ति पढ़े । ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए ।

यदि पुनः पुनः खड़े होकर क्रिया करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर भी ये क्रियाएँ की जा सकती हैं । यह षडावश्यक की संक्षिप्त प्रयोग-विधि है, जो परवर्ती आचार-विषयकशास्त्रों में वर्णित है । विशेष विस्तृत विधि इन्हीं आचारशास्त्रों से ज्ञात की जा सकती है ।

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथानुक्रमणिका

गाथा	गाथा संख्या	पृष्ठ संख्या
अ		
अट्ठसदं देवसियं	१५६	१२५
अणागदमदिक्कंतं	१३६	१११
अणाठिदं च भट्टं च	१०२	७९
अणाभोगकिदं कम्मं	११९	९७
अणुभासदि गुरुवयणं	१४०	११४
अट्टं रुद्दं च दुवे	१७४	१३९
अद्धाणगदं णवमं	१३७	११२
अरहंत णमोक्कारं	५	३
अरिहंति णमोक्कारो	४	३
अरिहंतिवंदणणमंस	६१	४९
अरहंतेसु य राओ	६९	५२
अवणयदि तवेण तमं	८७	६४
असणं खुहप्पसमणं	१४३	११७
असणं पाणं तह	१४५	११८
आ		
आइरिय उवज्झायाणं	९०	६५
आइरिय णमोक्कारं	टि०	६
आचक्खिदुं विभाजिदुं	३३	२७
आज्ञाणिद्देस पमाण	१८१	१४३
आणाय जाणणा वि य	१३३	१०८
आदंके उवसग्गे	१४१	११५
आदीए दुक्खिसोधण	३४	२७
आइरियकुलं मुच्चा	टि०	६९
आयरियेसु य राओ	७०	५३
आयासं सपदेसं	४५	३८
आरोग वोहिलाहं	६५	५०
आलोगणं दिसाणं	१६१	१२९
आलोचणमालुंचण	१२०	९८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोचण णिंदण	१२२	९९
आलोचणं दिवसियं	११८	९६
आलोयणाय करणे	९८	७२
आवासय णिज्जुत्ती वोच्छामि	२	२
आवासय णिज्जुत्ती एवं	१८९	१४९
आवासयं तु आवसएसु	१८४	१४६
आवेसणी सरीरे	७	४
आसणे आसणत्थं च	९७	७२
आसाए विप्पमुक्कस्स	१८७	१४८
आलोचिय अवराहं	टिप्पण	९७
इ		
इरियागोयर सुमिणा	१२७	१०२
उ		
उज्जोवो खलु दुविह्रे	५१	४२
उद्देसे णिद्देसे	१६०	१२९
उट्ठिदं उट्ठिद उट्ठिद	१७२	१३८
उप्पण्णो उप्पण्णा	१२१	९८
उवज्झाय-णमोक्कारं	टिप्पण	८
ए		
एगपदमस्सिदस्स वि	१५२	१२३
एमेव कामतंत्ते	८२	६१
एवं गुणो महत्थो	१६९	१३५
एवं गुण जुत्ताणं	१२	८
एवं दिवसियराइय	टिप्पण	१३०
एसो पंच णमोयारो	१३	९
एसो पच्चक्खाओ	१३४	१०९
क		
कदि ओणदि कदि सिरं	७६	५७
काउस्सग्गं मोक्खपहदेयसं	१५१	१२२
काउस्सग्गणिजुत्ती	१८२	१४४
काउस्सग्गो काउस्सग्गी	१४८	१२०
काऊण णमोक्कार	१	१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काऊण य किदियम्मं	११७	९५
काउस्सगं इरिया	१६१	१२९
काओस्सग्गम्हि ठिदो	१६३	१३०
काओस्सग्गम्हि कदे	१६५	१३२
किदियम्मं उवचरिय	१३९	११३
किदियम्मं चिदियम्मं	७५	५६
किदियम्मं पि करंतो	१०७	८५
कोधो माणो माया	४७	४०
कोहादि कलुसिदप्पा	टि०	६८
घ		
घोडय सदा य खंभे	१६७	१३३
च		
चउरंगुलंतर पादो	७२	५४
चउवीसय णिज्जुत्ती	७३	५४
चत्तारि पडिकमणे	९९	७३
चादुम्मासे चउरो	१५७	१२६
ज		
जन्हा विणेदि कम्म	७७	५८
जन्हा पंच विहाचारं	९	६
जस्स रागो य दोसो य	२६	२१
जस्स सण्णा य लेस्सा य	२६	२२
जस्स सण्णिहिदो अप्पा	२४	२०
जं च समो अप्पाणं	२०	१६
जंतेणंतर लद्धं	३१	२५
जं तेहि दु दादव्वं	६७	५१
जं दिट्ठं संठाणं	४६	३८
जावे दु अप्पणो वा	१२६	१०२
जिणवयणमयाणंता	टि०	६९
जिदउवसग्ग परीसह	१९	१६
जिदकोहमाणमाया	६०	४७
जीवाजीवं रूवारूवं	४३	३५
जीवो दु पडिकम्मओ	११४	९२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जेण कोधो य माणो य	२६	२१
जे दव्वपज्जया खलु	८४	६२
जे कोई उवसग्गा	१५४	१२४
जो जाणइ समवायं	२१	१७
जो दु अट्टं च रुद्दं च	२८	२३
जो दु धम्मं च सुक्कं च	२८	२४
जो दुरसे य फासे य	२७	२२
जो पुण तीसदि वरिसो	१७१	१३७
जो रुवगंधसद्दे	२७	२३
जो समो सव्वभूतेसु	२५	२१
जो होदि णिसीदप्पा	१८६	१४७
ठ		
ठविदं ठाविदं चावि	४२	३४
ण		
ण वसो अवसो	१४	१०
णाणी गच्छदि णाणी	८५	६२
णामट्ठवणं दव्वं	४०	३३
णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते	१७	
णामट्ठवणादव्वे काले य	३७	२९
णामट्ठवणादव्वे	१३१	१०५
णामट्ठवणा दव्वे	१११	८८
णामट्ठवणाा दव्वे	१४७	११९
णामाणि जाणि काणि	४१	३४
णिक्कूडं सविसेसं	१७०	१३६
णिज्जत्ती णिज्जुत्ती	१८८	१४९
णिव्वाणसाधए जोगे	११	८
णेरइय देवमाणुस	४८	४०
णो वंदिज्ज अविरदं	९१	६६
त		
तम्हा सव्वपयत्तेण	८८	६४
तह दिवसियरादिय	१६४	१३१
तिरयणसव्व विसुद्धो	१८५	१४७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिव्वो रागो य दोसो य	४९	४१
तिविहो य होदि धम्मो	५६	४५
तेण च पडिच्छिदव्वं	१०९	८७
तेणिदं पडिणिदं चापि	१०४	८१
तेसिं अहिमुहदाए	७१	५३
द		
दव्वुज्जोवो जोवो	५४	४४
दंसणणाणवचरित्ते तवविणय	९३	६९
दंसणणाण चरित्ते तवविणओ	८३	६१
दाहोपसमणतण्हा	५८	४६
दिट्ठमदिट्ठं चावि य	१०५	८३
दीहकालमयं जंतू	६	४
दुविहं च होइ तित्थं	५७	४६
दोणदं तु जधाजादं	१००	७५
ध		
धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि	१७५	१३९
धम्मं सुक्कं च दुवे	१७३	१३९
प		
पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं	१३२	१०७
पच्चखाण उत्तरगुणेसु	१३५	११०
पच्चक्खाणणिजुत्ती	१४६	११८
पंच विहो खलु भणिओ	५३	४३
पंच महव्वय गुत्तो	८९	६५
पडिलिहिय अंजलिकरो	३५	२८
पडिकमओ पडिकमणं	११३	९१
पजिकमिदव्वं दव्वं	११५	९३
पडिकमणं देवसियं	११२	८९
पडिकमणणिजुत्ती	१३०	१०५
परिणामजीवमुत्तं	४४	३५
परियट्टणदो ट्ठिदि	टि०	
परिवार इड्ढि सक्कार	१८०	१४२
पाणिवह मुसावाए	१५८	१२७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरिम चरिमा टु जम्हा	१२९	१०४
पुव्वं चेव य विणओ	७८	५८
पोराणय कम्मरयं	८६	६३
ब		
बलवीरिय मासेज्ज	१६६	१३२
बीबीसं तित्थयरा	३२	
बारसंगे	१०	७
भ		
भत्तीए जिणवराणं	६८	५२
भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंत	१६२	१३०
भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासिय	१५९	१२८
भावुज्जोवो णाणं	५२	४३
भावेण संपजुत्तो	१२४	१०१
भासा असच्चमोसा	६६	५१
भासाणुवत्ति-छंदाणु	८१	६०
म		
मच्छुवत्तं मणोदुट्ठं	१०३	८०
मज्झिगया दिढबुद्धी	१२८	१०३
मिच्छत्त पडिक्कमणं	११६	९५
मिच्छत्तवेदणीयं	६४	५०
मुक्कट्ठी जिदणिद्दो	१५०	१२१
मूगं च ददुरं चावि	१०६	८४
र		
रागदोसे णिरोहित्ता	२२	१९
रागेण व दोसेण व	१४२	११६
ल		
लोगस्सुज्जोवयरा	५५	४५
लोगाणु वित्ति विणओ	७९	५९
लोगुज्जोए धम्मतित्थियरे	३८	३१
लोयदि आलोयदि	३९	३२
लोयालोयपयासं	टि०	४४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व		
वंदणणिज्जुत्ती पुण	११०	८८
वसहीसु य पडिबद्धो	टि०	६८
वारसंगे जिणक्खादं	१०	७
वाखित्तं पराहुत्तं तु	९६	७१
विज्जाधरण महव्वद	१७८	१४१
विणएण तहणुभासा	१३८	११३
वेज्जेण य मंतेण य	टि०	६९
वोसरिद बाहु जुगलो	१४९	१२१
स		
सदा आयार विद्दण्हू	८	५
सपडिक्कमणो धम्मो	१२५	१०१
सम्मत्तणाणसंजम	१८	१५
समणं वंदिज्ज मेधावी	९४	७०
सव्वावास णिजुत्ती	१८३	१४५
सव्वो वि य आहारो	१४४	११७
सामाइये कदे सावयेण	३१	२५
सामाइयम्हि दु कदे	१३०	१०५
सामाइय णिज्जुत्ती वोच्छामि	१६	१२
सामाइय णिज्जुत्ती एसा	३६	२९
सामाइय चउबीसत्थव	१५	११
सावज्जोग परिवज्जणट्ठं	२९	२४
संवच्छर मुक्कस्सं	१५५	१२४
साहूण णमोक्कारं	टि०	८
सिद्धाणण्णमोक्कारं	टि०	५
सीसपकंपिय मुइयहं	१६८	१३५

* * *

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य वट्टकेर प्रशस्ति

आयारस्स सारभूतो मूलायारो हि वाचगो ।
जयदु सिरि-वट्टकेरो बिबुहेहिं य पूजिदो ।।१।।

अर्थ—प्रथम अंग-आगम आचारांग का सारभूत मूलाचार है, उसके वाचक, विद्वानों द्वारा प्रशंसित/पूजित आचार्यश्री वट्टकेर-स्वामी सदा जयवन्त रहें ।

कण्णाडगम्हि य पदेसय-दक्खिणम्हि
वीयम्हि ईससदी जणएदि अस्सिं ।
ताधे गदे सुरवरे णर-णारि-बंधू,
गामो वि सो जणवदो वि विसेस-पुज्जो ।।२।।

अर्थ—कर्नाटक प्रदेश के दक्षिण भाग में ईसा की द्वितीय शती इन आचार्य वट्टकेर के जन्म से प्रशंसित होती है, उस प्रान्त के नर-नारी, बन्धु सभी आनन्दित होते हैं और ग्राम-जनपदवासी खुशियाँ मनाते हैं ।

सो धारवाड-सुद-सुद-धारएदि,
णं अप्प अप्पजण-सोहण-सोहएदि ।
बालो गदो वि सुदधार-धरंतमाणो,
सो दुक्खिणस्स गरिमस्स महिमस्स सोहा ।।३।।

अर्थ—वह धारवाड का सुत/पुत्र श्रुत (आगमशास्त्र) की ओर प्रवृत्त होता है । जैसे अपना आत्मीय-जन/आत्मभाव की सिद्धि के लिए ही प्रयत्नशील होता है । वह बाल्यावस्था से भी श्रुतधारा अर्थात् परम्परा को प्रवाहित करने का प्रयत्न करता है, उससे दक्षिण प्रदेश की गरिमा, महिमा और शोभा परिलक्षित होती है ।

दिक्खं दिअंबर-गुणाण सुमूल-मूलं,
धारेदि सो महरिसी णियभाव-भावे ।
आयारपूदरिसी-आइरियो सुभूसो,
संयोजिदो चरणदंसण-णाण-मग्गे ।।४।।

अर्थ—दिगम्बर दीक्षा को धारण करके वे मूलगुणों में प्रवृत्त हुए । वे मूलसंघ के भी नायक बने । वे महाऋषि थे, इसीलिए उन्होंने अपने भावों को ही भावित किया, उसमें लीन हुए तथा आचार के पवित्र गुणों से आचार्यपद धारण किया और सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र (रत्नत्रय) के मार्ग पर चलते-चलाते रहे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुक्कर-तव-चरणपरो परिसह-जय-दोस वज्जियाहारे ।
चित्तमसंगं सददं, विरदं विसद णाणपसारे रत्तो ।।५।।

अर्थ—दुष्कर तप और आचार के पालन में तत्पर, दोषवर्जित आहार ग्रहण करने वाले, सतत् समस्त परिग्रह रहित, विषयों से विरक्त चित्त वाले आचार्य वट्टकेर ज्ञान के प्रसार में निरन्तर अच्छी तरह संलग्न रहते थे ।

कम्मजोगे जुवा णिच्चं सारल्ले य सदा सिसू ।
णाणजोगे सदा बुड्ढो वट्टकेरो विराजदि ।।६।।

अर्थ—आचार्य वट्टकेर कर्मयोग में युवा सदृश, सरलता (ऋजुता) में सदा शिशु (बालक) के सदृश तथा ज्ञानयोग में वृद्ध के समान—इस तरह इन तीनों लौकिक योगों में वे सुशोभित हो रहे थे ।

गामाणुगाम-विहरन सुचरिदं अखण्ड संजम रयणत्तयस्स ।
पाढेज्जएदि तं आवासय-णिज्जुत्ति रक्खणत्थं णिव्वाणसुहं ।।७।।

अर्थ—अखण्ड संयम तथा रत्नत्रय का सम्यक् परिपालन करने वाले आचार्य वट्टकेर ने एक ग्राम से दूसरे ग्रामों में अनुक्रम से विहार करते हुए निर्वाण-सुख के संरक्षण हेतु आवश्यकनिर्युक्ति नामक आचारशास्त्र का अध्ययन सभी को कराया ।

सच्चं तवं च रयणत्तय धम्मजुत्तं,
आयारसार सुदधार अगाध बोधं ।
खण्डेदि सो हि सिहिलाचार-विणट्ठपावं,
तं वट्टकेरमुणिणाध-पहुं णमामि ।।८।।

अर्थ—तप तथा सत्य से युक्त रत्नत्रय धर्म रूप आचार के सार (मूलाचार) का पालन करने वाले अगाध श्रुतज्ञान की तेजधार से युक्त, पापों का विनाश करके शिथिलाचार को खण्डित (दूर) करने वाले ऐसे आचार्य वट्टकेर को मैं सदा नमन करता हूँ ।

सामण्णजुत्त जिणसासण अप्पझाणी,
सिस्साण णाणचरिदे अणुरत्त सामी ।
मण्णंति जे सयल जीव-सहावभाव्वे,
तं वट्टकेर मुणिणाध-पहुं णमामि ।।९।।

अर्थ—जिन शासन में श्रामण्य गुण से युक्त आत्मध्यानी, शिष्यों को ज्ञानदान में अनुरक्त, समस्त जीवों को समभाव रूप मानने वाले उन आचार्य वट्टकेर को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ ।

प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी
(सम्पादक द्वारा लिखित)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक–प्रो0 फूलचन्द्र जैन प्रेमी

माता एवं पिता : श्रीमती उद्यैती देवी जैन एवं सिंघई नेमिचन्द्र जैन वैसाखिया

जन्मतिथि एवं स्थान: 12–07–1948, पो0आ0 दलपतपुर, सागर (म0प्र0)

शिक्षा : साहित्याचार्य, शास्त्राचार्य (जैनदर्शन), प्राकृताचार्य, एम0ए0 (संस्कृत), पी एच0डी0,सिद्धान्तशास्त्री

पारिवारिक परिचय : धर्मपत्नी श्रीमती डॉ0 मुन्नी जैन एम0ए0 (हिन्दी), आचार्य (प्राकृत, जैनदर्शन, पी–एच0डी0) ब्राह्मी लिपि विशेषज्ञ, पुत्री श्रीमती डॉ0 इन्दु जैन एम0ए0, आचार्य, पी-एच0डी0,आकाशवाणी एवं दूरदर्शन में उद्घोषिका, नई दिल्ली पुत्र 1. डॉ0 अनेकान्त कुमार जैन, स0प्रोफेसर, नई दिल्ली–प्रस्तुत ग्रन्थ के सहसम्पादक 2. डॉ0 अरिहन्त कुमार जैन, एम0ए0, पी-एच0डी0 टेलीविजन प्रोडक्शन एवं धारावाहिकों में अभिनय, मुम्बई

विशेषज्ञता : जैनधर्म-दर्शन प्राच्य भारतीय संस्कृति, प्राकृत-पालि, संस्कृत-साहित्य अनेक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों, सम्मेलनों, कार्यशालाओं में शोध निबंध प्रस्तुत

सम्प्रति कार्यक्षेत्र : प्रोफेसर एवं जैनदर्शन विभागाध्यक्ष, श्रमणविद्या संकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व-अध्यक्ष, अखिल भारतीयवर्षीय दि0 जैन विद्वत् परिषद्,
अधिष्ठाता-श्री स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनी, वाराणसी

सम्पादक : जैनसंदेश भा0दि0जैनसंघ, मथुरा से प्रकाशित (पाक्षिक) पत्र

प्रकाशित निबन्ध : जैनधर्म दर्शन एवं प्राकृत संस्कृत साहित्य विषयक शताधिक शोध एवं सामयिक आलेख

प्रकाशित मौलिक ग्रन्थ : 1. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन(तीन पुरस्कारों से पुरस्कृत शोधप्रबन्ध),2.लाडनूं के जैनमंदिर काकला वैभव, 3. वैदिक व्रात्य और श्रमण संस्कृति,4. जैनधर्म में श्रमणसंघ, 5.जैन साधना पद्धति में तप

सम्पादिक ग्रन्थ : 1. मूलाचार भाषा वचनिका (पुरस्कृत), 2. प्रवचन परीक्षा, 3. तीर्थंकर पार्श्वनाथ, 4. आदिपुराण परिशीलन, 5. आत्मप्रबोध, 6. आत्मानुशासन, 7. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास (द्वादश खण्ड), 8. बीसवीं सदी के जैन मनीषियों का अवदान, 9. आवश्यक निर्युक्ति, 10. मथुरा का जैन सांस्कृतिक पुरा-वैभव, 11. जैन विद्या के विविध आयाम, 12.स्याद्वाद महाविद्यालय शताब्दी स्मारिका ,13. ऋषभ सौरभ, 14.अभिनन्दन ग्रन्थ(अनेक)

पुरस्कार : 1. श्री चांदमल पाण्ड्या पुरस्कार (1981), 2. महावीर पुरस्कार (1988), 3. चम्पालाल स्मृति साहित्य पुरस्कार, 4. विशिष्ट पुरस्कार (उ0प्र0 संस्कृतसंस्थान, लखनऊ), 5. श्रुतसंवर्धन पुरस्कार (1998), 6. गोम्मटेश्वर विद्यापीठ पुरस्कार (2000) 7. आचार्य ज्ञानसागर पुरस्कार (2005), 8. अहिंसा इण्टरनेशनल एवार्ड (2009), 9. डॉ0 पन्नालाल साहित्याचार्य पुरस्कार (2009), 10. अ0भा0 जैन विद्त सम्मेलन श्रवणबेलगोला संयोजक सम्मान (2006)

अवासीय पता : अनेकान्त विद्या भवन बी 23/45 पी–6 शारदा नगर कालोनी खोजवां, वाराणसी– 221010
मोबाईल नं0 09450179254, 09455587715, (0542–2315451)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विश्वप्रसिद्ध तीर्थ श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) के चन्द्रगिरी पर्वत पर
चन्द्रगुप्त बसदि में उत्कीर्ण मयूरपिच्छिधारी दिगम्बर जैन मुनि संघ

इस अंकन में ईसापूर्व चतुर्थ सदी के चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने
जब बारह हजार मुनियों के विशाल संघ सहित दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया
तब मार्ग में कोटकपुर (बंगाल) के सोमशर्मा पुरोहित के बालक भद्रबाहु की
अतिशय प्रतिभा से प्रभावित हो उसे आगमों की शिक्षा व बाद में
श्रमण दीक्षा के उद्देश्य से अपने साथ ले जाते हुये।
यही बालक बाद में पंचम व अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु
के रूप में प्रसिद्ध हुये, इन्होंने इसी क्षेत्र में साधना की और यहीं आपकी
समाधि हुई। भद्रबाहु गुफा में आपके चरण चिन्ह अंकित हैं।
आचार्य भद्रबाहु के शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी यहीं साधना सम्पन्न की।

Sramana
Avasyaka Niryukti

Published by
Jina Foundation
A 93/7 A, Jain Mandir Campus,
Behind Nanda Hospital
Chattarpur Extn., New Delhi-110074

ISBN 819096860-2
9 788190 968607

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org